मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

(षष्ठो भागः)



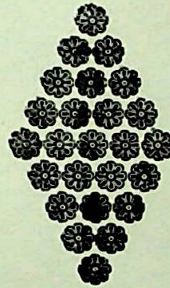
युधिष्ठिरो मीमांसकः

आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[षष्ठो भागः]



व्याख्याकारः—

युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशकः—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्राप्ति-स्थानम्—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्रथम संस्करण—१०००
संवत् २०४७; सन् १९९०
मूल्य—१०·००

मुद्रकः—
रामकिशन सरोहा
प्रिंटिंग प्रेस, जी० टी० रोड, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

भूमिका

मीमांसा-शाबर-भाष्य की 'आर्षमतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या का पांचवां भाग सं० २०४३ के अन्त (मार्च १९८६) में पूरा हुआ था। इस भाग अर्थात् अ० ६ के दो तिहाई भाग की व्याख्या लिखने के अनन्तर दाहिने कन्धे और दाहिने बाजू में पीड़ा आरम्भ हुई और वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। इस कारण एक तिहाई भाग की व्याख्या को पूरा करने में बहुत समय लग गया। इसी काल में दाहिना कन्धा जाम हो गया और बाजू में अत्यधिक पीड़ा होने के कारण ५वें भाग (अ० ६)के अनन्तर मीमांसा-भाष्य व्याख्या का लेखन कार्य स्थगित हो गया।

धर्मपत्नी का वियोग—मैं अनेक क्षेत्रिय व्याधियों से तो चिरकाल से पीड़ित हूं। दाहिने कन्धे के जाम होने और बाजू में पीड़ा के कारण लेखन कार्य बन्द हो ही गया था। किसी प्रकार धर्मपत्नी देवी यशोदा के सान्निध्य से कालयापन कर रहा था, परन्तु दैव को यह भी स्वीकार नहीं था अतः ३-४ मास की अल्प बीमारी के पश्चात् पौष शुक्ला ११, सं० २०४३ (=१० जनवरी १९८७) को सहधर्मिणी देवी का भी निधन हो गया। हाथ से कार्य करने और पैरों से चलने में असमर्थ मैं एकाकी रह गया। लगभग डेढ़ वर्ष मन अशान्त सा रहा।

आत्म-परिचय का लेखन—सन् १९८८ में बोलकर कथंचित् आत्म-परिचय लिखवाया। मीमांसा-भाष्य के ७वें अध्याय के दो पादों की हिन्दी व्याख्या भी लिखाने का प्रयत्न किया, परन्तु सदा स्वयं लेखन के कारण बोलकर लिखाने का अभ्यास न होने से मीमांसा-भाष्य व्याख्या उचित रूप में लिखाई नहीं जा सकी। अतः मीमांसा-भाष्य व्याख्या का कार्य पूर्णतया बन्द करना पड़ा।

महामहोपाध्याय मानद उपाधि—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने २८ जनवरी १९८९ के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर मुझे **महामहोपाध्याय** मानद उपाधि से सम्मानित किया। यतः मैं उस अवसर पर रुग्ण होने के कारण उपस्थित नहीं हो सका अतः ३ जुलाई को श्री प्रो० वि० वेङ्कटाचलम् कुलपति (सं० सं० वि० वि० वाराणसी) ने कतिपय विद्वानों के साथ बहालगढ़ आकर समारोहपूर्वक मुझे उक्त मानद उपाधि प्रदान की।

मीमांसा-भाष्य व्याख्या के लेखन का पुनरारम्भ—मार्च सन् १९९० में कन्धे के पूर्ववत् जाम रहते हुए भी बाजू की पीड़ा में कुछ न्यूनता आई। जहां मेरे लिये एक साधारण पत्र लिखना कठिन था वहां २-३ पृष्ठ लिखना सम्भव प्रतीत

हुआ। अतः पूरे चार वर्ष के अन्तराल के पश्चात् अप्रेल (१९९०) में मीमांसा-भाष्य व्याख्या का लेखन कार्य पुनः आरम्भ किया। गति तो मन्द ही रही, परन्तु कार्य कथंचित् चलता रहा। जून के मध्य में ७वें अध्याय की व्याख्या पूरी हुई। ८वें अध्याय की व्याख्या सितम्बर के अन्त तक पूरी हो जानी थी। ५ दिन का कार्य शेष रहा था कि ज्वर से पीड़ित हो गया। तब से अब तक तीन बार ज्वर हो चुका है। निर्बलता बहुत बढ़ गई है। अतः ५ दिन का अवशिष्ट कार्य अब नवम्बर के अन्त में पूरा हुआ है।

इस षष्ठ भाग में सप्तम अष्टम अध्याय की व्याख्या है। ये दोनों अध्याय छोटे थे। आगे नवम अध्याय की व्याख्या आरम्भ करूंगा। यह अध्याय लगभग ७वें ८वें दो अध्यायों के बराबर है। आशा है स्वास्थ्य यदि ठीक रहा तो ७-८ मास में नवम अध्याय की व्याख्या पूर्ण हो जायेगी।

कागज छपाई और जिल्द बन्धाई का व्यय मंहगाई के कारण अत्यधिक बढ़ गया है। फिर भी रामलाल कपूर ट्रस्ट की मूल्य निर्धारण नीति के अनुसार न्यूनतम मूल्य ही रखा गया है।

मार्गशीर्ष सं० २०४७
नवम्बर सन् १९९०

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के सप्तम-अष्टम अध्यायों की अधिकरण-सूची

सप्तमाध्याये प्रथमः पादः

सप्तमाध्याये द्वितीयः पादः

सप्तमाध्याये तृतीयः पादः

अष्टमाध्याये तृतीयः पादः

अष्टमाध्याये चतुर्थः पादः



लेखक की कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियां

मीमांसा-शाबर-भाष्य–आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। प्रथम भाग के आरम्भ में **शास्त्रावतार, वेदश्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा** तथा **श्रौतयज्ञमीमांसा** नामक तीन निबन्ध। प्रथम भाग ६०-००; द्वितीय ४०-००; तृतीय ५०-००; चौथा ४०-००; पांचवां ५०-००।

मीमांसा-दर्शनम्–शाबरभाष्य-सहितम् । अन्तेऽनेकपरिशिष्टसमन्वितम् । विविधाभि: टिप्पणीभि: समलङ्कृतम्, शास्त्रावतार-वेदश्रुतिआम्नायसंज्ञामीमांसा-श्रौतयज्ञमीमांसासंज्ञकनिबन्धसहितम्। सम्पादक:—युधिष्ठिरो मीमांसक:।

प्रथम भाग ६०-००।

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—इसमें पाणिनि से प्राचीन २३ वैयाकरणों, पाणिनि तथा पाणिनि से उत्तरवर्ती १८ वैयाकरणों, उन पर टीका टिप्पणी लिखने वाले १०० से अधिक व्याख्याताओं का इतिहास लिखा गया है। तत्पश्चात् सभी व्याकरणों के धातुपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, परिभाषा-पाठ आदि के प्रवक्ताओं, व्याख्याताओं, व्याकरण के दार्शनिक, तथा काव्यप्रणेता वैयाकरणों का इतिवृत्त दिया है। नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीन भागों का मूल्य १२५-००।

आत्म-परिचय—(वंश-परिचय एवं पूर्वज परिचय सहित)। इसमें लेखक ने अपने पूर्वज, विशेष करके पिता गौरीलाल आचार्य के वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में किये गये उन कार्यों का उल्लेख किया है जिनके कारण इन्दौर राज्य उन्हें परेशान करता रहा। अन्त में स्व-परिचय दिया है। नया परिवर्धित संस्करण

मूल्य १००-००

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

(हिन्दी-व्याख्या-सहितम्)

सप्तमाध्याये प्रथमः पादः

[प्रयाजादिधर्माणामुपदेशेन प्रकृतिमात्रार्थताधिकरणम् ॥१॥]

पूर्वेणाध्यायषट्केन प्रत्यक्षविहितधर्माणां 'कर्मणां दर्शपूर्णमासादीनामिति-कर्तव्यता चिन्तिता। उत्तरेणेदानीमविहितेतिकर्तव्यताकेष्वैन्द्राग्नादिषु चिन्तयितु-मिष्यते। तत्र यदि दर्शपूर्णमासादीनां प्रकरणे ये विहिता धर्मास्ते सर्वकर्मसु विहिता भवन्ति, ततस्तैरेव 'धर्मैरैन्द्राग्नादयोऽपि धर्मवन्त उक्तास्तथा कर्तव्याश्चेति, नार्थ उत्तरेण षट्केन। अथ ये यस्य प्रकरण उच्यन्ते, ते तत्रैवोक्ता भवन्ति। ततोऽधर्म-काण्यैन्द्राग्नादीनीति तेषु चिन्ता भवति, किमेषां धर्माः सन्त्युत नेति। यदा च सन्ति, तदा के कियन्तो वा कथं चानुष्ठातव्या इति। तदर्थमुत्तरः' षट्कः प्रवर्त-नीयः।

व्याख्या—पूर्व षट्क (=छः अध्यायों के समूह) से प्रत्यक्ष रूप से विहित धर्मोंवाले दर्शपूर्णमास आदि कर्मों की [प्रयाजादि रूप] इतिकर्तव्यता का विचार किया है। अब उत्तर [षट्क] से जिनकी इतिकर्तव्यता नहीं कही गई है ऐसे ऐन्द्राग्नादि [कर्म के विषय] में चिन्तन करना चाहते हैं। यदि तो दर्शपूर्णमासादि के प्रकरण में जो [प्रयाजादि] धर्म विहित हैं वे सब कर्मों में विहित होते हैं तब तो उन्हीं धर्मों से ऐन्द्राग्नादि [याग] भी धर्मवाले कहे गये और [उन्हें] उसी प्रकार करना चाहिये। उत्तर षट्क का कोई प्रयोजन नहीं है। और यदि जो [धर्म] जिसके प्रकरण में कहे गये हैं' वे वहीं (=उन्हीं कर्मों में) उक्त होते हैं, तब ऐन्द्राग्नादि अधर्मक (=धर्म से रहित) हैं, इससे उनमें विचार होता है—क्या इनके धर्म हैं अथवा नहीं हैं। जब हैं, तब कौनसे और कितने हैं और कैसे अनुष्ठान योग्य हैं। उसके लिये उत्तर षट्क का प्रवर्तन होना चाहिये।

---

१. टुप्टीकायामुद्धृते पाठे 'कर्मणां' पदं नास्ति।

२. 'सर्वैर्धर्मै॰' पाठा॰।

३. 'उत्तरषट्कः' पाठा॰।

तत्र सप्तमेन तावत्सन्ति धर्मा इत्युच्यते। अष्टमेन चेमेऽस्येति । इत्थं प्रयोक्तव्या इति नवमेन । दशमैकादशद्वादशैरेतावन्तः प्रयोक्तव्या नातोऽधिका इति ।

विवरण—प्रत्यक्षविहितधर्मणां...... चिन्तिता—भट्टकुमारिल ने टुप्टीका में इस भाष्य वचन तथा उत्तर किये गये विचार को अयुक्त माना है। उनका कहना है—कि सर्वपृष्ठा नाम की [अनेक कर्मवाली विकृति रूप] इष्टि में 'क्या स्विष्टकृत् के लिये उत्तरार्ध से एक बार अवदान करना चाहिये अथवा प्रतिकर्म भेद से अवदान करना चाहिये, यह [अ० ३, पा० ५, अधि० ४, सूत्र १६ में] विचार किया है। तथा—**दृतिनवनीतमाज्यं भवति** इत्यादि प्रत्यक्षविहित धर्मवाले कर्मों में भी [अ० ३, पा० ८, अधि० २०, सूत्र ३६-३८ में] चिन्तन किया है। इसलिये यहां इस प्रकार कहना चाहिये—'प्रकृति और विकृति में उपदिष्ट धर्मों का चिन्तन [पूर्व छः अध्यायों में] कर चुके हैं। **सप्तदश प्राजापत्यान्** इत्यादि में प्रत्यक्ष ही उपदेश है, सर्वपृष्ठादि में आनुमानिक वचन से उपदिष्ट धर्म के विषय में ही विचार किया है।

ऐन्द्राग्नादिषु—ऐन्द्राग्न आदि काम्य कर्मों का विधान तै० सं० काण्ड २, प्रपा० २-३-४-५ में विहित हैं। यथा—**योऽलं प्रजायै सन् प्रजां न विन्दत ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः** (तै० सं० २।२।१।१) इत्यादि।

व्याख्या—ऐसी स्थिति में सप्तम अध्याय से [ऐन्द्राग्नादि के] धर्म हैं, यह कहा जाता है और अष्टम अध्याय से ये धर्म इसके हैं, नवम अध्याय से इस प्रकार से प्रयोग करना, दशम एकादश और द्वादश अध्याय से इतने धर्म प्रयोगार्ह हैं, इससे अधिक नहीं [यह कहा जाता है]।

विवरण—तत्र सप्तमेन—इत्यादि उत्तर षट्क के विषय में भी भट्टकुमारिल ने अन्य प्रकार से लिखा है। यथा—

सप्तम अध्याय से विकृति यागों के अनिदेश (=प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) से धर्म होते हैं, यह प्रतिपादन किया जाता है। अष्टमाध्याय से विशेष धर्मों का प्रतिपादन किया है। नवमाध्याय से विशेष अतिदेश प्रसङ्ग से आरम्भ किया है—क्या मन्त्र अग्नि के स्वरूप के प्रतिपादन के लिये उच्चारण किया जाता है, अथवा अग्नि का स्वरूप अविवक्षित है। इससे 'इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये, यह अतिदेश प्रसङ्ग में ही विचार किया है। दशम अध्याय में [प्रकृति से प्राप्त धर्म का] बाध, [प्रकृति प्राप्त धर्म के साथ विकृत्युक्त धर्म का] अभ्युच्चय (=सहभाव[1]) अनुनिष्पादिनी[2] शेष इयत्ता का विचार किया है। इयत्ता के प्रसङ्ग से एकादश

---

१. इदमिह भवतीति विज्ञाते अपरमपि भवतीति विज्ञानम् [अभ्युच्चयः]। शाबरभाष्य १०।१।१॥ अभ्युच्चयो नाम न किञ्चिद् वस्तुस्वरूपं विद्यते, किन्तु उपहोमैः अनूयाजा न बाध्यन्ते इति बाधाभावमात्रम् अभ्युच्चय उच्यते। टुप्टीका ११।१।१।१। पृष्ठ २०९६ (शाबरभाष्य पूना सं०)।

२. अभ्युच्चय से प्राप्त प्रकृतिप्राप्त इयत्ता के पश्चात् निष्पादनीय शेष इयत्ता।

तत्रेदं विचार्यते, किं यजिप्रयुक्ता एते धर्माः—कथं यजिर्गुणवान्स्यादित्येवमर्थमाम्नायन्ते, आहोस्विदपूर्वप्रयुक्ताः—कथमपूर्वं स्यादिति। यदि यजिप्रयुक्तास्ततः सर्वार्थाः। अथापूर्वप्रयुक्तास्ततो यथाप्रकरणं व्यवतिष्ठन्ते। किं पुनरत्र युक्तम्। अपूर्वप्रयुक्ता इति। अपूर्वं हि फलवत्। अफलो यजिः। फलवति च प्रयासो विधीयमानोऽर्थवान् भवति। तस्मादपूर्वप्रयुक्ता धर्मा इति। अतः परमाचार्यस्य सूत्रोपन्यासः—

[१] श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ॥१॥(उ०)

अध्याय प्रयोग की इयत्ता के विचारार्थ आरम्भ किया है। तन्त्र (=जो एक बार प्रयुक्त बहुतों का उपकार करे) और आवाप (=आवृत्ति से उपकार करे[1]) से इस प्रकार (=ऐसी) इयत्ता के प्राप्त होने पर उसके अपवाद रूप से द्वादश अध्याय आरम्भ किया जाता है।··· अथवा सौर्यादि याग अतिदेश से प्राकृत धर्मों से अधिकृत होते हैं अथवा नहीं, इस प्रसङ्ग से सप्तम अध्याय आरम्भ किया जाता है। उस अतिदेश के बल से विशेषातिदेश ऊह और बाध का आरम्भ होता है [८-९-१० अध्यायों में]। पर्यनुयोग (=प्रश्न) अविशेष=साधारण होने[2] से दशम के अनन्तर तन्त्र और आवाप के प्रसङ्ग प्रस्तुत होते हैं [११-१२-अध्यायों में]।

व्याख्या—उक्त विषय में यह विचारा जाता है—क्या ये धर्म यजि=याग से प्रयुक्त हैं—याग कैसे गुणों से युक्त होवे, इसलिये [उक्त धर्म] आम्नात हैं? अथवा अपूर्व से प्रयुक्त हैं—अपूर्व कैसे उत्पन्न होवे। यदि याग से प्रयुक्त हैं तो [उक्त धर्म] सर्वार्थ (=सब यागों के लिये) होवें और यदि अपूर्व प्रयुक्त होवें तो यथाप्रकरण व्यवस्थित रहते हैं। अर्थात् जो धर्म जिस याग के प्रकरण में कहे गये हैं उनके ही होते है। इनमें युक्त क्या है? अपूर्व से प्रयुक्त है [यही युक्त है]। अपूर्व ही फलवान् है, याग फलरहित है। फलवान् के प्रति विधीयमान प्रयत्न अर्थवान् होता है। इससे धर्म अपूर्व से प्रयुक्त हैं। इसी हेतु से परमाचार्य के सूत्र का उपन्यास है—

[१] श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(शेषाणाम्) प्रयाजादि शेष कर्मों के (श्रुतिप्रमाणत्वात्) श्रुति प्रमाण वाला होने से अर्थात् यह इसका शेष है इसके श्रुति से ही जानने योग्य होने से (मुख्यभेदे) मुख्य=अपूर्व के भेद होने पर शेष प्रयाजादि (यथाधिकारं) अधिकार के अनुसार=जो जिस अपूर्व के प्रसङ्ग में पठित है, वहीं (भावः) उनकी सत्ता (स्यात्) होवे।

---

१. यत्सकृत् कृतं बहूनामुपकरोति तत् तन्त्रमित्युच्यते। यस्त्वावृत्त्या उपकरोति स आवापः। शावरभाष्य ११।१।१॥

२. पर्यनुयोगाविशेषात्—'यह बात यहां क्यों कही, वहां क्यों नहीं कही' रूप प्रश्न के साधारण होने से।

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यादिति। मुख्यान्यपूर्वाणि। तानि हि फलवत्त्वात्प्रधानानि। प्रधाने च मुख्यशब्दः। तेषां भेद उक्तः शब्दान्तरादिभिर्हेतुभिः[1]। तस्मिन्मुख्यभेदे सति यथाधिकारं भावः स्याच्छेषाणाम्। ये यस्यापूर्वस्याधिकारे प्रकरणे शिष्यन्ते, ते तस्यैव भवेयुः। श्रुतिप्रमाणत्वात्। अयमस्यापूर्वस्य शेषोऽयमस्येत्यत्र श्रुतिरेव प्रमाणं क्रमते। न प्रत्यक्षादीनामन्यतमम्। श्रुत्या च ये यस्य प्रकरणे श्रूयन्ते ते तस्यैव भवितुमर्हन्ति। न चान्यस्योक्तोऽर्थोऽन्यस्य भवति। न हि यद्देवदत्तस्य 'ग्रामाच्छादनादिकं, तद्यज्ञदत्तस्य भवति। तस्माद्यथाप्रकरणं व्यवस्था धर्माणाम् ॥१॥

उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ॥२॥ (पू०)

व्याख्या—श्रुति प्रमाण वाला होने से शेषों के, मुख्य के भेद में यथाधिकार सत्ता होवे। अपूर्व मुख्य हैं। वे ही फलवान् होने से प्रधान हैं। मुख्य शब्द प्रधान अर्थ में है। उनका भेद 'शब्दान्तर' आदि हेतु से कह चुके हैं। उस मुख्य के भेद होने पर यथाधिकार शेषों का भाव (=सत्ता) होवे। जो [शेष] जिस अपूर्व (=प्रधान) के प्रकरण में कहे जाते हैं, वे उसी के होवें, श्रुति के प्रमाण होने से। यह इस अपूर्व का शेष है, यह इसका, इस विषय में श्रुति ही प्रमाण होती है। प्रत्यक्षादियों में अन्यतम प्रमाण नहीं होता है। श्रुति से जो जिस [अपूर्व के] प्रकरण में सुने जाते हैं, उसी [अपूर्व] के होने योग्य हैं। अन्य को कहा गया अर्थ(=द्रव्यादि) अन्य का नहीं होता है। देवदत्त का जो ग्राम वा आच्छादन(=वस्त्रादि) वह यज्ञदत्त का नहीं होता है। इस कारण यथाप्रकरण धर्मों की व्यवस्था जाननी चाहिये।

विवरण—भेद उक्तः शब्दान्तरादिभिः—द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् (सूत्र १) से पाद के अन्त तक अनेक हेतुओं से कर्मभेद का निरूपण किया गया है। ग्रामाच्छादनादिकम्—इसका पाठान्तर है—ग्रासाच्छादनमुक्तम्। अर्थात् देवदत्त का जो ग्रास (=भोजन) और आच्छादन (=वस्त्र) कहा गया है।

उत्पत्त्यर्थाविभागाद् वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—[वा] 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् शेष धर्म अपूर्व प्रयुक्त नहीं हैं। (उत्पत्त्यर्थाविभागात्) उत्पत्ति=यजि का अर्थ=अपूर्व उसके विभाग न होने से (ऐकधर्म्यम्) एक=समान धर्म होवें अर्थात् शेष धर्म सबका समान (स्यात्) होवे। (सत्त्ववत्) सत्त्व=द्रव्य के धर्म के समान 'गौ का पैर से स्पर्श नहीं करना चाहिये' यह धर्म

---

१. मी० २।२। अधि० १। सूत्र १—'शब्दान्तरे कर्म भेदः कृतानुबन्धत्वात्' सूत्रादारभ्याऽऽपादान्तं कर्मभेदहेतवो विवृताः।

२. 'ग्रासाच्छादनमुक्तम्' इति पाठान्तरम्।

अथवा—नैतदेवं, यथाप्रकरणं धर्माणां व्यवस्थेति। कथं तर्हि ? ऐकधर्म्यं स्यादिति। समानधर्मता। सर्वे धर्माः सर्वार्थाः। कुतः ? उत्पत्त्यर्थाविभागात्। उत्पत्तिरिति यजिं ब्रूमः, अपूर्वस्योत्पादनात्। अर्थ इत्यपूर्वं ब्रूमः, यजिप्रयोजनत्वात्। तयोरविभागः। सर्वाण्यपूर्वाणि यजिमन्ति। यजिसंयोगेन धर्माः शिष्यन्ते। यजेतेत्युक्त्वोक्ताः। ते यजौ न संभवन्ति। तस्याफलत्वात्। तत्रासंभवन्तस्तत्संबद्धेष्वपूर्वेषु विज्ञायन्ते। स च यजिसम्बन्धः सर्वेषामपूर्वाणां तुल्यः। तस्मात्सर्वार्था भवन्ति। सत्त्वधर्मवत्। यथा सत्त्वधर्माः, **गौर्न पदा स्प्रष्टव्या**[1] इति गोत्वसंबन्धेन श्रूयमाणास्तत्रासंभवन्तस्तत्संबद्धेषु पिण्डेषु विज्ञायन्ते। तस्य च गोत्वसंबन्धस्याविशेषात्सर्वगवीषु शुक्लनीलकपिलकपोतिकासु भवन्ति। एवमिहापि।

उच्यते। विषम उपन्यासः। तत्र गोसामान्यसम्बन्धेन धर्मा विधीयन्ते। **गौर्न पदा स्प्रष्टव्या**[1] इति। इह पुनर्यजिविशेषसम्बन्धेन धर्मा विधीयन्ते—**दर्शपूर्ण-**

गोत्व से सम्बद्ध सब पिण्डों में जाना जाता है (किसी विशेष गाय में नहीं जाना जाता है) के समान शेष धर्म यजिमात्र को होवें।

व्याख्या—अथवा—ऐसा नहीं है, यथाप्रकरण धर्मों की व्यवस्था होवे। तो कैसे है ? एकधर्मता होवे [अर्थात्] समानधर्मता होवे। सब धर्म सबके लिये हैं। किस हेतु से ? उत्पत्ति के अर्थ का विभाग न होने से। 'उत्पत्ति' से यजि' (=याग[2]) को कहते हैं अपूर्व के उत्पादन करने से। 'अर्थ' से अपूर्व को कहते हैं, यजि का प्रयोजन होने से। उनका अविभाग है। सभी अपूर्व यजिमत् (=यजि से युक्त हैं) यजि के सयोग से धर्म कहे जाते हैं। 'यजेत' ऐसा कहकर कहे गये हैं। वे [धर्म] 'यजि' में सम्भव नहीं हैं। उस (=यजि) के फलरहित होने से। इससे वहां (=यजि में) सम्भव न होते हुए उस (=यजि) से सम्बद्ध अपूर्वों में जाने जाते हैं। और वह यजि का सम्बन्ध सब अपूर्वों के साथ समान है। इस हेतु से [धर्म] सबके लिये होते हैं। सत्त्वधर्म के समान। जैसे सत्त्व के धर्म—गौर्न पदा स्प्रष्टव्या (='गौ को पैर से नहीं छूना चाहिये' यह गोत्व के सम्बन्ध से श्रूयमाण वहां (=गोत्व में) असम्भव होते हुए पिण्डों (=गोशरीरों) में जाना जाता है। उस गोत्व सम्बन्ध के समान होने से शुक्ल नील कपिल और कपोतिक (=कबूतर के रङ्ग की) सब गौओं में [उक्त धर्म संबद्ध] होता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

(आक्षेप) यह उपन्यास (=दृष्टान्त) विषम है। वहां (='गौर्न पदा स्प्रष्टव्या' में) गोसामान्य के सम्बन्ध से धर्म विधान किये जाते हैं—गौ को पैर से नहीं छूना चाहिये। यहां

---

१. अनुपलब्धमूलम्। 'स्प्रष्टव्य इति' पूनासंस्करणे पाठः।

२. सर्वत्र 'यजि' का अर्थ याग समझें।

मासाभ्यां यजेत,[1] **ज्योतिष्टोमेन यजेत**[2] इति । विशिष्टयजिसम्बद्ध एवापूर्वे भवितुमर्हन्ति, न सर्वत्रेति । तत्र[3] ब्रूमः । **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** इत्यत्र न शक्यन्ते यागविशेषे धर्मा विधातुम् । किं कारणम् ? यदा यजौ धर्मा विधीयन्ते, तदा यजिरनूद्यते—यजेतेत्थमिति । यदि यजिर्विधीयेत, न धर्मैः सम्बध्येत । न हि द्वयोर्विधीयमानयोः परस्परेण सम्बन्धो भवति । अनुवादश्च सन्नविशेषात् सर्वयागानुवादः । तस्मात् सर्वार्था धर्माः । ननु दर्शपूर्णमासशब्दो विशेषको भविष्यति ? न दर्शपूर्णमासशब्दः शक्नोति यागं विशेष्टुम् । अयं हि विधिर्वा स्यादनुवादो वा । यदाऽनुवादस्तदा धर्मसम्बन्धार्थः । स च धर्मसम्बन्धो यागानुवादेनैव तयोः सिद्धः ।

यजि-विशेष के सम्बन्ध से धर्मों का विधान किया जाता है—दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (=**दर्शपूर्णमासों से यजन करे**), ज्योतिष्टोमेन यजेत (=**ज्योतिष्टोम से यजन करे**) । **यहां विशिष्ट यजि से सम्बद्ध अपूर्व में ही [धर्म]होने योग्य हैं, सर्वत्र नहीं ।** (समाधान) **इस विषय में कहते हैं**—दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत **यहां** (=इस वाक्य में) **याग विशेष में धर्मों का विधान नहीं किया जा सकता है । क्या कारण है ? जब यजि में धर्मों का विधान किया जाता है, तब यजि का अनुवाद होता है—यजन करे इस प्रकार । यदि यजि का विधान किया जाता है, [तो वह] धर्मों के साथ सम्बद्ध नहीं होता है । दो विधीयमान अर्थों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है । और [यजि का] अनुवाद होता हुआ विशेष न होने से सब यागों का अनुवाद है । इस कारण धर्म सबके लिये हैं ।** (आक्षेप) **दर्श-पूर्णमास शब्द [यजि का] विशेषक होगा ।** (समाधान)**दर्शपूर्णमास शब्द याग को विशेषित नहीं कर सकता । यह**(=दर्शपूर्णमासाभ्यां **यजेत में 'यजेत' पद) विधि हो सकता है अथवा अनुवाद हो सकता है । जब अनुवाद होगा तब धर्म सबके लिये होंगे और वह धर्म का सम्बन्ध याग के अनुवाद से ही उन**(=दर्शपूर्णमास **यागों) का सिद्ध है ।**

विवरण—यजिविशेषसम्बन्धेन—'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' में दर्शपूर्णमास से और ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध जो यागविशेष है, उनके सम्बन्ध से धर्मों का विधान किया है । **यजेतेत्थम्**—इन धर्मों के साथ याग करे । **विधिर्वा स्यात्**—'यजेत' को विधि मानने पर धर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं होगा, सम्बन्धविधायक वचन के न होने से । **यदानुवादः**—जब 'यजेत' अनुवाद होगा तब **यागमुद्दिश्य धर्मा विधीयन्ते** (=याग को उद्देश करके धर्मों का विधान किया जाता है) ऐसा स्वीकार करने पर 'यजि' मात्र का अनुवाद होने से धर्म सबके लिये होंगे ।

---

१. द्र०—दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते । ऐ० ब्रा० १।१॥

२. द्र०—वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत १०।२।५॥

३. 'अत्र वदामः'—पाठान्तरम् ।

ननु निवृत्तिकरो भविष्यति। दर्शपूर्णमासावेवेत्थं कुर्यान्नान्यानिति। नैवं शक्यम्। यत्करणं न तस्यान्यनिवृत्तिरर्थः। ननु परिसंख्यया करिष्यति। नात्र परिसंख्या युज्यते। यद्यन्येन वाक्येन यागमात्रे धर्मप्रसङ्गः कृतः स्यात् तत एतत् पुनर्वचनं[1] परिसंख्यां कुर्यात्। अथ पुनरसति प्रसंगेऽनेनैव प्रसङ्गोऽनैव निवृत्तिरिति[2], अतिभार एकस्यैव वाक्यस्य भवति।

एवं तर्हि, नात्र यजेतेति शब्दो धर्मविधिभिः संबध्यते, यजेत इत्थमिति। केन तर्हि? दर्शपूर्णमासशब्देन। प्रत्यक्षो हि तेनास्य संयोगः—**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** इति। परोक्षो धर्मविधिभिः। कस्तदा वाक्यार्थः? दर्शपूर्णमासौ कुर्यादिति।

व्याख्या – (आक्षेप) [दर्शपूर्णमास शब्द] निवृत्ति करने वाला होगा। दर्शपूर्णमास ही ऐसा करे, अन्यों को न करे। (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता है। जो करण [कारक] है, उसका 'अन्य की निवृत्ति' अर्थ नहीं है। (आक्षेप) परिसंख्या [अन्य की निवृत्ति] कर देगी। (समाधान) यहां परिसंख्या युक्त नहीं होती है। यदि अन्य वाक्य से यागमात्र में धर्म का प्रसङ्ग (=प्राप्ति) होवे तो उससे यह पुनः [दर्शपूर्णमास आदि] वचन परिसंख्या करे। और [यागमात्र में] प्रसङ्ग (=प्राप्ति) के न होने से इसी (='दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' वचन) से ही प्रसक्ति और निवृत्ति होवे, यह एक ही वाक्य का अतिभार होता है।

विवरण—यत्करणं इत्यादि—'धनुषा विध्यति' कहने पर वेधन क्रिया में धनुष करण है, साधक है। इतना ही अर्थ बोधित होता है। उसका असिना न विध्यति (=तलवार से वेधन नहीं करता) यह अर्थ नहीं होता है। परिसंख्या करिष्यति—अन्य से सामान्य रूप से प्राप्त को किसी नियत विषय में बांधना (=रोकना) परिसंख्या कहाती है अर्थात् जहां इष्ट है वहां तथा जहां इष्ट नहीं है वहां, उभयत्र प्राप्ति होने पर अनिष्ट के परित्याग का विधान करना परिसंख्याविधि कहाती है। यथा—ब्राह्मणों को दही दो कौण्डिन्य को तक्र (=मट्ठा) दो। यहां कौण्डिन्य के ब्राह्मण होने से पूर्व वाक्य से दही देना प्राप्त है उसकी कौण्डिन्य के तक्रदान से निवृत्ति होती है। परिसंख्या में स्वार्थहानि, परार्थकल्पना और प्राप्तबाधा ये तीन दोष होते हैं (द्र०—मी० १।३।३१ भाष्य तथा विवरण, भाग १, पृष्ठ १८५)।

व्याख्या—(आक्षेप) अच्छा तो यहां 'यजेत' शब्द धर्मविधियों से सम्बद्ध नहीं होता है—इस प्रकार यजन करे। तो किसके साथ सम्बद्ध होता है? दर्शपूर्णमास शब्द के साथ। इस (=यजेत) का प्रत्यक्ष ही उस (=दर्शपूर्णमास) के साथ सम्बन्ध है—दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। धर्मविधि के साथ [सम्बन्ध] परोक्ष है। तो उस अवस्था में क्या वाक्यार्थ होगा?

---

१. 'ततः पुनर्वचनं' पाठान्तरम्।
२. 'निवृत्तिर्विधीयेत। भिद्येत तर्ह्येवं वाक्यम्। भवत्वेवं तर्हि' पाठान्तरम्।

नैवं शक्यम् । एवं सति धर्मा असम्बद्धाः पारिप्लवा भवन्ति । कथं कृत्वा ? येयमाख्यातिकी विभक्तिर्यजेतेति, सा दर्शपूर्णमासयोः कर्तव्यतां विदधाति । तत्र कथं यागमात्रेण यागविशेषेण वा धर्मसम्बन्धः स्यात् ? विधायिका विभक्तिर्नास्तीत्यसम्बद्धा धर्मा भवन्ति । नैष दोषः । न वयं वाक्येन धर्माणां सम्बन्धं करिष्यामः । केन तर्हि ? प्रकरणेन । कथम् ? कर्तव्यतायां चोदितायामितिकर्तव्यताकाङ्क्षा भवति, कथं कुर्यादिति । प्रकरणेन धर्माः सम्बध्यन्ते, इत्थं कुर्यादिति ।

नैवं शक्यम् । यदा हि दर्शपूर्णमासौ कर्तव्यतया चोद्येते, तदेतिकर्तव्यताकाङ्क्षैव नास्ति । प्रज्ञातेतिकर्तव्यतात्वात्तयोः । असत्यां चेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रकरणमेव नास्ति । एवं तद्युक्तम्—**असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थित्वाद्**[1] इति । एवं तर्हि, नैवात्र यागे धर्मा विधीयन्ते । नापि दर्शपूर्णमासयोः कर्तव्यतोच्यते । किं तर्हि ? **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** इति पदद्वयेन विशिष्टं यागमनूद्यात्र धर्मा विधीयन्ते, दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्थमिति । एवमपि दर्शपूर्णमासाभ्यामित्य-

---

दर्शपूर्णमासों को करे । ऐसा नहीं हो सकता है । ऐसा होने पर धर्म असम्बद्ध हुए पारिप्लव (=अस्थिर) होते हैं । यह कैसे ? जो यह 'यजेत' आख्यातिकी विभक्ति है वह दर्शपूर्णमासों की कर्तव्यता का विधान करती है । उस अवस्था में यागमात्र के साथ अथवा याग विशेष के साथ धर्म का सम्बन्ध कैसे होगा ? [धर्म संबन्ध की] विधायिका विभक्ति न होने से धर्म असम्बद्ध होते हैं । यह दोष नहीं है । हम वाक्य के द्वारा धर्मों का सम्बन्ध नहीं करेंगे । तो किससे करोगे ? प्रकरण से । कैसे ? कर्तव्यता की चोदना (= विधि) होने पर इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होती है—कैसे करे । प्रकरण से धर्म सम्बद्ध होते हैं - इस प्रकार करें ।

(समाधान) ऐसा नहीं कर सकते । जब दर्शपूर्णमास कर्तव्यरूप से कहे जाते हैं, तब (=उस समय) इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा ही नहीं है । उनके विज्ञात इतिकर्तव्यता वाले होने से । इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा न होने से (दर्शपूर्णमास का) प्रकरण ही नहीं है । इसी से ऐसा कहा है—असंयुक्त प्रकरणाद् इतिकर्तव्यतार्थित्वात् (=[श्रुति लिङ्ग और वाक्य से] असम्बद्ध इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा वाला होने से प्रकरण से सम्बद्ध होता है) । (आक्षेप) अच्छा तो, न याग में धर्मों का विधान किया जाता है और नाही दर्शपूर्णमास की कर्तव्यता कही जाती है । तो क्या कहा जाता है ? दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत इन दो पदों से विशिष्ट याग का अनुवाद करके धर्मों का विधान किया जाता है—'दर्शपूर्णमासों से यजन करे' इस प्रकार । (समाधान) इस प्रकार भी 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' यह अनुवाद युक्त नहीं

---

१. (अ० ३ । अ० ४ सू० ११) ।

नुवादो न युज्यते। तृतीयार्थस्यासिद्धत्वात्। पूर्ववानमुवादो भवति। अपूर्वश्च तृतीयार्थः। सोऽवश्यं विधातव्यः। तस्मिंश्च विधीयमानेऽन्यदेवासम्बद्धमापद्यते, दर्शपूर्णमासौ यजेः करणमिति। तस्मात्स एव प्रथमः पक्षोऽस्तु;यागानुवादेन धर्माणां विधिरिति।

ननु तत्रापि दर्शपूर्णमासाभ्यामित्येतन्न संबध्यते। ननु संभन्त्स्यते। कालवचनः सन् प्रायिको नित्यानुवादो भविष्यति। प्रायेण यागानां दर्शपूर्णमासकालत्वात्। तृतीया च कालस्यार्थकृतं गुणभावमालोच्योपपद्यते। तथा चेत्सर्वे धर्माः सर्वार्था भवन्ति ॥२॥

चोदनाशेषभावाद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥३॥ (उ०)

कर्मचोदनायाः शेषभूतो धर्मसमाम्नायः, एकदेशभूत इत्यर्थः। दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, अनयाऽन्यन्वाधानादिकयेतिकर्तव्यतयेति। तस्यां चोदनायां यजेर्गुण-

---

होता है। तृतीयार्थ के असिद्ध होने से। अनुवाद पूर्ववान् (=पूर्व कहे हुए) का होता है। और तृतीया का अर्थ अपूर्व है, वह अवश्य विधान करने योग्य है। उसके (=तृतीयार्थ के) विधीयमान होने पर अन्य ही असम्बद्ध [अर्थ] उपपन्न होता है—दर्शपूर्णमास यज् धातु का करण है, यह अर्थ। इसलिये वही प्रथम पक्ष होवे—याग के अनुवाद से धर्मों की विधि है।

(आक्षेप) इस पक्ष में भी 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' यह पद सम्बद्ध नहीं होता। (समाधान) सम्बद्ध हो जायेगा। ['दर्शपूर्णमासाभ्याम्' यह] काल को कहने वाला होकर प्रायिक नित्य अनुवाद हो जायेगा। प्रायः करके यागों के दर्श और पूर्णमास काल वाले होने से। और तृतीया काल के अर्थतः प्राप्त गुण भाव की दृष्टि से उपपन्न होती है, और ऐसा होवे तो [दर्शपौर्णमास प्रकरण में कहे गये] सब धर्म सबके लिये होते हैं।

चोदनादिशेषत्वाद् वा तद्भेदाद् व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (चोदनाशेषभावात्) प्रयाज आदि धर्मों के दर्शपूर्णमास विधि के शेषभूत होने से (तद्भेदात्) भावना के भेद होने से (व्यवतिष्ठेरन्) प्रयाज आदि धर्म दर्शपूर्णमास के ही व्यवस्थित होंगे। (उत्पत्तेः) प्रयाज आदि धर्मों की विधि के (गुणभूतत्वात्) गुणभूत होने से अर्थात् दर्शपूर्णमास के लिये होने से।

व्याख्या—धर्मों का पाठ कर्म (=दर्शपूर्णमास) की विधि के शेषभूत होने से अर्थात् एकदेशभूत होने से दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत (=दर्शपूर्णमास से यजन करे) इस अग्न्यन्वाधान आदि इतिकर्तव्यता के द्वारा। उस (=दर्शपूर्णमास की) विधि में याग का गुण भाव

भावः श्रूयते, दर्शपूर्णमासाभ्यामिति । दर्शपूर्णमासशब्दो हि यजिवचनः । करणभावोऽत्र यजेः श्रूयते—दर्शपूर्णमासाख्येन यागसमुदायेनान्यत्कुर्यादिति । 'यत्ततोऽन्यत्, तत्कर्तव्यतया चोद्यते, न यजिः । अपूर्वं च तत् । ननु फलमत्र वाक्ये श्रूयते, स्वर्गकामो यजेतेति । तत्कर्तव्यं स्यात् । सत्यं श्रूयते, न तु तद्यजिना क्रियते । विनष्टे यजौ तद्भवति । अपूर्वं तु तेन क्रियते । तस्मात्तस्य कर्तव्यतोच्यते । यस्य कर्तव्यता तदितिकर्तव्यतया सम्बध्यते । तस्मादपूर्वार्था धर्माः । तेषां चापूर्वाणां भेद उक्तः । अतस्तद्भेदाद्यथाप्रकरणं व्यवतिष्ठन्ते धर्मा इति ।

अथैतस्मिन् पक्षे कथं दर्शपूर्णमासशब्देन यागो विशेष्यते । उच्यते । नैवात्र यागो विशेष्यते । किं तर्हि ? अपूर्वभावनैवोभयपदविशिष्टोच्यते । यथा—अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति[2] इति । विषम उपन्यासः । तत्र ह्यन्यद्द्रव्यमन्यो

सुना जाता है – दर्शपूर्णमासों से [यजन करे] । दर्शपूर्णमास शब्द निश्चय ही याग का वाचक है । यहां याग का करणत्व सुना जाता है—दर्शपूर्णमास संज्ञा वाले यागसमुदाय से अन्य करे । जो अन्य है, वह कर्तव्यतारूप से कहा गया है, न कि याग । और वह अपूर्व है । (आक्षेप) यहां वाक्य में फल सुना जाता है – स्वर्ग की कामनावाला यजन करे । [अतः] वह (=स्वर्ग) कर्तव्य होवे । (समाधान) सत्य ही [स्वर्ग] सुना जाता है, परन्तु वह याग से नहीं किया जाता । याग के नष्ट हो जाने पर वह (=स्वर्ग) उत्पन्न होता है । उस याग से तो अपूर्व पैदा होता है इससे उस (=अपूर्व) की कर्तव्यता कही है । जिसकी कर्तव्यता कही है वह इतिकर्तव्यतारूप से सम्बद्ध होता है । इसलिये [प्रयाजादि] धर्म अपूर्व के लिये और उन अपूर्वों का भेद कहा जा चुका है । इससे अपूर्व के भेद होने से यथाप्रकरण धर्म व्यवस्थित होंगे (=संबद्ध होंगे) ।

विवरण – अपूर्वाणां भेद उक्तः—अपूर्वों का भेद द्वितीय अध्याय से कहा गया है अर्थात् अपूर्व भेद ही द्वितीय अध्याय का प्रयोजन है ।

व्याख्या—(आक्षेप) इस पक्ष में भी दर्शपूर्णमास शब्द से याग कैसे विशेषित होगा? (समाधान) यहां [दर्शपूर्णमास शब्द से] याग विशेषित नहीं होता है । तो क्या होता है ? अपूर्व की भावना ही दोनों पदों से विशेषित कही जाती है । जैसे अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति में । (आक्षेप) यह दृष्टान्त विषम है । वहां (=अरुणया आदि

---

१. 'यत्तदन्यत्, तत् तत्कर्तव्यतया चोद्यते । तदितिकर्तव्यतया सम्बध्यते न यजिः'—पाठान्तरम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—एकहायन्या क्रीणाति ·····अरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति । तै० सं० ६।६।१।७॥

गुणः । तेन तत्रोभयविशेषणत्वं¹ युज्यते । इह पुनर्याग एव तौ दर्शपूर्णमासौ । तेनेहोभयपदविशेषणत्वं न युज्यते । उच्यते । इहापि यजेतेति सामान्यं, दर्शपूर्णमासाविति विशेषः । अन्यच्च सामान्यमन्यो विशेषः । एवमपि श्रुत्या 'सामान्यस्य भावना, वाक्याद् विशेषस्य'। न चैतद् युगपद्भवतीति । एवं तर्हि, नैवात्र श्रुत्यर्थः परिगृह्यते । किं तर्हि ? वाक्यार्थः । किं कारणम् ? श्रुत्यर्थे परिगृह्यमाणे दर्शपूर्णमासशब्दोऽनर्थको भवति । यजतिश्चानुवादः । यजत्यात्मकत्वाद्दर्शपूर्णमासयोः । यजतिसामानाधिकरण्याच्च दर्शपूर्णमासशब्दस्य ॥३॥

सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत ॥४॥ (उ०)

वाक्य में) तो द्रव्य अन्य है और गुण अन्य है । इससे उभयपद विशेषणत्व युक्त है । यहां तो याग ही वे दर्शपूर्णमास हैं । इससे उभयपद विशेषणत्व युक्त नहीं होता है । (समाधान) यहां भी 'यजेत' यह सामान्य है । 'दर्शपूर्णमासौ' यह विशेष है । सामान्य अन्य है और विशेष अन्य हैं । (आक्षेप) इस प्रकार भी श्रुति से सामान्य (=यजेत) का कथन है और वाक्य से विशेष (=दर्शपूर्णपूर्णमासौ) का । ये दोनों युगपत् [सम्बद्ध] नहीं हो सकते । (समाधान) अच्छा तो यहां श्रुति का अर्थ परिगृहीत नहीं होता । तो क्या [परिगृहीत होता] है ? वाक्यार्थ । क्या कारण है ? श्रुत्यर्थ के परिगृहीत होने पर दर्शपूर्णमास शब्द अनर्थक होता है और यज् धातु अनुवाद होता है । दर्शपूर्णमास के यजति रूप होने से । और दर्शपूर्णमास शब्द का यजति के साथ सामानाधिकरण्य होने से ।

विवरण—अरुणया पिङ्गाक्ष्या ·· —यहां अरुण आदि गुण और गौ दोनों से विशिष्ट क्रयरूप भावना कही जाती है । एवमपि श्रुत्या ·· युगपद् भवति—भट्टकुमारिल ने इस भाष्य का खण्डन किया है । उसे उसकी इसी सूत्र की टुप्टीका में देखें ॥३॥

सत्त्वे लक्षणसंयोगात् सार्वत्रिकं प्रतीयेत ॥४॥

सूत्रार्थः—(सत्त्वे) गौ आदि व्यक्तियों में (लक्षणसंयोगात्) लक्षणा वृत्ति के सम्बन्ध से (सार्वत्रिकम्) सर्व व्यक्तियों में 'पैर से नहीं छूना चाहिये' आदि धर्म (प्रतीयेत) जाना जाये । अर्थात् आकृति के पदार्थ होने से गौ के विषय में कहे गये धर्म उसमें सम्भव नहीं हैं, इसलिये लक्षणा वृत्ति से तत्सहचरित व्यक्ति में ये धर्म जाने जाते हैं ।

विशेष सत्त्व धर्मों के लिये इसी प्रकरण का दूसरा सूत्र और उसका भाष्य देखें ।

---

१. तेन उभयपदविशेषणत्वं' पाठान्तरम् ।

२. 'सामान्येन' पाठान्तरम् । ३. 'विशेषेण' पाठान्तरम् ।

यत्तु सत्त्ववदिति । अत्र गवाकृतौ धर्मः श्रूयते, आकृतेः पदार्थत्वात् । न च तत्र सम्भवति । अतोऽसावाकृतिः सहचारिपिण्डलक्षणार्था विज्ञायते । यथा गङ्गायां घोष इति । तच्च साहचर्यं सर्वपिण्डानामविशिष्टमिति सर्वपिण्डेषु विहितं भवति । तस्मात्तत्सार्वत्रिकं प्रतीयेत । इह तु यजेर्गुणभावेन श्रवणान्नैव यजौ धर्माः श्रूयन्ते । क्व[1] तर्हि ? अपूर्व इति । एवमपदिष्टो हेतुः । तस्मादनुपन्यासः सत्त्ववदिति ।।४।।

अविभागात्तु नैवं स्यात् ।।५।। (पू०)

अथ तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । नैतदेवम्, अपूर्वप्रयुक्ता धर्मा इति । यजिप्रयुक्ता एव । कुतः ? अविभागात् । यजिनाऽविभागो धर्माणाम् । प्रत्यक्षं केचिद् द्रव्ये श्रूयन्ते, केचिद्देवतायां, केचिन्मन्त्रेषु । एष च यजिः—यद् द्रव्यं देवतामुद्दिश्य मन्त्रेण त्यज्यते । स एष प्रत्यक्षो यजिना सम्बन्धो धर्माणाम् । अपूर्वेण त्वानुमानिकः ।

व्याख्या—जो सत्त्ववत् ऐसा कहा (इस विषय में कहते हैं)—यहां गौ रूप आकृति (=जाति) में 'पदा न स्प्रष्टव्या' आदि धर्म सुना जाता है आकृति के पदार्थ होने से । उसमें (=आकृति में) धर्म सम्भव नहीं होता । इसलिये यह आकृति सहचारी पिण्डरूप लक्षणा से जाना जाता है । जैसे– गङ्गायां घोषः (=गङ्गा में गोपालों की बस्ती) । [यहां सामीप्य-रूप लक्षणा से गङ्गातीर अर्थ जाना जाता है ।] और वह साहचर्य सब पिण्डों में सामान्य है इसलिये [उक्त धर्म] सब पिण्डों में विहित होता है । इससे उसे सार्वत्रिक जानें । यहां तो याग के गुणभाव से श्रवण होने से [प्रयाजादि धर्म] याग में नहीं सुने जाते । तो कहां सुने जाते हैं ? अपूर्व में । इस प्रकार [सत्त्ववत् हेतु] ठीक नहीं है । इससे सत्त्ववत् दृष्टान्त का कथन युक्त नहीं है ।४।।

अविभागात् तु नैवं स्यात् ।।५।।

सूत्रार्थः– (तु) तु शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (अविभागात्) याग के साथ धर्मों के विभक्त न होने से । अर्थात् याग के साथ धर्मों का श्रवण होने से । (एवम्) इस प्रकार अर्थात् अपूर्व में धर्म का श्रवण है, यह (न) नहीं (स्यात्) हो सकता ।

व्याख्या—तु शब्द पक्ष की निवृत्ति के लिये है । 'अपूर्व से प्रयुक्त धर्म हैं' यह ऐसा नहीं है । याग से प्रयुक्त ही [धर्म हैं], किस हेतु से ? विभाग न होने से । धर्मों का याग से विभाग नहीं है । प्रत्यक्ष ही कुछ [धर्म] द्रव्य में सुने जाते हैं, कुछ देवता में और कुछ मन्त्रों में । यही याग [का स्वरूप] है, जो 'देवता को उद्देश करके मन्त्र से द्रव्य छोड़ा जाता है ।' यह धर्मों का याग के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अपूर्व के साथ तो आनुमानिक है । फल के प्रति

---

१. 'किं तर्हि' पाठान्तरम् ।

फलेऽपि यजेः प्रत्यक्षश्रुतो गुणभावः—स्वर्गकामो यजेत[1] इति । आनुमानिकोऽपूर्वेण । अनुमानाच्च प्रत्यक्षं बलीयः । तस्माद्यज्यर्था धर्माः ।

ननु यजिर्भङ्गित्वात् कालान्तरे फलं दातुमसमर्थः । तत्र कृता धर्मा अनर्थका[2] एव भवन्तीत्युक्तम् ।

अत्र स्थितस्य न्यायस्याऽऽक्षेपेण प्रत्यवस्थानं क्रियते । तैलपानवदेतद्भविष्यति । यथा तैलपानं घृतपानं वा भङ्गित्वेऽपि सति कालान्तरे 'मेधास्मृतिबलपुष्ट्यादीनि[3] फलानि करोति । एवं यजिरपि करिष्यति, किं नोऽदृष्टाश्रुतेनापूर्वेण कल्पितेनेति ॥५॥

द्व्यर्थत्वं च विप्रतिपिद्धम् ॥६॥ (पू०)

एवं च सति सर्वे धर्माः सर्वार्था भवन्ति । तथा चैन्द्राग्नादिषु प्रयाजादयः सन्ति । तत्र सौर्ये कर्मणि प्रयाजानां दर्शनमुपपद्यते—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति[4]

भी याग का प्रत्यक्षश्रुत गुणभाव है स्वर्गकामो यजेत में । अपूर्व के साथ [याग का] आनुमानिक [सम्बन्ध] है । अनुमान से प्रत्यक्ष बलवान् है, इसलिये याग के लिये ही धर्म है ।

(आक्षेप) याग के नाशवान् होने से वह कालान्तर में फल देने में असमर्थ है । [इस कारण] उसमें (=याग में) किये गये धर्म अनर्थक ही होते हैं, यह कह चुके हैं ।

यहां स्थित (=निर्धारित) न्याय की आक्षेप द्वारा पुनः उपस्थिति की जाती है—तैलपान के समान यह हो जायेगा । जैसे तैल का पीना, घृत का पीना [यहां पान क्रिया के] नाशवान् होने पर भी [वह] कालान्तर में बुद्धि स्मृति बल पुष्टि आदि फल देता है । इसी प्रकार याग भी [कालान्तर में फल] देगा । अदृष्ट अश्रुत कल्पित अपूर्व से हमारा क्या प्रयोजन ? अर्थात् बिना अदृष्ट की कल्पना के भी याग कालान्तर में फल देने में समर्थ है ।

विवरण—अनर्थका एव भवन्तीत्युक्तम्—द्र०—मी० २।१।५ सूत्र का भाष्य । स्थितस्य न्यायस्य—यहां मी० २।१।५ के अपूर्वास्तित्वाधिकरण में विचारित न्याय से तात्पर्य है ॥५॥

द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ॥६॥

सूत्रार्थः—(च) और (द्व्यर्थत्वम्) दो अर्थ के लिये होना (विप्रतिषिद्धम्) विरुद्ध है ।

व्याख्या—और ऐसा होने पर सब धर्म सबके लिये होते हैं । और ऐन्द्राग्नि आदि [विकृति यागों] में प्रयाजादि श्रुत हैं । वहां (=सबका धर्म होने पर) सौर्य (=सूर्य देवता के) कर्म में प्रयाजों का दर्शन उपपन्न होता है - प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति (=प्रति प्रयाज कृष्णल का होम करता है) । अन्यथा (=धर्मों को सबके लिये न मानने पर) [सौर्य-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—दाक्षायणयज्ञेन सुवर्गकामो यजेत । तै० सं० २।५।४।४॥

२. 'असमर्थाः' पाठान्तरम् । ३. 'मेधाघृति०' पाठान्तरम् । ४. तै० सं० २।३।२।३॥

इति। इतरथा प्रयाजाश्च विधातव्याः, प्रयाजेषु च कृष्णलहोमः। तथा च द्व्यर्थं तत्स्यात्। द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम्। तस्माद्यजिप्रयुक्ता धर्मा इति ॥६॥

उत्पत्तौ विध्यभावाद् वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात् ततश्च कर्मभेदः स्यात् ॥७॥ (उ०)

नैतदेवं, यजिप्रयुक्ता धर्मा इति। चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्। चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः। चोदनार्थत्वात् - अपूर्वार्थत्वादपूर्वप्रयुक्ता धर्माः। फलवत्त्वादित्युक्तो हेतुः। यत्तु प्रत्यक्षो यजिसम्बन्धो धर्माणामिति। अत्र ब्रूमः—उत्पत्तौ विध्यभावात्।

याग में] प्रयाजों का विधान करना होगा, और प्रयाजों के विषय में कृष्णल होम का। और ऐसा मानने पर [उक्त वाक्य] दो प्रयोजन वाला होगा। द्व्यर्थता विप्रतिषिद्ध है, इससे धर्म याग से प्रयुक्त हैं।

विवरण—ऐन्द्राग्नादिषु – द्र० पूर्व ७।१।१; पृष्ठ २०३४ विवरण। कृष्णलं जुहोति— गुञ्जा (=रत्ती) के परिमाण का सुवर्णमय गोल द्रव्य (विशेष द्र०—मी० २।२।४ व्याख्या, पृष्ठ ४५४)। द्व्यर्थं तत् स्यात्—दर्शपूर्णमास में विहित प्रयाजादि धर्म सब यागों के नहीं माने जायेंगे तो सौर्य याग में प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति वाक्य के द्वारा प्रयाज का भी विधान करना होगा, और प्रयाज को उद्देश्य करके कृष्णल होम का भी। दो अर्थों के विधान में वाक्य-भेद मानना पड़ेगा। अतः द्व्यर्थता को अनुचित माना गया है ॥६॥

उत्पत्तौ विध्यभावाद् वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्याद् ततश्च कर्मभेदः स्यात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (उत्पत्तौ) याग में धर्मों की (विध्यभावाद्) विधि के न होने से (चोदनायाम्) अपूर्व अर्थ में धर्मों की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (स्यात्) होवे। (ततश्च) और उससे=अपूर्व के भेद होने से (कर्मभेदः) कर्म का भेद (स्यात्) होवे।

विशेष—चोदना शब्द से अपूर्व कहा जाता है। यह पूर्व अ० २, पा० १, सूत्र ५ के भाष्य में कहा और यहां भी यही अर्थ दर्शाया है। अपूर्व के भेद से कर्मों में भेद होता है, यह द्वितीय अध्याय में विस्तार से दर्शाया है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है कि धर्म यागप्रयुक्त है। [धर्मों की] चोदना में प्रवृत्ति होवे। चोदना से अपूर्व को कहते हैं। चोदनार्थ होने से=अपूर्वार्थ होने से धर्म अपूर्व से प्रयुक्त है। [अपूर्व के] फलवान् होने से, यह हेतु कह चुके। और जो कहा—धर्मों का याग के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इस विषय में कहते हैं—उत्पत्ति में विधि का अभाव होने से। उत्पत्ति से

उत्पत्तिरिति यजिं ब्रूमः। उत्पत्तौ यजौ नास्ति विधिः। यज्यर्था धर्मा इति। केवलं यजौ श्रूयन्ते, क्रियन्ते च। नैतावता तदर्था भवन्ति। यथा, वाससि रागः श्रूयते—वासो रञ्जयतीति, वाससि च क्रियते। न चासौ तदर्थः। स्त्र्यर्थः पुरुषार्थो वा भवति। एवमिहापि यजौ श्रूयमाणाः क्रियमाणाश्चापूर्वार्था भवेयुरर्थवत्त्वाय। ततश्च कर्मभेदः स्यात्। यतोऽपूर्वार्था इति।

यश्च यजेः प्रत्यक्षः फले गुणभाव इति, स नाकृत्वाऽपूर्वं भवतीति प्राणालिको विज्ञायते। प्रणाड्याऽपि च येन क्रियते तत्कारणं भवति। यथा, गोमयैः पचति, तुषपक्वा भवन्तीति। यत्तु तैलपानवद् यजितः फलं [1]भविष्यतीति। अत्र ब्रूमः। तैलपानस्यापि न कालान्तरे फलं भवति। धातुसाम्यं तस्य फलम्। तच्च तत्कालमेव। यच्च फलं बलपुष्टयादि, तत्सम्यगाहारपरिणामाद्भवति। तस्माद् विषम उपन्यासः ॥७॥

याग को कहते हैं। उत्पत्ति=याग में [धर्मों की] विधि नहीं है—याग के लिये धर्म है। केवल याग में सुने जाते हैं और किये जाते हैं। इतने मात्र से उसके लिये नहीं होते हैं। जैसे वस्त्र में रङ्ग सुना जाता है—'वस्त्र को रङ्गता है' से वस्त्र में रङ्ग करता है। वह (=रङ्ग) वस्त्र के लिये नहीं। स्त्री के लिये अथवा पुरुष के लिये होता है। इसी प्रकार यहां भी याग में सुने गये और किये गये [धर्म] अपूर्व के लिये होवें अर्थवान् होने के लिये। इसलिये कर्मभेद होवे। क्योंकि [ये धर्म] अपूर्व के लिये हैं।

विवरण—फलवत्त्वादित्युक्तो हेतुः—यह मी० २।१।५ के भाष्य में कहा है। कर्मभेदः स्यात्—प्रति कर्म धर्म होवें।

व्याख्या और जो कहा फल के प्रति याग का प्रत्यक्ष गुणभाव है, वह [फल] अपूर्व को विना उत्पन्न किये नहीं होता है। इसलिये प्राणालिक (=परम्परा से होने वाला) [फल के प्रति याग का गुणभाव] माना जाता है। परम्परा से भी जो किया जाता है वह कारण होता है। जैसे—उपलों से [चावल] पकाता है, तुषों से पके हुए [चावल] होते हैं। और जो तैलपान के समान याग से फल होगा, कहा, इस विषय में कहते हैं—तैलपान का भी कालान्तर में फल नहीं होता। उसका फल धातुसाम्य है और वह [धातुसाम्य] तत्काल ही होता है। और जो बल पुष्टि आदि फल है वह सम्यक् आहार के परिणाम (=पाचन) से होता है। इससे यह दृष्टान्त विषम है।

विवरण गोमयैः पचति—पाक क्रिया प्रत्यक्ष उपलों से नहीं होती है, अपितु उपलों की जो अग्नि है उससे पाक क्रिया होती है। इसी प्रकार तुष पक्व में भी साक्षात् तुषों से ओदन

---

१. 'भवति'—पाठान्तरम्।

यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात्सर्वधर्मः स्यात् ।।८।। (पू०)

यद्यप्यपूर्वं प्रयोजकं धर्माणां, तथाऽपि सर्वधर्मः स्यात्, स स पदार्थः। अभिधानवत्सामान्यात्। अभिधानं तावदेतेषां समानम् अपूर्वमिति । अभिधानवद्धर्मेणाप्यस्य समानेन भवितव्यम्। वाहीकवत् । यथा[1], वाहीकोऽतिथिरागतः, यवान्नमस्मै प्रक्रियतामित्युक्ते यो यो वाहीकस्तस्य तस्य यवान्नं क्रियते । यथा वा, अक्ष्यामये मुद्गौदनो भोक्तव्यः, उदरामये पयः पातव्यमिति । सर्वत्र च हि, अक्ष्यामये मुद्गौदनो भुज्यते, उदरामयेऽपि पयः पीयते । एवमिहाप्येकस्यापूर्वस्य ये धर्माः श्रुतास्ते सर्वापूर्वाणां भवितुमर्हन्ति ।

आदि का पाक नहीं होता, अपितु तुषों की अग्नि से होता है। धातुसाम्यं तस्य फलम् वात पित्त कफ आदि जो धातुएं हैं, उनकी विषमता से रोग होता है। वातजनित रोग की निवृत्ति के लिये तैलादि का पान कहा गया है। उससे कुपित हुआ वात साम्यावस्था को प्राप्त होता है। यह इसका तात्पर्य है। सम्यगाहारपरिणामात्—यहां सम्यक् आहार से पथ्य रूप में लिया गया आहार अभिप्रेत है। उस आहार के सम्यक् परिपाक से बलादि प्राप्त होता है, यह तात्पर्य है ।।७।।

यदि वाऽप्यभिधानवत् सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ।।८।।

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (यद्यपि) यद्यपि प्रयाजादि धर्म अपूर्व प्रयोजक होवें, तथापि (अभिधानवत्) संज्ञा के समान (सामान्यात्) अपूर्व के सामान्य होने से प्रयाजादि (सर्वधर्मः) सब यागों के धर्म (स्यात्) होवें।

व्याख्या—यद्यपि धर्मों का प्रयोजक अपूर्व है, फिर भी वे सबके धर्म होवें [अर्थात्] वह-वह पदार्थ। अभिधान के समान सामान्य होने से। 'अपूर्व' यह अभिधान इन सबका समान है। अभिधान के समान इसके (=अपूर्व के) धर्म को भी समान होना चाहिये, वाहीक के समान। जैसे 'वाहीक अतिथि आया है, इसके लिये यवान्न तैयार करो' ऐसा कहने पर जो-जो वाहीक होगा उस-उस के लिये यवान्न किया जाता है। अथवा जैसे आंख के रोग में मुद्गौदन (=खिचड़ी) खानी चाहिये, उदर रोग में दूध पीना चाहिये [ऐसा कहने पर] सर्वत्र ही आंख के रोग में खिचड़ी खाई जाती है और उदर रोग में दूध पिया जाता है। इसी प्रकार यहां पर भी एक अपूर्व के जो धर्म सुने गये हैं, वे सब अपूर्वों के होने चाहिये।

विवरण—वाहीकोऽतिथिरागतः—यद्यपि वाहीक देश का वाचक है तथापि यहां तद्देशविशिष्ट व्यक्ति कहा जाता है। महाभारत कर्ण पर्व ४४।७ में वाहीक देश का इस प्रकार वर्णन किया है—

---

१. 'तद्यथा'—पाठान्तरम्।

अपि च, अरुणपराशरा नाम शाखिनः। तेषां परिचरेषु स्मृतिरूपं ब्राह्मणं भवति—ये दर्शपूर्णमासयोर्धर्मास्ते सर्वेष्टीनामग्नीषोमीयस्य च, इत्यारभ्य, यावत्-सर्वाः प्रकृतिविकृतयोऽनुक्रान्ता इति । तच्चानुक्रमणमेतमेव न्यायं सूचयति। तस्मादपूर्वप्रयुक्तत्वेऽपि सर्वे धर्माः सर्वार्था इति ॥८॥

अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्य कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ॥९॥

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तरा स्थिताः। वाहीका नाम ते देशाः।

अर्थात्—सिन्ध सहित सतलज, व्यास, रावी, चिनाव और झेलम नदियों के मध्य जो देश हैं वे वाहीक कहाते हैं। दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व का पूरा पञ्जाब।

व्याख्या—और भी अरुणपराशर नाम के शाखा वाले हैं। उनके परिचर (= समुदाय) में स्मृतिरूप ब्राह्मण होता है—ये दर्शपूर्णमासयोर्धर्मास्ते सर्वेष्टीनाम् अग्नी-षोमीयस्य च (=जो दर्शपूर्णमास के धर्म हैं वे सब इष्टियों के और अग्नीषोमीय के हैं) यहां से लेकर यावत् सर्वाः प्रकृतिविकृतयोऽनुक्रान्ताः (= जितनी सभी प्रकृति और विकृतियां कही गयी हैं उन सबका) तक। यह अनुक्रमण (= कथन) इसी न्याय को सूचित करता है। इसलिये [धर्मों के] अपूर्व प्रयुक्त होने पर भी सब धर्म सबके लिये हैं।

विवरण—महाभाष्य तथा चरणव्यूह आदि में जो वेदों की ११३१ शाखायें कही गई हैं वे सब प्रायः भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास और उनके शिष्य प्रशिष्यों के द्वारा प्रोक्त हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास से पूर्व भी अनेक बार शाखाओं का प्रवचन हुआ था। अतः ऐतरेय के समान अरुणपराशर शाखा उनमें सम्मिलित नहीं है। यह प्राचीन शाखा है। भट्टकुमारिल ने तन्त्रवार्तिक १।३।११ में अरुणपराशर शाखा के ब्राह्मण के विषय में लिखा है—अरुणपराशर-शाखा ब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात् (पूना सं० पृष्ठ २३१) अर्थात् अरुणपराशर शाखा का ब्राह्मण कल्परूप है। सम्भव है भट्टकुमारिल के इस मत का आधार शबरस्वामी का 'तेषां परिचरेषु स्मृतिरूपं ब्राह्मणं भवति' वचन हो। महाभाष्य ४।२।६० में पाराशरकल्पिकः प्रयोग मिलता है ॥८॥

अर्थस्य त्वविभक्तत्वात् ...... स्यात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(तु) तु शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (अर्थस्य) वाहीकदेशसम्बद्ध अर्थ के (अविभक्तत्वात्) एक होने से (अभिधानेषु) वाहीक पुरुषों में (तथा स्यात्) वैसा होवे। (प्रयोगस्य) 'वाहीक को यवान्न दो' वचन के (पूर्ववत्त्वात्) पूर्ववान् होने से अर्थात् इसका पूर्व भी अनेक बार प्रयोग होने से सामान्य देशसम्बन्ध जाना जाता है। (कर्मणः) प्रयाजादि

उपवर्णनापरिहारस्तावदुच्यते। यदुक्तं वाहीकवदिति। अत्र ब्रूमः। अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु। अर्थो वाहीकत्वं तद्देशसम्बन्धः, सोऽविभक्तः। सर्ववाहीकेष्वनुगत इत्यर्थः। तन्निमित्तश्च प्रीतिविशेषो न पुरुषनिमित्तः। कथं ज्ञायते? पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्य। पूर्ववानत्र प्रयोगः। बहुशो वाहीकाश्चावाहीकश्च भोजिताः। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञातमेतत्, देशनिमित्तेयं यवान्नप्रियता, न पुरुषनिमित्ता। तस्मात्तथा स्यात्, वाहीकादिष्वभिधानेषु। अथेह कर्मणः शब्द-भाव्यत्वान्नान्यतः शक्यमेतज्ज्ञातुं, के कस्यापूर्वस्य धर्मा इति। शब्देन च व्यवस्थिता[1] विज्ञाता धर्माः। अपूर्वाणां च विभागः, अतः शेषाणामन्यत्र विहिता-नामन्यत्राप्रवृत्तिः स्यात् ॥९॥

स्मृतिरिति चेत् ॥१०॥ (आ०)

अथ यदुक्तं स्मृतिरिति। तस्य कः परिहारः। ॥१०॥

कर्म के (शब्दभाव्यत्वात्) शब्द द्वारा ही गम्यमान होने से (विभागात्) कर्मजन्य अपूर्व के भेद होने से (शेषाणाम्) प्रयाजादि धर्मों की (अप्रवृत्तिः स्यात्) सर्वत्र प्रवृत्ति न होवे।

व्याख्या—पहले समीप में वर्णित का परिहार कहते हैं। जो कहा 'वाहीकवत्' इसमें हम कहते हैं—अर्थ के अविभक्त होने से वाहीक वाच्य पुरुषों में वैसा होवे। वाहीकत्व जो अर्थ है वह देश सम्बन्धवाला है। वह (=देश) अविभक्त है। अर्थात् सब वाहीकों में अनुगत है। और प्रीतिविशेष उसमें निमित्त है पुरुषनिमित्त नहीं। अर्थात् यवान्नप्रियता वाहीक देशनिमित्तक है न कि अभ्यागत अतिथिविशेषनिमित्तक। कैसे जाना जाता है? प्रयोग के पूर्ववान् होने से। यह [वाहीकाय यवान्नम्] प्रयोग पूर्ववान् है, अर्थात् पहले भी बहुधा प्रयुक्त है। बहुत बार वाहीक और अवाहीक पुरुषों को भोजन कराया, उस समय अन्वय व्यतिरेक से यह जाना कि यवान्नप्रियता देशनिमित्तक है, न कि पुरुषनिमित्तक। उससे वैसा होवे। वाहीकादि के कथन में [सामान्यार्थत्व होवे]। और यहां कर्म के शब्दभावी होने से अन्य प्रकार से नहीं जाना जा सकता कि कौन किस अपूर्व के धर्म हैं। शब्द से व्यवस्थित हुए धर्म जाने जाते हैं। और अपूर्वों का विभाग जाना जाता है। इसलिये अन्यत्र विहित [प्रयाजादि] शेष धर्मों की अन्यत्र प्रवृत्ति न होवे ॥९॥

स्मृतिरिति चेत् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(स्मृतिः) स्मृति प्रमाण होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—और जो कहा स्मृति है, उसका क्या परिहार है ॥१०॥

---

१. 'व्यवस्थया विहिता धर्माः'—पाठान्तरम्।

न पूर्ववत्त्वात् ॥११॥ (आ० नि०)

पूर्ववती हीयं स्मृतिः। चोदकं धर्मग्राहकं वक्ष्यति। **विध्यन्तो वा प्रकृतिवद्'** इति। तेन प्रापितानां धर्माणामयमनुवादः। एतन्न्यायपूर्विका, नाप्राप्तानां विधायिका। यत्कारणं व्यवस्था धर्माणामेतेन न्यायेन भवति ॥११॥

अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ॥१२॥

इदं निगमनसूत्रम्। निगमनं च प्रतिज्ञाया हेतोश्च पुनर्वचनम्। तदिद-मुच्यते—

यस्मादेवं, तस्मादर्थस्य अग्न्यन्वाधानादेः, शब्दभाव्यत्वात्, प्रतिप्रकरणं च निबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात्। यथा—**गन्धर्वाप्सरसो वा एतमुन्माद-यन्ति य उन्मादयत्येता वै गन्धर्वाप्सरसो यद् राष्ट्रभृतम्। तस्मै स्वाहा ताभ्यः**

न पूर्ववत्त्वात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(न) यह स्मृति प्रमाण नहीं है (पूर्ववत्त्वात्) पूर्ववती होने से। अर्थात् प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या वचन से प्राप्त हुए धर्मों का स्मृति अनुवाद करती है।

व्याख्या—यह स्मृति पूर्ववती है। धर्म को ग्रहण करानेवाले चोदक वचन को कहेंगे—विध्यन्तो वा प्रकृतिवत् (मी० ७।४।१०)। अर्थात् प्रकृति के समान विकृति में विधि होती है। उससे प्राप्त कराये गये धर्मों का यह अनुवाद है। यह स्मृति न्यायपूर्विका है, अप्राप्तों की विधायिका नहीं है। जिस कारण से धर्मों की व्यवस्था होती है वह इस न्याय से होती है ॥११॥

अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात् ······ स्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(अर्थस्य) अग्न्यन्वाधानादि अर्थ के (शब्दभाव्यत्वात्) शब्दभावी होने से और (प्रकरणनिबन्धनात्) प्रतिप्रकरण [उनका] निबन्धन होने से (शब्दात्) शब्द से (एव) ही (अन्यत्र भावः) अन्यत्र होना (स्यात्) होवे अर्थात् अन्यत्र प्राप्ति होवे।

व्याख्या—यह निगमन सूत्र है। प्रतिज्ञा और हेतु के पुनः कथन को निगमन कहते हैं। वह इस प्रकार कहा जाता है—

जिस कारण ऐसा है, इससे अग्न्यन्वाधानादि अर्थ के शब्दभावी (=शब्द से गम्यमान) होने से और प्रतिप्रकरण निबन्धन होने से शब्द (=अतिदेशवचन) से ही उनका अन्यत्र भाव होवे। जैसे—गन्धर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्मादयत्येता वै गन्धर्वाप्सरसो यद् राष्ट्रभृतम्। तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहेति जुहोति(=गन्धर्व और अप्सरायें निश्चय

---

१. मी० ७।४।१०॥

स्वाहेति जुहोति' इति, अग्निप्रकरण उत्पन्नानां राष्ट्रभृतामुद्वाहे उपदेश एतेषाम् —**राष्ट्रभृतो जुहोत्यभ्यातानां जुहोति**' इति । असत्येतस्मिन्वचने यथाधिकारं व्यवतिष्ठेरन् धर्मा इति । एवं च सति अधर्मकाण्यैन्द्राग्नादीनि । तदर्थमुत्तरोऽध्यायषट्कः प्रारब्धव्य इति ।

तत्र सप्तमेन तावदैन्द्राग्नादीनां कर्मणां धर्माः सन्तीत्युच्यते । ते चातिदेशेनेति । अतिदेशो नाम ये परत्र विहिता धर्मास्तमतीत्यान्यत्र तेषां देशः । यथा—देवदत्तस्य भोजनविधिं कृत्वा शालिसूपमांसापूपैर्देवदत्तो भोजयितव्य इति । तमेव विधिं यज्ञदत्तेऽतिदिशति—देवदत्तवद्यज्ञदत्तो भोजयितव्य इति । श्लोकमप्युदाहरन्ति—

प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु ।
धर्मप्रदेशो येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्थितिः ॥ इति ॥

स च नाम्ना वचनेन वा । तत्र नाम त्रिविधमातिदेशकं, कर्मनाम, संस्कार-

---

ही उसको उन्मादित करती हैं, जो उन्मत्त होता है। ये ही गन्धर्व अप्सराएं हैं जो राष्ट्रभृत् हैं— तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहा से जो होम करता है) । अग्नि के प्रकरण में उत्पन्न राष्ट्रभृत् यज्ञों का विवाह में उपदेश है इनका—राष्ट्रभृतो जुहोति अभ्यातानां जुहोति वचन से । इस वचन के न होने पर धर्म यथाधिकार व्यवस्थित होवें। इस प्रकार होने पर ऐन्द्राग्नादि धर्मरहित हैं इसके लिये (=ऐन्द्राग्नों की धर्मवत्ता बतलाने के लिये) अगले ६ अध्याय प्रारम्भ करने चाहिये ।

उनमें पहले सातवें से ऐन्द्राग्नादि कर्मों के धर्म हैं, यह कहा जाता है। और वे धर्म अतिदेश से [प्राप्त होते हैं] । अतिदेश उसे कहते हैं जो अन्यत्र विहित धर्म हैं उसका (=कहे हुए स्थान का) अतिक्रमण करके अन्यत्र उनका निर्देश करना। जैसे देवदत्त के भोजन का विधान करके ओदन, दाल, मांस, अपूपों से देवदत्त को भोजन कराना चाहिये। उसी विधि को यज्ञदत्त में अतिदेश करते हैं—'देवदत्त के समान यज्ञदत्त को भोजन कराना चाहिये ।' [इस विषय में] श्लोक उद्धृत करते हैं—जिस प्रकृत कर्म से उसके समान कर्मों में धर्म का जिससे कथन होवे, वह अतिदेश की स्थिति है। और वह (=अतिदेश) नाम अथवा वचन से होता है। उसमें नाम तीन प्रकार से अतिदेश करने वाला होता है—कर्मनाम संस्कारनाम और

---

१. तै० संहितायां (३।४।८।४), 'उन्माद्यत्येते खलु वै' इति भेदेन पाठः । यद्वा भाष्ये पाठभ्रंशः संजातः स्यात् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र० —राष्ट्रभृत इच्छञ्जयाभ्यातानांश्च जानन् । पार० गृह्य १।५।७।।

नाम, यौगिकमिति। वचनं पुनर्द्विविधं, प्रत्यक्षश्रुतमानुमानिकं च। तयोरानुमानिकमुपरिष्टाद्वक्ष्यते। प्रत्यक्षश्रुतं त्विदानीमेव चिन्त्यते ॥१२॥



[इषौ श्येनीयवैशेषिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥२॥]

अस्तीषुर्नामैकाहः[1]। अपरः श्येनः।[2] तौ द्वावप्याभिचारिकौ तत्रेषौ कांश्चिद्धर्मान् 'विधायाऽऽह[3], समानमितरच्छ्येनेन'[4] इति। एतच्चिन्त्यते—किमयमनुवादो विधिर्वेति? यदि विधिस्ततोऽतिदेशः। श्येनधर्मानिषावतिदिशति। अथानुवादस्ततो नेति। तत्र किं प्राप्तम्?

तत्सूत्रेणैवोपक्रम्यते—

समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् ॥१३॥ (पू०)

यौगिक वचन दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्षश्रुत और आनुमानिक। इन दोनों में से आनुमानिक वचन आगे कहेंगे। प्रत्यक्षश्रुत वचन इसी समय (=यहां) विचारा जाता है ॥१२॥

विवरण—यौगिकमिति—इस पर भट्टकुमारिल ने लिखा है—यौगिक नामधेय अतिदेशक नहीं होता है। जिस योग (=प्रकृति प्रत्यय के योग) से द्वादशाह में प्रायकीय शब्द प्रयुक्त होता है उसी योग से गवामयन में भी प्रयुक्त होता है। इसीलिये कुतूहलवृत्तिकार ने इसका निर्देश नहीं किया है।



व्याख्या—'इषु' नाम का एकाह है। दूसरा 'श्येन' है। ये दोनों आभिचारिक [याग] हैं। वहां इषु में किन्हीं धर्मों का विधान करके कहा है—समानमितरच्छ्येनेन (=शेष श्येन के समान जानना चाहिये)। इसमें विचार करते हैं—क्या यह अनुवाद है, अथवा विधि? यदि विधि है तो अतिदेश होगा। श्येन के धर्मों का इषु में अतिदेश किया है और यदि अनुवाद है तो [अतिदेश] नहीं किया। इस विषय में क्या प्राप्त होता है? यह सूत्र से ही आरम्भ करते हैं—

समाने पूर्ववत्त्वाद् उत्पन्नाधिकारः स्यात् ॥१३॥

---

१. द्र०—षड्विंश ब्रा० ३।२।। भाष्यानुसारम् ४।३॥

२. द्र०—षड्विंश ब्रा० ३।८॥ भाष्यानुसारम्—४।२॥

३. 'त्रिवृदग्निष्टोमस्तस्येषुं विष्टुतिं कृत्वा' आदि। षड्विंश ब्रा० ३।९॥

४. षड्विंश ब्रा० ३।९॥ भाष्यानुसारम्—४।३॥

समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् । **समानमितरच्छ्येनेन** इति । अत्रोत्पन्नाधिकारः स्यात् । अनुवाद इत्यर्थः। कुतः? पूर्ववत्त्वात् । अयमिषुः पूर्ववान्, ज्योतिष्टोमपूर्वकः । ज्यौतिष्टोमिकोऽत्र विध्यन्त इत्यर्थः । अत्र चोदकेनोत्पन्ना ज्यौतिष्टोमिका धर्माः सन्ति । श्येनोऽपि ज्योतिष्टोमपूर्वकः । तत्रापि ते सन्ति । य इषौ श्येने च समाना भवन्ति, तानधिकृत्यायं वादो युज्यते । तस्मादुत्पन्नाधिकारत्वादनुवादः ।

किंच—इतरदिति चाभावे नोपपद्यते । इतरशब्दश्चासंनिहितेऽनुपपन्नः संनिहित एव भवति । यथा—इतरः प्रावारो दीयताम्, इतरः कम्बलो दीयतामिति संनिहितो दीयते, न प्रावारमात्रं कम्बलमात्रं वा । ज्यौतिष्टोमिकाश्च संनिहिताः । तस्मात् तेषामनुवादः[1] । विहिता हि ते चोदकेनेति ॥१३॥

श्येनस्येति चेत् ॥१४॥ (आ०)

सूत्रार्थः—(समाने) **समानमितरच्छ्येनेन** इस वाक्य के (पूर्ववत्त्वाद्) पूर्ववान् होने से अर्थात् ज्योतिष्टोम का विकार होने से (उत्पन्नधिकारः) ज्योतिष्टोम मे उत्पन्न धर्मों का अधिकार (स्यात्) होवे, अर्थात् अनुवाद होवे ।

व्याख्या—समान में पूर्ववान् होने से उत्पन्न का अधिकार होवे । समानमितरच्छ्येनेन—इसमें उत्पन्न का अधिकार होवे, अर्थात् अनुवाद होवे । किस हेतु से ? पूर्ववान् होने से । यह इषु पूर्ववान् है । ज्योतिष्टोमपूर्वक है । अर्थात् यहां पर ज्योतिष्टोमवाला विध्यन्त है । यहां चोदक वचन से उत्पन्न (=प्राप्त कराये) ज्योतिष्टोम सम्बन्धी धर्म हैं । श्येन भी ज्योतिष्टोमपूर्वक है । यहां भी वे (=ज्यौतिष्टोमिक धर्म) हैं, जो इषु में और श्येन में समान होते हैं, उनको अधिकृत करके यह कथन युक्त होता है । इससे उत्पन्न अधिकारवाला होने से अनुवाद है ।

और भी—'इतरत्' यह अभाव में उपपन्न नहीं होता है । इतर शब्द असन्निहित में अनुपपन्न है, सन्निहित में ही उपपन्न होता है । जैसे -अन्य प्रावार (=चादर) दो, अन्य कम्बल दो । जो समीप में होता है, वह दिया जाता है । प्रावारमात्र अथवा कम्बलमात्र नहीं दिया जाता है । ज्योतिष्टोम के धर्म सन्निहित हैं, इसलिये उनका यह अनुवाद है । वे (=ज्योतिष्टोम के धर्म) चोदक वचन से विहित हैं ॥१३॥

श्येनस्येति चेत् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(श्येनस्य) श्येन के धर्मों की विधि होवे,(इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

---

१. 'तस्मात्तेषां वादः । तेषां चेदनुवादः । विहिता हि' पाठान्तरम् ।

इति चेत् पश्यसि, ज्यौतिष्टोमिकानामनुवाद इति। नैवम्। श्येनस्य वैशेषिकाणां लोहितोष्णीषादीनां धर्माणां विधिः। कुतः? श्येनग्रहणसामर्थ्यात्। एवं श्येनग्रहणमर्थवद् भविष्यति, धर्मान् विशेषयत्। इतरथाऽनर्थकं स्यात्। सर्वेषां ह्येकाहाहीनसत्राणां ते समानाः। तत्र यावदुक्तं स्यात्, समानमितरदिति, तावदेव समानमितरच्छ्येनेनेति ॥१४॥

नासन्निधानात् ॥१५॥ (आ० नि०)

नायं श्येनवैशेषिकाणां वादो युज्यते। कस्मात्? असंनिधानात्। अयमितरशब्दः संनिहिते भवति। न च श्येनवैशेषिका[1] इषौ धर्माः संनिहिताः। यत्तु श्येनशब्दो वैशेषिको भवतीति। विधिपक्षेऽवैशेषिकत्वं[2] दोषः स्यात्। अनुवादपक्षे तु नैव कश्चिद् विधीयते, किं विशेषयिष्यति? ज्यौतिष्टोमिकास्तु सर्वसाधारणाः

व्याख्या—यदि यह देखते हो कि ज्योतिष्टोम के धर्मों का अनुवाद है, तो ऐसा नहीं। श्येन के विशेषरूप से विहित लोहितोष्णीष (=लाल पगड़ी) आदि धर्मों की विधि है। किस हेतु से? श्येन ग्रहण के सामर्थ्य से। इस प्रकार धर्मों को विशेषित करता हुआ श्येन ग्रहण अर्थवान् होगा, अन्यथा अनर्थक होवे। [क्योंकि] वे (=ज्योतिष्टोम के धर्म) सब एकाह, अहीन और सत्रों के समान हैं। इससे जितना 'समानमितरत्' कहा जावे, उतना ही 'समानमितरच्छ्येनेन' [से कहा जावे] ॥१४॥

विवरण—लोहितोष्णीषादीनां धर्माणाम्—श्येन के विशेष धर्म षड्विंश ब्रा० ३।८ में कहे गये हैं—शरमयं बर्हिः, वैभीतक इध्मः, लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति। बर्हि कुश के स्थान पर शर=डाभ होता है, इध्म विभीतक=बहेड़े की और ऋत्विक् लाल पगड़ी लाल वस्त्र धारण किये निवीत होकर कर्म करते हैं।

नासन्निधानात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(न) श्येन के वैशेषिक धर्मों का कथन युक्त नहीं है। (असन्निधानात्) सन्निधान में न होने से।

व्याख्या—श्येन के वैशेषिक धर्मों का कथन युक्त नहीं है। किस हेतु से? असन्निधान से। यह इतर शब्द सन्निहित में होता है। और श्येन के विशेष धर्म इषु में सन्निहित नहीं हैं। और जो कहा 'श्येन शब्द विशेषक होता है' विधिपक्ष में विशेष को न कहना दोष होवे। अनुवाद पक्ष में तो किसी का विधान नहीं किया जाता। किसको [श्येन शब्द] विशेषित करेगा। ज्योतिष्टोम सम्बन्धी धर्म सर्वसाधारण होते हुए श्येन के भी होते हैं इससे अनुवाद-

---

१. 'श्येनशब्देन वैशेषिका' इति काशीमुद्रिते पाठः। पूनासस्करणे तु (शब्देन) इत्येवं कोष्ठे मुद्रितः। २. 'अविशेषकत्वम्' पाठान्तरम्।

सन्तः श्येनस्यापि भवन्तीत्यनुवादो युज्यते । तस्माज्ज्यौतिष्टोमिकानामेवानुवादः ॥१५॥

अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचकं समानं स्यात् ॥१६॥ (उ०)

अपि वेति पक्षान्तरपरिग्रहे। विधिरयं श्येनवैशेषिकाणां, न ज्यौतिष्टोमिकानामनुवादः। कुतः? अपूर्वत्वात्। एवमपूर्वमर्थं विधास्यति। तथा प्रवृत्तिविशेषकरो भविष्यति। अनुवादः सन्नप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः स्यात् । नन्वितरशब्दोऽयं संनिहिते भवति। उच्यते। इतरदधिकार्थे, समानमितरत्, समानमधिकमित्यर्थः।

ननु संनिहितवचनोऽयं नाधिका[1]र्थवचन इति। उच्यते। न केवलमयं संनि-

---

युक्त होता है। इसलिये ज्योतिष्टोमसम्बन्धी धर्मों का ही अनुवाद है ॥१५॥

विवरण—न च श्येनवैशेषिका इषौ धर्माः सन्निहिताः—श्येन याग का विधान षड्विंश ब्राह्मण के तृतीय प्रपाठक के अष्टम खण्ड में हैं (मूल पाठ के अनुसार)। और इषु का नवम खण्ड में विधान किया है। अतिदेश से ज्योतिष्टोम के धर्म सन्निहित हैं।

अपि वा · समानं स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) ये पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (यदि) यदि (अपूर्वत्वात्) 'समानमितरच्छ्येनेन' वाक्य अपूर्व अर्थ का विधायक होने से (इतरत्) इतर पद (ज्यौतिष्टोमिकात्) ज्योतिष्टोमसम्बन्धी (विधेः) विधि से (अधिकार्थे) अधिकार्थ में=ज्योतिष्टोम धर्मों से भिन्न धर्मों में प्रयुक्त है। इससे (तद्वाचकम्) ज्योतिष्टोम से भिन्न धर्मों का वाचक (समानम्) समान शब्द का निर्देश (स्यात्) होवे। अर्थात् 'समानमितरत्' ज्योतिष्टोम धर्म से श्येन के जो अधिक धर्म हैं, उनका वाचक होवे।

व्याख्या—'अपि वा' शब्द पक्षान्तर के स्वीकार के लिये है। यह (=समानमितरच्छ्येनेन) वाक्य श्येन के विशेष धर्मों का विधायक है, ज्योतिष्टोम के धर्मों का अनुवादक नहीं है। किस हेतु से? अपूर्व होने से। इस प्रकार अपूर्व अर्थ का विधान करेगा। वैसा (=अपूर्व अर्थ का विधायक होने से) विशेष प्रवृत्ति करने वाला होगा। अनुवाद होता हुआ विशेष प्रवृत्ति का करने वाला न होकर अनर्थक होवे। (आक्षेप) यह इतर शब्द सन्निहित का वाचक होता है। (समाधान) इतर शब्द अधिक अर्थ में है। समानमितरत् समान अधिक यह अर्थ हैं।

(आक्षेप) यह (=इतर शब्द) सन्निहित का वाचक है, अधिक अर्थ का वाचक

---

१. 'अधिकार्थ' इति पाठान्तरम्।

हितवचन एव। पूर्वोक्तसदृशमसंनिहितमपि ब्रूते। अवशिष्टं[1] च। यदा हि वस्त्राण्यनुक्रम्येतरशब्दः प्रयुज्यते—देवदत्ताय कम्बलो दीयतां, विष्णुमित्राय कौशेयं, यज्ञदत्ताय क्षौमम्, इतरच्चैत्रायेति, तदा वस्त्रमेव प्रदीयते, न हिरण्यं रजतं वा। इह ज्यौतिष्टोमिकेभ्योऽधिकान् लोहितोष्णादीन् धर्माननुक्रम्येतरशब्दः प्रयुक्तः। तेनाऽऽप्यधिकानेव वक्तुमर्हति। तथाऽधिकवचनो भवति।

अथ ज्यौतिष्टोमिकान् ब्रूते तथा संनिहितवचनः। तत्रा'वश्यमन्यतरद्धेयम्[2]। यद्यधिकार्थतां हित्वा संनिहितार्थताऽऽश्रीयते, अनुवादमात्रमनर्थकं भवति। श्येनशब्दश्चाविवक्षितार्थः। अथ संनिहितार्थतां हित्वाऽधिकार्थता गृह्यते, न कश्चिद् दोषो भवति। तस्मात् सूत्रकार आह—**इतरदधिकार्थे** इति। अतो ज्यौतिष्टोमिकाद् विधेरधिकाः श्येनवैशेषिका ये, त इहातिदिश्यन्ते। तद्वाचकं समानं स्यात्। समानशब्दः स्यादित्यर्थः। भवति श्येनशब्दश्च विवक्षितः ॥१६॥



नहीं है। (समाधान) यह केवल सन्निहित का वाचक नहीं है, पूर्व कहे गये सदृश अर्थ, जो असन्निहित है उसको भी कहता है और शेष को भी। जब वस्त्रों का अनुक्रमण (=निर्देश) करके इतर शब्द प्रयुक्त होता है—देवदत्त के लिये कम्बल दो, विष्णुमित्र के लिये कौशेय (=रेशमी) वस्त्र दो, यज्ञदत्त के लिये क्षौम (=क्षुमा=अतसी=अलसी के रेशे से बना वस्त्र) दो और इतर चैत्र के लिये दो, तब वस्त्र ही दिया जाता है न सोना न चांदी। यहां ज्योतिष्टोम के धर्मों से अधिक लोहितोष्णीष आदि धर्मों का अनुक्रमण करके इतर शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे यहां भी [श्येन के] अधिक धर्मों को कह सकता है। इस प्रकार यह अधिकार्थ को कहने वाला होता है।

और यदि ज्योतिष्टोम के धर्मों को कहता है तो सन्निहित वचन होता है। उस अवस्था में अवश्य ही दोनों में से एक अर्थ छोड़ना होगा। यदि अधिकार्थ को छोड़कर सन्निहितार्थता का आश्रयण किया जाता है तो अनुवादमात्र अनर्थक होता है और श्येन शब्द भी अविवक्षित अर्थवाला होता है। और यदि सन्निहितार्थता को छोड़कर अधिकार्थता स्वीकार की जाती है तो कोई दोष नहीं होता है। इसलिये सूत्रकार कहते हैं—इतरत् शब्द अधिकार्थ में वर्तमान है। इससे ज्योतिष्टोम के धर्मों की विधि से अधिक श्येन के जो विशेष धर्म हैं वे यहां अतिदिष्ट किये जाते हैं। इस अर्थ का वाचक 'समानं स्यात्'=समान शब्द होवे, यह अर्थ है। और श्येन शब्द भी विवक्षित होता है।

---

१. 'अतोऽवशिष्टं च' पाठान्तरम्। २. 'तत्रावश्यावहेयमन्यतरत्'—पाठान्तरम्।

[वारुणप्रघासिकपञ्चसंचरेषु वैश्वदेविकसार्थवादविधिकाण्डातिदेशा-धिकरणम् ॥३॥]

चातुर्मास्यानां वैश्वदेवे पर्वण्याग्नेयादीनि हवींषि सार्थ[1]वादवाक्यैर्विहितानि। धर्माश्च तेषामुक्ताः। वरुणप्रघासेषु केवलानि हवींष्याम्नाय यद्वैश्वदेविकानां ब्राह्मणं तत् तेषामतिदिश्यते—**एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि,[2] यद्ब्राह्मणानीतराणि[3]** इति। तत्र किमर्थवादमात्रस्यायमतिदेश उत सार्थवादकस्य सविधिकस्य कृत्स्नस्य काण्डस्येति। कथं पुनरर्थवादमात्रस्यातिदेशो भवति। यथा पम्पाकुलाय-

विवरण—नाधिकार्थवचनः—इसका अभिप्राय यह है कि इतर शब्द लोक में आधिक्य अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है। भट्टकुमारिल ने टुप्टीका में लिखा है—"भाष्यकार की व्याख्या—'इतर अधिकार्थ का वाचक है' के अनुसार अप्राकृत 'कण्टक वितोदन' आदि धर्म भी प्राप्त होवेंगे। स्तुति भी उपपन्न नहीं होती है। प्रदेशान्तर में 'इषु' का विधान है और प्रदेशान्तर में 'समानमितरत्' का। इससे वाक्य के अनर्थक होने से पूर्वपक्ष के वचन के स्वरूप का परित्याग युक्त है।" हमारे विचार में भट्टकुमारिल का यह लिखना युक्त नहीं है कि प्रदेशान्तर में 'इषु' का विधान है और प्रदेशान्तर में 'समानमितरत्' का। षड्विंशब्राह्मण के (मूलपाठानुसार) तृतीय प्रपाठक के नवम खण्ड में ही 'इषु' का विधान है और उसी के अन्त में **समानमितरच्छ्येनेन** का ॥१६॥



व्याख्या—चातुर्मास्यों के वैश्वदेव पर्व में आग्नेयादि हवियां अर्थवाद सहित वाक्यों से विहित हैं। और उनके धर्म भी उक्त हैं। वरुणप्रघास में केवल हवियों का कथन करके जो वैश्वदेविक ब्राह्मण है वह उनका अतिदिष्ट किया जाता है-एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि यद् ब्राह्मणानीतराणि (=इस ब्राह्मणवाली ही पांच हवियां हैं और जो ब्राह्मणवाली इतर हवियां हैं)। इसमें [सन्देह] होता है—क्या अर्थवाद मात्र का यह अतिदेश है, अथवा अर्थवाद सहित सविधिक काण्ड का। कैसे अर्थवाद मात्र का अतिदेश होता है? जैसे पम्पाकुलायप्रतिमाश्च वृक्षाः (=पम्पासर के पक्षियों के नीड के समान या बराबर वृक्ष हैं)।

१. 'सार्थवादैर्वाक्यैः'—पाठान्तरम्।

२. तै० ब्रा० १।६।७।५॥

३. अनुपलब्धमूलम्। अस्मन्मते त्विह तै० ब्रा० १।६।७।५,६ उक्तानि ऐन्द्रः पुरोडाशः, ऐन्द्रश्चरुः वैश्वकर्मण एककपालपुरोडाशस्य संकेतो द्रष्टव्यः।

प्रतिमाश्च वृक्षा इति । के पुनर्विधयः, केऽर्थवादाः ? **त्रेधा संनद्धं बर्हिर्भवति**[1], **त्रेधा संनद्ध इध्मः**[2], **नव प्रयाजा इज्यन्ते, नवानुयाजा**[3] इत्येवमादयो विधयः । **वार्त्रघ्नानि वा एतानि हवींषि** इत्यर्थवादाः ।

तत्रेदमुच्यते—

कौन विधियां हैं, कौन अर्थवाद हैं ? त्रेधा सम्बद्धं बर्हिर्भवति (=एक एक दर्भमुष्टि के रूप में पृथक् पृथक् तीन बार बांधा हुआ बर्हि होता है), त्रेधा सन्नद्ध इध्मः (=तीन बार बांधा हुआ इध्म होता है), नव प्रयाजा इज्यन्ते, नवानुयाजाः (=नौ प्रयाज याग किये जाते हैं और नौ अनुयाज) इत्यादि विधियां हैं । वार्त्रघ्नानि वा एतानि हवींषि (=वृत्र को मारने वाली ये हवियां होती हैं) इत्यादि अर्थवाद हैं । इस विषय में कहते हैं—

विवरण—वैश्वदेवपर्वणि आग्नेयादीनि हवींषि—चातुर्मास्य के प्रथम वैश्वदेवपर्व में आग्नेयादि आठ हवियां कही हैं—आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र द्वादश-कपाल अथवा अष्टाकपाल पुरोडाश, सारस्वत चरु, पौष्ण चरु, स्वतवान् मरुतों के लिये सप्त-कपाल पुरोडाश, वैश्वदेवी पयस्या, द्यावापृथिवीय एककपाल पुरोडाश (कात्या० श्रौत ५।१।४-१४) । **एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्चहवींषि**—आग्नेय पुरोडाश से पौष्ण चरुपर्यन्त पांच हवियां । **यद्ब्राह्मणानीतराणि**—यहां 'यद्' के स्थान में 'एतद्' पद होना चाहिये । इस ब्राह्मण (तै० ब्रा० १।६।७।५) में उक्त इतर हवियां—ऐन्द्राग्न पुरोडाश, ऐन्द्र चरु तथा वैश्वदेवकर्मण एक-कपाल । इन्हें पूर्व पांच हवियों के साथ मिलाकर वरुण प्रघास में भी आठ हवियां होती हैं ।

पम्पाकुलायप्रतिमाश्च वृक्षाः—व्याख्या में इसका शब्दार्थ मात्र दिया है । मूलस्थान अज्ञात होने से हमें उक्त शब्दार्थ में सन्देह है । इसकी व्याख्या में म०म० क्षीरसमुद्रवासिमिश्र ने लिखा है—'पम्पासमीपफलस्थवृक्षैरभिरामतया तुल्यास्ते वृक्षाः' अर्थात् पम्पासमीपवर्ती फलवान् वृक्षों से रमणीयता से तुल्य वृक्ष । भावदीप हस्तलेख पृष्ठ ४४० ।

त्रेधा सन्नद्धं बर्हिर्भवति—प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास में तीन दर्भमुष्टियों को इकट्ठा बांधने का विधान किया है । यहां तीनों दर्भमुष्टियों को पृथक् पृथक् बांधकर पुनः तीनों दर्भ-मुष्टियों को मिलाकर इकट्ठा बांधा जाता है (द्र०—तै० ब्रा० १।६।३।१ भट्टभास्करभाष्य) ।

त्रेधा सन्नद्ध इध्मः—इसमें भी दर्भमुष्टियों के समान इध्मों के तीन भागों को अलग बांधना जानें । बर्हि के त्रेधा बन्धन का उल्लेख तो तै० सं० १।६।३।१, कात्या० श्रौत ५।२।१६ आदि में उपलब्ध होने से स्पष्ट व्याख्या की जा सकी, परन्तु त्रेधा सन्नद्ध इध्मः केवल मै० सं० १।१०।७ में ही हमें उपलब्ध हुआ । उस पर किसी का भाष्य न होने से व्याख्या में कुछ अस्पष्टता है ।

---

१. मै० सं० १।१०।७॥ २. मै० सं० १।१०।७॥ ३. तै० ब्रा० १।६।३।३॥

पञ्चसंचरेष्वर्थवादातिदेशः संनिधानात् ॥१७॥ (पू०)

पञ्चसंचरेष्वर्थवादातिदेशः संनिधानात्। पञ्चैतानि हवींषि सर्वपर्वसु संचरन्तीति पञ्चसंचराणीत्युच्यन्ते। तेषु पञ्चसंचरेष्वर्थवादमात्रस्यातिदेश इति। कुतः? संनिधानात्। हविषां संनिहिता अर्थवादाः। हविर्विधिभिरेकवाक्यसंबद्धत्वान्न धर्मविधयः। किमतः? अत एतद् भवति, यत्पूर्वेषां ब्राह्मणमिति व्यपदेशो युज्यते। तद्धि तेषां ब्राह्मणं येन विधीयन्ते। कोऽन्यो हविषां ब्राह्मणस्य च सम्बन्धोऽन्यत्र विधेयविधायकभावात्। अर्थवादैश्चैतानि विधीयन्ते न धर्मविधिभिः। धर्मविधिभिस्तु यानि विधीयन्ते न तानि हवींषि। तस्मादर्थवादानामतिदेशो न धर्मविधीनाम्।

अपि च वरुणप्रघासेष्वपि केचिद् वैश्वदेविका धर्मा विधीयन्ते। यथा—अग्निं मथ्नन्ति[1], प्रसुवो भवन्ति[2] इति। तेषामतिदेशेन विहितानां पुनराम्नानमनर्थकं

पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः संनिधानात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(पञ्चसञ्चरेषु) पांच आग्नेयादि हवियां जो प्रतिपर्व प्राप्त होती हैं, उन में=वरुणप्रघास में 'एतद्ब्राह्मणान्येव' वाक्य से (अर्थवादातिदेशः) अर्थवाद का अतिदेश (संनिधानात्) सामीप्य से होवे।

व्याख्या—पांच सञ्चरों में अर्थवाद का अतिदेश है, सामीप्यता से। ये पांच हवियां सब पर्वों में सञ्चरित होती हैं, इसलिये 'पञ्च सञ्चर' कही जाती हैं। इन पञ्च सञ्चरों में अर्थवादमात्र का अतिदेश होता है। किस हेतु से? सन्निहित होने से। हवियों के समीप अर्थवाद हैं। हवि की विधियों के साथ एकवाक्यरूप से सम्बद्ध होने से धर्म की विधियां नहीं हैं। इससे क्या? इससे यह होता है कि जो 'पूर्व हवियों का ब्राह्मण' यह कथन युक्त होता है। वही उनका ब्राह्मण होता है जिनसे [हवियों का] विधान किया जाता है। हवियों का और ब्राह्मण का और कौन अन्य सम्बन्ध हो सकता है विधेय-विधायक भाव से भिन्न। और अर्थवादों के द्वारा ये [हवियां] विधान की जाती हैं, न कि धर्मविधियों के द्वारा। धर्मविधियों के द्वारा जिनका विधान किया जाता है वे हवियां नहीं हैं। इससे अर्थवादों का अतिदेश है, धर्मविधियों का नहीं।

और भी—वरुणप्रघास में भी कुछ वैश्वदेव पर्व में उक्त धर्मों का विधान किया जाता है। जैसे अग्निं मथ्नन्ति (=अग्नि का मन्थन करते हैं), प्रसुवो भवन्ति (=फूले हुए

---

१. द्र०—अग्निं मन्थन्ति। तै० ब्रा० १।६।३।३॥ २. तै० ब्रा० १।६।३।२॥

स्यात्, यदि विधयोऽतिदिश्येरन् । तस्मादर्थवादातिदेश इति ॥१७॥

सर्वस्य वैकशब्द्यात् ॥१८॥ (उ०)

नैतदेवम्, अर्थवादमात्रस्यातिदेश इति । सविधिकस्य सार्थवादकस्य कृत्स्नस्य काण्डस्यातिदेश इति । कुतः ? ऐकशब्द्यात् । समानशब्दत्वादित्यर्थः । समानोऽयं ब्राह्मणमिति शब्दो विधीनामर्थवादानां च । स यथाऽर्थवादान् गृह्णात्येवं विधीनपि गृह्णाति चेत् तानप्यतिदिशति । यत्तु विधीनां हविर्भिः सम्बन्धो नास्तीति । विधेय-विधायकसम्बन्धो नास्ति, उपकारलक्षणः सम्बन्धो भविष्यति । क उपकारः ? यदेषामङ्गानि विदधति । अस्ति चेत्सम्बन्धो, ब्राह्मणशब्दश्रुत्या सर्वातिदेशो न्याय्य इति ॥१८॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१९॥ (उ०)

दर्भ होते हैं) । अतिदेश से विहित इन विधियों का पुनः पाठ अनर्थक होवे, यदि विधियों का अतिदेश किया जावे । इसलिये अर्थवाद का अतिदेश है ।

विवरण—पञ्च संचरेषु—सम्पूर्वक चर धातु से पचादिगण (गणपाठ ३।१।१३४) के आकृतिगण होने से अच् । अन्यत्र गमन करने वाले अर्थात् प्राप्त होनेवाले । प्रसुवो भवन्ति—सामान्यरूप से चोदक वचन से प्राप्त दर्भों का पुष्पितत्व का विधान किया है (द्र०—तै० ब्रा० १।६।३।३ भट्टभास्करभाष्य) ॥१७॥

सर्वस्य वैकशब्द्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द से पूर्वपक्ष का प्रतिषेध करते हैं, (सर्वस्य) सबका=विधि सहित सार्थवाद काण्ड का अतिदेश होता है (ऐकशब्द्यात्) एक=समान शब्द होने से ।

विशेष—विधि और अर्थवाद दोनों के लिये ब्राह्मण शब्द समान है ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है कि अर्थवादमात्र का अतिदेश है । विधिसहित सार्थवाद सम्पूर्ण काण्ड का अतिदेश है । किस हेतु से ? एकशब्दता होने से । अर्थात् समानशब्दत्व होने से । ब्राह्मण यह शब्द विधि और अर्थवादों का समान रूप से [निर्देशक] है । यह(=ब्राह्मण शब्द) जैसे अर्थवादों का ग्रहण करता है उसी प्रकार विधियों का भी ग्रहण करता है, ऐसा माना जाये तो उनका भी अतिदेश करता है । और जो कहा विधियों का हवियों के साथ सम्बन्ध नहीं है । विधेय विधायकभाव से सम्बन्ध नहीं है, उपकार लक्षण सम्बन्ध होगा । उपकार क्या है ? जो इनके अङ्गों का विधान करता है । यदि सम्बन्ध है तो ब्राह्मण शब्द के श्रवण से सबका अतिदेश न्याय्य है ॥१८॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१९॥

लिङ्गं च विधीनामतिदेशं दर्शयति । किं लिङ्गम् ? वरुणप्रघासेषु श्रूयते—**त्रिंशदाहुतयो हूयेरन्, वाजिनो यजन्त्याहुतीनां सम्पत्त्यै त्रिंशत्त्वाय** इति वरुण-प्रघासेषु त्रिंशतमाहुतीर्दर्शयति । यदि विधयो नातिदिश्येरन्,ता न स्युः । तस्मादति-दिश्यन्ते ॥१६॥

विहिताम्नानान्नेति चेत् ॥२०॥ (आ०)

विहिताम्नानादिति यदुक्तं, तस्य कः परिहार इति, आभाषान्तं सूत्रम्॥२०॥

नेतरार्थत्वात् ॥२१॥ (आ० नि०)

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी विधि सहित सार्थवाद काण्ड का अतिदेश है ।

व्याख्या—लिङ्ग भी विधियों के अतिदेश को दर्शाता है । लिङ्ग क्या है ? वरुण प्रघास में सुना जाता है—त्रिंशद् आहुतयो हूयेरन् वाजिनो यजन्त्याहुतीनां सम्पत्त्यै त्रिंशत्त्वाय (=तीस आहुतियां दी जायें, वाजिनों का यजन करता है तीस आहुतियों की सम्पत्ति के लिये) यह वचन वरुणप्रघास में तीस आहुतियां दिखलाता है । यदि विधियों का अतिदेश न हो तो वे [तीस] न होवें । इससे विधियां अतिदिष्ट की जाती हैं ।

विवरण—वरुणप्रघास में उत्तर विहार (वेदि) में दी जाने वाली ३० आहुतियां मै० सं० १।१०।८ में इस प्रकार गिनाई गई हैं—नव प्रयाजाः, नवानुयाजाः, द्वा आज्यभागौ, अष्टौ हवींषि, अग्नये समवद्यति, वाजिनो यजति । 'अष्टौ हवींषि' में ५ वैश्वदेव की संचर हवियां हैं। तथा १ ऐन्द्राग्न पुरोडाश, २ मारुती आमिक्षा, ३ वारुणी आमिक्षा (द्र०—तै० ब्रा० १।६।४।४ भट्टभास्कर) । मारुती आमिक्षा की आहुति दक्षिण विहार में दी जाती है (द्र०—यज्ञतत्त्व-प्रकाश, पृष्ठ ४७) । 'अग्नये समवद्यति' से स्विष्टकृद् का ग्रहण जानें ॥१६॥

विहिताम्नानान्नेति चेत् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(विहिताम्नानाम्) वैश्वदेव पर्व में विहित अग्निमन्थन आदि के पुनः कथन से (न) अङ्गविधि का अतिदेश नहीं होता है (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—और जो कहा—विहितों के [पुनः] कथन से [अङ्गविधि का अतिदेश नहीं होगा] उसका क्या समाधान है ? आशङ्का सूत्र है ॥२०॥

नेतरार्थत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(न) उक्त दोष नहीं है । (इतरार्थत्वात्) पूर्वविहित अग्निमन्थन आदि के इतर दक्षिणवैहारिक (=दक्षिण वेदि के कर्मों के लिये) होने से ।

अत्रोच्यते। विध्यतिदेशेऽपि सति नाग्निमन्थनादीनामाम्नानमनर्थकम्। इतरस्य हविषोऽर्थेन भविष्यति, दक्षिणवैहारिकस्य 'मारुत्याख्यस्य[1]। तस्मान्नैतज्ज्ञापकं विधीनामनतिदेशस्य भविष्यति ॥२१॥



[साकमेधीयैन्द्राग्नैककपालयोः सार्थवादविधिकाण्डातिदेशाधिकरणम् ॥४॥]

वैश्वदेवे एककपाल आम्नातः-द्यावापृथिव्या एककपालः[2] इति। वरुणप्रघासेष्वपि-काय एककपालः[3] इति। तत्रापरः--ऐन्द्राग्नो द्वादशकपालो[4], मारुत्यामिक्षा[5], इति। तथा साकमेधेष्वप्येककपालैन्द्राग्नावाम्नातौ—ऐन्द्राग्न एकादशकपालः[6],

---

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—विधि के अतिदेश होने पर भी अग्निमन्थन आदि का पाठ अनर्थक नहीं है। अन्य हवि के लिये [अग्निमन्थन] होगा। दक्षिणवैहारिक मारुती संज्ञक हवि के लिये होगा। इससे यह विधियों के अतिदेशाभाव का ज्ञापक नहीं है।

विवरण—दक्षिण विहार में आठ हवियों में से मारुती आमिक्षा की आहुति प्रतिप्रस्थाता देता है। द्र०—पूर्व पृष्ठ सूत्र १६ का विवरण ॥२१॥



व्याख्या—वैश्वदेव पर्व में एककपाल पुरोडाश पढ़ा है—द्यावापृथिव्या एककपालः (=द्यावापृथिवी देवतावाला एककपाल पुरोडाश होता है)। वरुणप्रघास में भी—काय एककपालः (=क देवता के लिए एककपाल पुरोडाश)। वहीं पर अन्य पाठ है ऐन्द्राग्नो द्वादशकपालः (=इन्द्राग्नि देवता के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश), मारुत्यामिक्षा (=मरुत् देवताओं के लिये आमिक्षा)। तथा साकमेध में भी एककपाल और ऐन्द्राग्न पुरोडाश आम्नात हैं—ऐन्द्राग्न एकादशकपालः (=इन्द्राग्नि देवता के लिये एकादशकपाल),

---

१. 'मारुत्याः'—पाठान्तरम्।
२. द्र०—द्यावापृथिव्यमेककपालम्। तै० सं० १।८।२॥
३. तै० ब्रा० १।६।४।४॥ द्र०—कायमेककपालम्। तै० सं० १।८।३।१॥
४. द्र०—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्। तै० सं० १।८।३।१॥
५. द्र०—मारुतीमामिक्षाम्। तै० सं० १।८।३।१॥
६. तै० सं० १।८।४।२॥

इन्द्राय वृत्रघ्ने चरुः[1], वैश्वकर्मण[2] एककपाल[3] इति। तत्रेदमाम्नातम्। एतद्-ब्राह्मण ऐन्द्राग्नः[4], एतद्ब्राह्मण एककपालो[5] यद्ब्राह्मण इतर इतरश्च[6] इति।
तत्रेदमुच्यते—

एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥२२॥ (उ०)

एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत्। यद्वत्पञ्चसंचराणि। अत्रापि सविधिकस्य सार्थवादकस्य काण्डस्यातिदेशः। तेनैव न्यायेनेति। प्राप्तिसूत्रमेतदुत्तरचिन्तार्थम् ॥२२॥



इन्द्राय वृत्रघ्ने चरुः (=वृत्रघ्न इन्द्र के लिये चरु), वैश्वकर्मण एककपालः (=विश्वकर्मा देवता के लिये एककपाल)। वहां यह भी पढ़ा है—एतद्ब्राह्मण ऐन्द्राग्नः (=इस ब्राह्मणवाला ऐन्द्राग्न पुरोडाश), एतद्ब्राह्मण एककपालः (=इस ब्राह्मणवाला एककपाल), यद्ब्राह्मण इतर इतरश्च (अन्य-अन्य हवि जिस ब्राह्मणवाला)। इस विषय में यह कहते हैं—

एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(एककपालैन्द्राग्नौ) एककपाल और ऐन्द्राग्न पुरोडाश (च) भी (तद्वत्) जैसा पञ्चसञ्चर के लिये कहा है, उसा प्रकार होवे।

व्याख्या—एककपाल और ऐन्द्राग्न पुरोडाश उसी प्रकार होवें जिस प्रकार पञ्च-सञ्चर [पूर्व अधिकरण में] कहे गये हैं। यहां भी विधिसहित सार्थवाद काण्ड का अतिदेश उसी न्याय से जानना चाहिये। यह प्राप्ति-निदर्शक सूत्र है अगले विचार के लिये ॥२२॥



---

१. द्र०—ऐन्द्रं चरुम्। तै० सं० १।८।४।२॥
२. 'विश्वकर्मणः' पाठान्तरम्।
३. द्र०—वैश्वकर्मणमेककपालम्। तै० सं० १।८।४।२॥
४. तै० ब्रा० १।६।७।५॥
५. अर्थतोऽनुवादः। एतस्मिन्नेव ब्राह्मणे (तै० ब्रा० १।६।७) वैश्वकर्मण एककपाल उक्तः।
६. अनुपलब्धमूलम्।

[साकमेधीयैककपाले वारुणप्रघासिकैककपालधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥५॥]

'साकमेधे श्रूयते—एतद्ब्राह्मण एककपाल' इति। तत्र चिन्त्यते—वैश्वदेविकस्यैककपालस्येदं ग्रहणमुत वारुणप्रघासिकस्येति। किं प्राप्तम्? वैश्वदेविकस्येति ब्रूमः। किं कारणम्? तस्य विहिता धर्माः—अलंकृत्याभिपूर्योपांशु यष्टव्यः,² आविःपृष्ठः कार्यः,³ इत्येवमादयः। वारुणप्रघासिकस्त्वधर्मकः। यस्य विहिता धर्मास्तत्रैतद् युज्यते वक्तुं, तद्वदिदं कर्तव्यमिति। तस्माद् वैश्वदेविकस्य ग्रहणम्। नन्वैन्द्राग्नसमुच्चारणादेककपालोऽपि वारुणप्रघासिक एव स्यात्। नावश्यमेकपर्वणोरेव समुच्चारणेन भवितव्यं, नानापर्वणोरपि समुच्चारणमविरुद्धम्। तस्माद्वैश्वदेविकस्य ग्रहणमिति प्राप्ते। उच्यते—

व्याख्या—साकमेध में सुना जाता है—एतद्ब्राह्मण एककपालः (=इस ब्राह्मणवाला एककपाल पुरोडाश होता है), उसके विषय में विचार करते हैं—यह वैश्वदेविक एककपाल का निर्देश है अथवा वरुणप्रघास के [एककपाल का]। क्या प्राप्त होता है? वैश्वदेविक [एककपाल का ग्रहण] है, ऐसा कहते हैं। क्या कारण है? उस [वैश्वदेविक] के धर्म विहित हैं—अलङ्कृत्याभिपूर्योपांशु यष्टव्यः (=अलङ्कृत करके और घृत से स्रुक् को पूर्ण करके उपांशु यजन करना चाहिये), आविःपृष्ठः कार्यः (=खुली पीठ वाला करना चाहिये) इत्यादि। वरुणप्रघास का एककपाल धर्मरहित है। जिसके धर्म विहित हैं उसके विषय में यह कहना युक्त है कि तद्वत् यह करना चाहिये। इससे वैश्वदेविक [एककपाल का] ग्रहण है। (आक्षेप) ऐन्द्राग्न [पुरोडाश] के समुच्चारण से एककपाल भी वरुणप्रघासवाला ही होवे। (समाधान) एक पर्ववालों का ही समुच्चारण होना चाहिये, यह आवश्यक नहीं। भिन्न पर्ववालों का भी समुच्चारण अविरुद्ध है। इससे वैश्वदेविक का ग्रहण है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—अलंकृत्य—पुरोडाश को कपालों से उद्वासन के अनन्तर पात्री पुरोडाश को रखकर स्रुव से आज्यस्थाली से घृत लेकर जो अञ्जन किया जाता है, वह पुरोडाश का अलङ्करण कहाता है। अभिपूर्य—पात्री में पुरोडाश को रखकर अलङ्करण मन्त्र से पात्री को

---

१. साकमेधेषु श्रूयते, एतद्ब्राह्मण ऐन्द्राग्नः, एतद्ब्राह्मण एककपालः—पाठान्तरम्।

२. द्र०—पृष्ठ २०६४, टि० ५।

३. द्र०—अलङ्करणकाल आज्येनैककपालमभिपूरयति।......अभिघार्योपांशु प्रचरति। आप० श्रौत ६।२९।२०,२२॥

४. आविःपृष्ठं वा कृत्वाऽऽसादयति॥ आप० श्रौत ६।२९।२१॥ आविःपृष्ठं कुर्यात्॥ तै० ब्रा० १।६।३।५॥

एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनादवभृथे च सकृद्द्व्यवदानस्य वचनात् ॥२३॥ (उ०)

वारुणप्रघासिकस्यैककपालस्य ग्रहणमिति। कुतः ? यत एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिः । कथं ज्ञायते ? आग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनात् । आग्रयणे द्यावापृथिवीयस्यैककपालस्य सर्वहोममपर्यावृत्तिं च दर्शयति—**यत्सर्वहुतं करोति, सा त्वेका परिचक्षा, हुतोऽहुतः पर्यावर्तते, सा द्वितीया । आज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेत**' इति, आज्ययागविधिपरे वाक्य एककपालस्य सर्वहोममपर्यावृत्तिं च प्राप्तां दर्शयति। एतस्माद् दर्शनात्। अवभृथे च सकृद्द्व्यवदानस्य वचनात्। अवभृथे

घृत से पूरित करते हैं जिससे वह पुरोडाश डूब जाता है। उपांशु यष्टव्यः—उस एककपाल पुरोडाश का उपांशु यजन करना चाहिये (द्र०—आप० श्रौत ९।२९।२०,२२) । आविःपृष्ठः कार्यः—अथवा पात्री में इतना घृत डाले जिससे पुरोडाश की पीठ दीखती रहे (वही० ९।२९। २२)।

एककपालानां ···· वचनात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(एककपालानाम्) एककपाल पुरोडाशों का (वैश्वदेविकः) वैश्वदेव पर्ववाला [एककपाल] (प्रकृतिः) प्रकृति होता है (आग्रयणे) आग्रयणों में द्यावापृथिवी एककपाल हविष्क याग में (सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनात्) सर्वहोम और अपर्यावर्तन के दर्शन से (च) और (अवभृथे) अवभृथ में [एककपाल पुरोडाश के] (सकृत्) एक बार (द्व्यवदानस्य) द्व्यवदान के (वचनात्) वचन से साकमेधीय एककपाल में वारुणप्राघासिक एककपाल धर्म का अतिदेश होता है।

व्याख्या—वरुणप्रघास के एककपाल का ही ग्रहण है। किस हेतु से ? जिस कारण एककपालों की प्रकृति वैश्वदेविक [एककपाल] है। कैसे जाना जाता है? आग्रयण में सर्वहोम और अपर्यावृत्ति के दर्शन से। आग्रयण में द्यावापृथिवीय एककपाल के सर्वहोम और अपर्यावृत्ति को दर्शाता है। यत्सर्वहुतं करोति, सा त्वेका परिचक्षा, हुतोऽहुतः पर्यावर्त्तते, सा द्वितीया, आज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेत (=जो सर्वहुत करता है, यह एक निन्दा है, हुत अहुत पर्यावर्तित होता है, वह दूसरी निन्दा है, आज्य से ही द्यावापृथिवी का यजन करे)। इस आज्ययाग विधिपरक वाक्य में एककपाल के प्राप्त सर्वहोम और अपर्यावृत्ति को दर्शाता है, इस दर्शन से और अवभृथ में एक बार द्व्यवदान के वचन से। अवभृथ में निर्धारण होता है—इसी

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तुलना कार्या—तस्य परिचक्षा यस्यैवैकस्यै च देवतायै हविर्हूयते सर्वत्रैवान्वाभक्तोऽथैतं सर्वमेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवद्यति सा परिचक्षा । अतो हुतो पर्यावर्तते········। शत० २।४।३।९॥

चावधारणं भवति, इदमेवैककपालस्य द्विरवद्यति' इति । तेन ज्ञायते, नूनमन्यत्र न द्विरवदानमिति । तच्चैतत् सर्वं वैश्वदेविके एककपाले विहितम् ।

तस्मादेककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिः । किमतः ? साकमेधिकेऽप्येककपाले वैश्वदेविका धर्माः प्राप्तास्तेषामतिदेशोऽनर्थकः । वारुणप्रघासिकस्य ये धर्मा वैशेषिका अप्राप्तास्तेषामतिदेशोऽर्थवान् । तस्माद् वारुणप्रघासिकस्यैककपालस्येदं ग्रहणमिति । उच्यते । लिङ्गमेतत् । कुतः प्राप्तिरिति ? प्राप्तिमुत्तरत्र वक्ष्यामः, **स्वरसामैककपालामिक्षं च**[2] इत्यत्र । के पुनस्ते धर्माः ? **हिरण्मय्यः स्रुचो भवन्ति, शमीमय्यो वा**[3] इत्येवमादयः ॥२३॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

एककपाल का दो बार अवदान करता है । इससे जाना जाता है निश्चय ही अन्यत्र द्विरवदान नहीं होता । यह सब वैश्वदेविक एककपाल में विहित है ।

विवरण - अपर्यावृत्तिम्—आपस्तम्ब श्रौत ६।३०।१ में लिखा है—**सर्वहुतमपर्यावर्तयन्नृजुं प्रतिष्ठितं न हस्तेन जुहुयात्** अर्थात् एककपाल पुरोडाश को जिस प्रकार नीचे न गिरे और ठीक प्रकार से प्रतिष्ठित होवे,इस प्रकार स्रुक् के पार्श्वभाग से शनैः शनैः अग्नि में छोड़े। हस्त से होम न करे । पुनः कहा है—**यदि हुतः पर्यावर्तेत स्रुचोऽग्रेण कल्पयेत्** अर्थात् यदि अग्नि में होम किया हुआ चलायमान होवे, अर्थात् टेढ़ा हो जावे तो उसे स्रुक् के अग्रभाग से यथास्थान स्थापित करे ।

सत्सर्वहुतं करोति इत्यादि वचन हमें यथावद् रूप में उपलब्ध नहीं हुआ । परन्तु इसी अभिप्राय को कहने वाला वचन शतपथ२।४।३।६ में मिलता है(द्र०–पृ० २०६६,टि० १)। उसके अनुसार इसका तात्पर्य है कि स्विष्टकृत् के लिये अवदान विना किये एककपाल पुरोडाश को सर्वहुत करना पहला निन्दा का स्थान है । तथा अग्नि में हुत अथवा अहुत ही पुरोडाश पर्यावृत्त हो जाता है तो वह दूसरा निन्दा का स्थान है । इससे बचने के लिये आज्य से ही द्यावापृथिवी का यजन करना चाहिये ।

व्याख्या—इस से एककपालों की वैश्वदेविक प्रकृति जानी जाती है । इससे क्या ? साकमेध में भी एककपाल में वैश्वदेविक धर्म प्राप्त हैं, उनका पुनः निर्देश अनर्थक होता है । वरुणप्रघास-सम्बन्धी एककपाल के जो विशिष्ट धर्म अप्राप्त हैं उनका अतिदेश अर्थवान् होता है। इससे वरुणप्रघास-सम्बन्धी जो एककपाल है उसी का यहां ग्रहण है । (आक्षेप) यह लिङ्ग है, प्राप्ति किससे होती है ?(समाधान) प्राप्ति आगे कहेंगे –स्वरसामैककपालामिक्षं च (मी० ७।३।२६ इस सूत्र के भाष्य में) । वे धर्म कौन से हैं ? हिरण्मय्यः स्रुचो भवन्ति शमीमय्यो वा (=हिरण्य निर्मित स्रुचाएं होती हैं अथवा शमीमयी) इत्यादि ॥२३॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. मी० ७।३।२६॥
३. द्र०—शमीमय्यो हिरण्मय्यो वा स्रुचो भवन्ति । आप० श्रौत ८।५।२६॥

सप्तमाध्याये द्वितीयः पादः

[रथंतरादिशब्दानां गीतिविशेषवाचित्वाधिकरणम् ।।१।।]

इदं श्रूयते—**रथन्तरमुत्तरयोर्गायति,**[1] **कवतीषु रथन्तरं गायति**[2] इत्येवमादीनि समाम्नायन्ते। तत्र चिन्ता किमिहातिदिश्यत इति। ननु यद्रथन्तरादिभिः शब्दैरुच्यते, तदतिदिश्यते। बाढम्। तदेव तु न ज्ञायते किमेभिः शब्दैरुच्यत इति। ननु सिद्धमेतत् **गीतिषु सामाख्या**[3] इति। तथा सिद्धस्याऽऽक्षेपः करिष्यते। स एव तु निर्णयो भविष्यति। यदि स एव निर्णयः, किमर्थं आक्षेपः? दाढर्च्यार्थः, स्थूणानिखननवत्। तत्र किं प्राप्तम्? तदुच्यते। सस्तोभस्वरकालाभ्यासविकारायां हिंकारप्रणवप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनवत्यामृचि सामशब्दोऽभियुक्तैरुपचर्यते। तस्मात् सैवोच्यते।

व्याख्या—यह सुना जाता है—रथन्तरमुत्तरयोर्गायति (=उत्तर दो ऋचाओं में रथन्तर साम का गान करता है), कवतीषु रथन्तरं गायति (=कवती=कशब्द वाली कयानश्चित्र इत्यादि ऋचाओं में रथन्तर साम का गान करता है) इत्यादि वचन पठित हैं। इस विषय में विचार होता है कि यहां क्या अतिदेश किया जाता है। (आक्षेप) जो रथन्तर आदि शब्दों से कहा जाता है उसी का अतिदेश किया जाता है। (समाधान) ठीक है, किन्तु यही तो नहीं जाना जाता है कि इन [रथन्तरादि] शब्दों से क्या कहा जाता है? (आक्षेप) यह सिद्ध है गीतिषु सामाख्या (=गीति में साम शब्द का व्यवहार होता है)। इस प्रकार सिद्ध पर आक्षेप किया जायेगा। वही तो निर्णय होगा। (समाधान) यदि वही निर्णय होगा तो आक्षेप किसलिये है? दृढ़ता के लिये, खम्भे को भूमि में गाढ़ने के समान। (आक्षेप) क्या प्राप्त होता है? (समाधान) स्तोभ स्वरकाल अभ्यास सहित विकारवाली हिङ्कार-प्रणव प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार उपद्रव निधनवाली ऋचा में साम शब्द अभियुक्त पुरुषों के द्वारा उपचरित होता है। इससे वही कहा जाता है।

विवरण—सामगान का सामान्य प्रकार इस प्रकार है—एकं साम तृचे क्रियते अर्थात् एक साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है। जिस ऋचा में किसी साम का दर्शन किसी ऋषि ने किया (द्र०—दृष्टं साम आदि अष्टा० ४।२।७-९ सूत्र) वह ऋचा सामवेद के पूर्वार्चिक में पढ़ी गई है। यतः उसमें ऋषि द्वारा साम का दर्शन किया गया है इसलिये वह योनिऋक्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्। ३. मी० २।१।३६।।

कहाती है। उत्तरार्चिक में प्रत्येक योनिऋक् के साथ अन्य ऋचाएं पढ़ी गयी हैं, जिनमें योनि-ऋक् में उत्पन्न साम का गान किया जाता है। यथा वामदेव साम की योनिऋक्—कयानश्चित्र आ पूर्वार्चिक में १६९ संख्या पर पठित है। पुनः यही ऋचा उत्तरार्चिक में ६८२ संख्या पर निर्दिष्ट है। इसके आगे कस्त्वा सत्य० और अभीषु णः ये दो ऋचाएं संख्या ६८३, ६८४ पर पठित हैं। इस प्रकार एक तृच उपपन्न होता है और यद्योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति नियम के अनुसार योनि ऋक् में उत्पन्न साम का उत्तर दो ऋचाओं में गान होता है।

गान के लिये यह आवश्यक है कि योनिऋक् जिस छन्दवाली हो, उस छन्दवाली अगली ऋचाएं भी होनी चाहिये। तभी साम ठीक प्रकार से गाया जा सकता है। परन्तु इसके अपवाद भी देखे जाते हैं। यथा अभि त्वा शूर नोनुमः यह रथन्तर साम की योनिऋक् पूर्वार्चिक में २३३ संख्या पर पढ़ी है और इसका छन्द बृहती है, और उत्तरार्चिक में इसके साथ एक ही ऋचा पढ़ी गयी है—न त्वावाँ अन्यो० (संख्या ६८१) इसका छन्द सतोबृहती है। सतोबृहती में बृहती से चार अक्षर अधिक होते हैं। (यहां द्वितीय ऋचा का पाठ नहीं है) ऐसा प्रायः प्रगाथसंज्ञक[1] सभी प्रकरणों में उपलब्ध होता है। भिन्न छन्दवाली और योनिऋक् के साथ एक ही पढ़ी गई ऋचा के योग से तृच में गेय गान की उपपत्ति का प्रकार आगे नवम अध्याय में दर्शाया है। वहां प्रगाथों की दो ऋचाओं को तीन ऋचा में परिवर्तित करने का प्रकार भी दर्शाया है।

रथन्तरमुत्तरयोर्गायति—रथन्तर साम की योनिभूत ऋचा का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं; उत्तरार्चिक में उसके साथ पठित सतोबृहती छन्दवाली एक ऋचा का निर्देश भी कर दिया है। उत्तरयोर्गायति में दो ऋचाओं की उत्पत्ति का प्रकार मी० भाष्य के नवम अध्याय में देखें। कवतीषु रथन्तरं गायति। ऊपर जिन कयानश्चित्र आदि तीन ऋचाओं का उल्लेख किया है, उनमें से प्रथम दो ऋचाओं में 'क' शब्द का प्रयोग होने से 'भूमा न्याय' (मीमांसा १।४।२७) से कवती अर्थात् क अक्षरवाली ऋचाएं कहाती हैं। इन तीनों कवतीसंज्ञक ऋचाओं में, जो कि गायत्री छन्दवाली हैं, बृहती छन्दवाली ऋचा में उत्पन्न रथन्तर साम कैसे गाया जायेगा, इसके लिये भी नवम अध्याय ही देखें। वस्तुतः दो ऋचाओं की तीन ऋचाएं बनाना अथवा भिन्न छन्दवाली ऋचाओं में भिन्नछन्दस्क साम का गान करने का प्रकार गुरुपरम्परा से ही यथावत् जाना जा सकता है, शब्दों द्वारा इसका स्पष्टीकरण करना असम्भव सा है।

स्थूणानिखननवत्—स्थूणानिखनन न्याय का स्वरूप इस प्रकार है—स्थूणा = स्तम्भ को गड्ढे में खड़ा करके मिट्टी आदि से पूरित करके और स्थूणा को अनेक बार हिलाकर और पुनः

१. प्रगाथ की विभिन्न संज्ञाओं के लिए पाणिनि का सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु (अष्टा० ४।२।५५) सूत्र देखें। ऋक्प्रातिशाख्य में प्रगाथ संज्ञाओं के अन्य नियम भी दिये हैं (द्र०—वैदिक स्वरमीमांसा पृष्ठ १८८, १९३, प्र० संस्क०)।

ननु गीतौ सत्यां भावाद् गानाख्यस्य संस्कारकर्मणो वाचका एते शब्दा इत्युक्तम्। तदेवेदमुक्तमाक्षिप्यते। नेमे संस्कारस्य वाचका:। किं कारणम्? अकर्मकाले प्रयोगात्। अकर्मकाले साम प्रयुज्यते। न च संस्कारकर्माणि प्रोक्षणावेक्षणपर्यग्निकरणादीन्यकर्मकाले प्रयुज्यन्ते। प्रयोजनाभावात्। अथ नु मन्त्रा एते, ततोऽन्वहं स्वाध्यायोऽध्येतव्य:[1] इति नियमादकर्मकाले प्रयोगो युज्यते। तस्मादृचां नामानि। किं च, संज्ञाभेदात्। संज्ञाभेदश्च भवति, रथन्तरं बृहदित्येवमादि:। स एकत्वात् संस्कारकर्मणोऽनर्थक:। एकेनैव हि तदा पर्याप्तम्। यथा गीतिरिति। अथ ऋचां नामानि, ततस्तासां भेदात् संज्ञापृथक्त्वं युक्तम्। अपि च। यदि गानं रथन्तरं, गानं च बृहत्, इदं रथन्तरमिदं बृहदिति पृथक्त्वेन संज्ञानिवेशो नोपपद्यते। ऋङ्नामत्वे तूपपद्यते।

उसे मिट्टी आदि को भरकर कूटकर दृढ़ किया जाता है। इसी प्रकार किसी सिद्ध बात पर पुन: आक्षेप करके पूर्व सिद्धान्त को दृढ़ किया जाता है, इस विषय में स्थूणानिखनन न्याय का निर्देश किया जाता है।

स्तोभस्वरकाल—गान में जिन अर्थरहित शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें स्तोभ कहा जाता है। जैसे—हायी; हाऊ। हिंकारप्रणव०—आरम्भ में हिं हिं हिं ओ३म् ऐसा उच्चारण करके मन्त्र पढ़े जाते हैं। प्रस्ताव आदि पांच सामभक्तियां कहाती हैं। शस्त्रों में भी इनका प्रयोग होता है।

व्याख्या-(आक्षेप) गीति में वर्तमान होने से गानाख्य संस्कारकर्म के वाचक ये [रथन्तर आदि] शब्द हैं, ऐसा कह चुके। (समाधान) वही कहा गया आक्षिप्त होता है अर्थात् उसी पूर्व उक्त रथन्तरादि संस्कार कर्म के वाचक हैं, विषय में आक्षेप करते हैं—ये शब्द संस्कार के वाचक नहीं हैं। क्या कारण है? अकर्मकाल में (=कर्मकाल से अन्यत्र) प्रयोग होने से। अकर्मकाल में साम प्रयुक्त होता है। प्रोक्षण अवेक्षण पर्यग्निकरण आदि संस्कार कर्म अकर्मकाल में प्रयुक्त नहीं होते हैं प्रयोजन के न होने से। ये मन्त्र हैं, इससे प्रतिदिन स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस नियम से अकर्मकाल प्रयोग युक्त होता है। इससे ये ऋचाओं के नाम हैं। और भी, संज्ञाभेद होने से। संज्ञाओं का भेद भी होता है रथन्तर बृहद् इत्यादि। वह [संज्ञाभेद] संस्कार कर्म के एक होने से अनर्थक होवे। एक से ही तब [निर्देश] पर्याप्त है। जैसे गीति। और यदि ऋचाओं के नाम हैं तो उससे उन [ऋचाओं] का भेद होने से संज्ञा का पार्थक्य युक्त है। और भी, यदि गान रथन्तर है और गान बृहत् है तो यह रथन्तर है, यह बृहत् है, ऐसा पृथक् रूप से संज्ञा का प्रयोग उपपन्न नहीं होता। ऋचाओं के [रथन्तर आदि] नाम होने पर [पार्थक्य] तो उपपन्न होता है।

---

१. द्र०—तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य:। शत० ११।५।७।२,३,४,१०॥

किं च, विकारपृथक्त्वात्तु। (प्रतिसाम च विकारपृथक्त्वात्।)[1] प्रतिसाम च विकारपृथक्त्वं दृश्यते। तदेकत्वाद् गानस्यानुपपन्नम्। संस्कारभेदे हि विकार-पृथक्त्वं दृष्टम्। तद्यथा, अवहन्तेस्तण्डुलीभावः, पिषेश्चूर्णनं। न त्वेकस्य तण्डुली-भावश्चूर्णनं च। अथ ऋङ्नामान्येतानि। तत ऋचां भेदाद् विकारपृथक्त्वं युज्यते। तस्मादृङ्नामानीति। तत उत्तरं पठति—

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद् यथाशिष्टम् ॥१॥ (पू०)

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद् यथाशिष्टमिति। साम्नोऽभिधान-शब्देन यथाशिष्टं प्रवृत्तिः स्यात्। यच्छिष्टं प्रवक्तृभिः शिष्येभ्यः। किं च शिष्टम्? स्तोमादिविशिष्टा ऋक् साम। सा प्रवर्तेत। किं कारणम्? तस्या रथन्तरादि नामधेयमिति ॥१॥

विवरण—अकर्मकाले साम प्रयुज्यते—जब ज्योतिष्टोमादि में साम का प्रयोग होता है तब वेदि में कोई कर्म नहीं होता है।

व्याख्या—और भी, विकार के पार्थक्य होने से। प्रतिसाम विकार का पृथक्त्व देखा जाता है। वह गान के एक होने से उपपन्न नहीं होता। संस्कार-भेद होने पर ही विकार का पृथक्त्व देखा गया है। जैसे—अवहनन का तण्डुलनिष्पत्ति भाव, पेषण का चूर्णन भाव। एक [संस्कार] का तण्डुलनिष्पत्ति और चूर्णनभाव नहीं देखा जाता। और यदि ऋचाओं के नाम हैं तो ऋचाओं के भेद होने से विकार का पृथक्त्व युक्त होता है। इससे [रथन्तर आदि] नाम ऋचाओं के हैं। इसके अनन्तर [सूत्रकार] उत्तर पढ़ते हैं—

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद् यथाशिष्टम् ॥१॥

सूत्रार्थः—(साम्नः) रथन्तर आदि सामों के (अभिधानशब्देन) संज्ञाशब्द के द्वारा गान विशेष में (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (स्यात्) होवे। (यथाशिष्टम्) जैसा कि कहा गया है।

व्याख्या—साम के संज्ञाशब्द होने से प्रवृत्ति होवे यथाशिष्ट। साम की संज्ञा शब्द से यथाशिष्ट प्रवृत्ति होवे। प्रवक्ताओं ने शिष्यों के प्रति जैसा उपदेश किया है। क्या उपदेश किया है? स्तोम आदि से विशिष्ट ऋक् साम होती है। वह ['साम गायति' आदि का निर्देश होने पर स्तोमादि विशिष्ट ऋक्] प्रवृत्त होवे। क्या कारण है? उस [स्तोमादिविशिष्ट ऋक्] की रथन्तर आदि संज्ञा है ॥१॥

---

१. यह कोष्ठान्तर्गतपाठ काशी संस्करण में विना कोष्ठक के है। हमारे विचार में यह अनावश्यक है। संभव है ऐसा ही मानकर पूना सं० के सम्पादक ने इसे कोष्ठक में डाला होगा।

शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात् पृथग्भावात् क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ॥२॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षनिवृत्तौ । न त्वेवं स्याद् ऋचः प्रवृत्तिरिति । कथम् ? इह **कवतीषु रथन्तरं गायति** इति कवतीनां वा कार्येऽभिवत्योऽतिदिश्येरन्, कवतीनां वोपर्याधेयभावेन । तत्र कार्ये तावदतिदेशो न घटते । कुतः ? शब्दैरर्थविधित्वात् । शब्दानामर्थविधानं कार्यम् । न च **कवतीषु रथन्तरं गायति** इति कवतीभिर्योऽर्थोऽभिधीयते, तमभिवत्यः शक्नुवन्ति वक्तुम् । तस्मान्न कार्यातिदेशः । आधेयत्वेऽपि न सम्भवति । पृथग्भावात् । न हि शब्दः शब्दे समवैति, पृथगेवावतिष्ठते । **अभि त्वा, कया न** इति । क्रियाया हि, गानक्रियायाः शब्देनाभिसम्बन्धो भवेन्न शब्दस्य । तस्मादाधेयत्वेनापि नातिदेशः । अतो नायमृचः प्रदेश इति ॥२॥

स्वार्थे वा स्यात् प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ॥३॥ (पू०)

शब्दैस्त्वर्थविधित्वाद् ...... अभिसम्बन्धः ॥२॥

सूत्रार्थः—(तु) तु शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (शब्दैः) रथन्तर आदि शब्दों से (अर्थविधित्वात्) अर्थ की विधि होने से (अर्थान्तरे) ऋक् रूप अर्थान्तर में (अप्रवृत्तिः) रथन्तर आदि शब्दों की प्रवृत्ति न (स्यात्) होवे, (पृथग्भावात्) तत्तद् अर्थ के वाचक 'अभि त्वा' और 'कया न' आदि शब्दों के पृथक् होने से (क्रियायाः) गान क्रिया का (हि) ही (अभिसम्बन्धः) अभिसम्बन्ध होवे।

व्याख्या—तु शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष की निवृत्ति के लिये है। यह इस प्रकार नहीं है कि [रथन्तरादि शब्द से] ऋचा की प्रवृत्ति होवे। किस हेतु से? यहां कवतीषु रथन्तरं गायति में कवती ऋचाओं के कार्य में अभि शब्दवाली [अभित्वा शूर नोनुमः] का अतिदेश होवे, अथवा कवती ऋचाओं के [शब्दों के] ऊपर आधेय भाव से अभिवती ऋचाओं का अतिदेश होवे। इनमें कार्य में अतिदेश नहीं घटता है। किस हेतु से? शब्दों के द्वारा विधि के होने से। शब्दों के अर्थ का विधान करना चाहिये और कवतीषु रथन्तरं गायति में कवती ऋचाओं के द्वारा जो अर्थ कहा जाता है, उसको अभिवती कहने में समर्थ नहीं हैं। इस से कार्य का अतिदेश नहीं है। आधेयत्व में भी सम्भव नहीं है पृथग्भाव होने से। शब्द शब्द में समवेत नहीं होता है, पृथक् ही रहता है—अभि त्वा, कया न इत्यादि [दोनों पृथक् पृथक् शब्द हैं]। क्रिया=गान क्रिया का ही शब्द के साथ सम्बन्ध न होवे। इससे आधेयत्वरूप से भी अतिदेश नहीं हो सकता। अतः यह ऋचाओं का क्षेत्र नहीं है। अर्थात् [रथन्तर आदि से] ऋचाओं का निर्देश नहीं है ॥२॥

स्वार्थे वा...... उपदिश्येरन् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (स्वार्थे) स्व अर्थ

स्वार्थे वा प्रवर्तमाना अभिवत्यः कवतीनामङ्गभावेनोपदिश्येरन्। कथं पुनः कवतीषु गायतीत्यङ्गभावः शक्य उपदेष्टुम्? शक्यो यथा, येन कर्मणेर्त्सेत् तत्र जयान् जुहुयाद्' इति। किं पुनः प्रयोजनं कवतीनामभिवत्यो निर्वर्तयन्तीति? उच्यते। प्रयोजनमदृष्टं कल्प्यम्। कुतः? क्रियायाः। यस्मात् क्रिया श्रूयते—कवतीषु रथन्तरं गायति इति। यथा प्रयाजादीनां प्रयोजनं क्रियायाः।

उच्यते। अयमेवास्मिन् पक्षे दोषो, यत्प्रयोजनं क्रियायाः कल्पयितव्यम्। तस्मादयमपि पक्षो दुःश्लिष्टः ॥३॥

शब्दमात्रमिति चेत् ॥४॥ (आ०)

इति चेत् पश्यसि, कवत्यङ्गभावेनाभिवतीनामुपदेशो दुःश्लिष्ट इति। तेन तर्हि शब्दमात्रं प्रदिश्यताम्। रथन्तरशब्दं कवतीषु प्रयुञ्जीत। कवतीः रथन्तर-

---

में प्रवृत्त हुई अभिवती ऋचाएं कवतीयों के गान में (अङ्गभावेन) अङ्गरूप से (उपदिश्येरन्) उपदिष्ट की जावें, विधान की जावें। (क्रियायाः) 'अभित्वा' आदि ऋक् पाठ का (प्रयोजनम्) फल अदृष्ट कल्प्य है।

व्याख्या—अथवा स्वार्थ में प्रवृत्त हुई अभिवती ऋचाओं का कवती ऋचाओं के अङ्गभाव से उपदेश होवे। तो पुनः कवतीषु गायति में अङ्गभाव का किस प्रकार उपदेश किया जा सकता है? किया जा सकता है। जैसे येन कर्मणेर्त्सेत् तत्र जयान् जुहुयात् (= जिस कर्म से ऋद्धि = समृद्धि की इच्छा होवे, उसमें जयसंज्ञक होमों को करे)। [यहां विहित कर्म के साथ समृद्धि के लिये अङ्गभाव से जय होमों का विधान किया है]। फिर कवती ऋचाओं के किस प्रयोजन को अभिवती ऋचाएं सिद्ध करती हैं? इस विषय में कहते हैं—प्रयोजन 'अदृष्ट' कल्प्य है। किस हेतु से? क्रिया के श्रवण से। जिस कारण क्रिया सुनी जाती है-कवतीषु रथन्तरं गायति। जैसे प्रयाजादि क्रिया का प्रयोजन [अदृष्ट कल्पना] होता है।

इस विषय में कहते हैं—यही इस पक्ष में दोष है जो क्रिया का प्रयोजन कल्पित करना पड़ता है। इसलिये यह भी पक्ष दुःसाध्य है ॥३॥

शब्दमात्रमिति चेत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(शब्दमात्रम्) शब्दमात्र का अतिदेश होवे (इति चेत्) ऐसा माना जाये तो।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि कवती ऋचाओं के अङ्गभाव से अभिवती ऋचाओं का उपदेश दुःश्लिष्ट है, तो इससे शब्दमात्र का कथन करो। रथन्तर शब्द को कवती ऋचाओं में प्रयुक्त करे। कवती ऋचाओं की रथन्तर शब्द अभिलाषा करे। क्या कारण है? शब्द के उच्चरित

---

१. तै० संहितायां (३।४।६।१-३) 'येन कर्मणेर्त्सेत्' इत्युक्त्वा जया होमो विधीयते।

शब्देनाभिलषेदिति । किं कारणम् ? शब्द उच्चरिते तत्र तावन्मुख्या प्रतिपत्तिः, शब्दे कार्यस्यासंभवादर्थे कार्यं विज्ञायते । यथा गामानयेति । इह तु शब्द एव कार्यं सम्भवति, नार्थे । अतोऽत्र शब्दं विज्ञास्यामः ॥४॥

नौत्पत्तिकत्वात् ॥५॥ (आ० नि०)

पूर्वस्मादेष वादः पापीयान् । कस्मात् ? औत्पत्तिकत्वात् । औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः । यः शब्दो यस्मिन्नर्थे औत्पत्तिकेन सम्बन्धेन प्रसिद्धो न स ततोऽन्यं प्रत्याययितुं शक्नोति । न हि गोशब्देनाश्वोऽभिधातुं शक्यते ॥५॥

होने पर पहले मुख्य का ज्ञान होता है। शब्द में कार्य के असम्भव होने से अर्थ में कार्य जाना जाता है। जैसे गामानय [में गो शब्द का आनयन सम्भव न होने पर उसके अर्थ 'गो व्यक्ति' को लाया जाता है] । यहां तो शब्द में कार्य सम्भव है, अर्थ में नहीं । इससे यहां शब्द का संश्लेश जानेंगे ॥४॥

नौत्पत्तिकत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(न) 'न' शब्द पूर्वोक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। रथन्तर आदि संज्ञाओं का विधान नहीं है। (औत्पत्तिकत्वात्) संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के औत्पत्तिक अर्थात् नित्य होने से रथन्तर आदि शब्द के अर्थ का विधायकत्व सम्भव नहीं है ।

व्याख्या-पूर्ववाद से भी यह [रथन्तर आदि संज्ञा विधायक रूप] वाद दुष्ट है । किस हेतु से ? औत्पत्तिक होने से । नाम और नामी के सम्बन्ध के नित्य होने से । जो शब्द जिस अर्थ में नित्य सम्बन्ध से प्रसिद्ध है, वह उस से अन्य [सम्बन्ध] को जताने में समर्थ नहीं है । गो शब्द से अश्व का कथन नहीं किया जा सकता ॥५॥

विवरण—भाष्यकार ने जो लिखा है कि गो शब्द से अश्व का अभिधान नहीं हो सकता, यह लौकिक भाषा में तो उपपन्न हो सकता है, परन्तु वेद में गो शब्द से अश्व का अर्थ अनेक स्थानों पर वेदभाष्यकारों ने किया है। नानार्थार्णवसंक्षेप कोश (भाग १ पृष्ठ ८) के कर्ता केशव स्वामी ने लिखा है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः ।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते ॥

अर्थात् स्कन्दस्वामी ने दोनों लिङ्गों में गो शब्द का अश्व अर्थ अनेक ऋचाओं में किया है । वेंकटमाधव ने भी को अद्य (ऋ० १।८४।१६) ऋचा के भाष्य में गो शब्द का अर्थ अश्व किया है ।

इसका कारण यह है कि वैदिक शब्द अनेक अर्थों के वाचक हैं । गो शब्द सूर्य और

शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ॥६॥

एवं च सत्यतिदेशशास्त्रमनर्थकं स्यात्। अशक्यार्थत्वात्। तस्मान्न शब्द-स्यापि प्रदेशो युक्तः। वृत्तिकारस्तु मेने—'गानशास्त्रमौक्थिक्यमनर्थकं स्याद्' इति। तस्यायमभिप्रायः—सत्यां गतौ नैतावान् प्रयासः शिष्टानामफलोऽभ्युपगन्तुं न्याय्य इति ॥६॥

उसकी रश्मियों का वाचक भी है। इसी प्रकार अश्व शब्द भी सूर्य की रश्मियों का वाचक है। अतः वेद में गो शब्द का अश्व अर्थ किया जा सकता है ॥५॥

शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ॥६॥

सूत्रार्थः—रथन्तर आदि शब्दों का वचन द्वारा अतिदेश करना युक्त नहीं है। क्योंकि (एवम्) इस प्रकार (शास्त्रम्) अतिदेशविधायक शास्त्र (अनर्थकम्) अनर्थक (स्यात्)होवे।

व्याख्या—और इस प्रकार होने पर अतिदेश शास्त्र अनर्थक (=असिद्ध) होवे, अशक्यार्थता के कारण [अर्थात् रथन्तर आदि शब्दों का अन्य अर्थ में अतिदेश करने के अशक्य होने से]। इससे शब्द का प्रदेश भी युक्त नहीं है। वृत्तिकार [उपवर्ष] मानते हैं—गान शास्त्र=औक्थिक्य शास्त्र अनर्थक होवे। उसका यह अभिप्राय है—गति होने पर शिष्टों का इतना प्रयास फलरहित स्वीकार करना न्याय्य नहीं है ॥६॥

विवरण—भाष्यकार शाबरस्वामी ने सूत्रस्थ 'शास्त्र' शब्द का तात्पर्य अतिदेश शास्त्र माना है। वृत्तिकार उपवर्ष ने गान शास्त्र=औक्थिक्य शास्त्र स्वीकार किया है। उक्थ के अध्येता तथा वेत्ता को औक्थिक कहा जाता है(द्र०—अष्टा० ४।२।५९)। उक्थ शब्द के अर्थ में कोशकारों का मतभेद है। सामान्यरूप से उक्थ का अर्थ सामवेद किया जाता है। यादवप्रकाश ने वैजयन्तीकोश (भूमिकाण्ड ब्राह्मणाध्याय श्लोक १११) में शस्त्राण्युक्थानि सामानि स्तोत्राणि लिखा है। शस्त्रों का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है और स्तोत्रों का सामवेद के साथ। उप-निदानसूत्र के अन्त में निदानसूत्र के साथ उक्थशास्त्र का निर्देश है—निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्। निदानसूत्र के आरम्भ में छन्दों की विवेचना है। तो क्या यहां उक्थ शास्त्र का अभिप्राय ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी हो सकता है ? औक्थिकों का आम्नाय औक्थिक्य कहाता है(द्र०—अष्टा० ४।३।१२८)। शबरस्वामी ने औक्थिक्य का अर्थ गान शास्त्र किया है। शाबरभाष्य की भावदीप व्याख्या में 'ऊहसाम निर्णयार्थ उक्थ शास्त्र अनर्थक होवे। इस पक्ष में [योनि] साम का उत्तर दो ऋचाओं में अतिदेश न होवे ऐसा वृत्तिकार ने व्याख्यान किया है।'[1] इस व्याख्या के अनुसार उक्थशास्त्र का सम्बन्ध सामगान से विदित होता है। सत्यां गतौ—

---

१. वृत्तीति ऊहसाम निर्णयार्थं उक्थशास्त्रमनर्थकं स्यात्। अस्मिन् पक्षे साम्न उत्तर-योरतिदेशाभावादिति वृत्तिकारो व्याख्यातवान् इत्यर्थः। भावदीप व्याख्या, पृष्ठ ४४५।

स्वरस्येति चेत् ॥७॥

इति चेत्पश्यसि, नाम्नोऽतिदेशोऽयुक्त इति । तेन तर्हि स्वरस्यातिदेशो भवतु । स्वरः सामशब्देन लोकेऽभिधीयते—सुसामा देवदत्त इति । सुस्वरो देवदत्त इति । स्वरो घोषो नाद इति समानार्थाः । स सामशब्देनोच्यते । साम च रथन्तरम् । तस्मात् तस्यातिदेशः ॥७॥

नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ॥८॥

नैतदेवं, स्वरस्यातिदेश इति । कुतः ? अर्थाभावात् । अर्थस्य—अभिवती-

---

इसका भाव यह है कि गति=प्रयोजन होने पर फलरहित प्रयास करना युक्त नहीं है । गति न होते पर अनर्थक न होवे इस दृष्टि से किसी तात्पर्य की कल्पना की जा सकती है । जैसे कि पातञ्जलमहाभाष्य में बहुत्र अनर्थकं सञ्ज्ञापत्याचार्यः कहकर आचार्य के तात्पर्य विशेष को उद्घाटित किया जाता है ॥६॥

स्वरस्येति चेत् ॥७॥

सूत्रार्थः—(स्वरस्य) स्वर का अतिदेश होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यदि आप यह समझते हैं कि नाम का अतिदेश युक्त नहीं है तो उससे स्वर का अतिदेश हो जावे । स्वर भी साम शब्द से लोक में कहा जाता है—सुसामा देवदत्तः अर्थात् सुष्ठु स्वरवाला देवदत्त है । स्वर घोष नाद ये समान अर्थ वाले हैं । वह (=स्वर) साम शब्द से कहा जाता है और साम रथन्तर है । इसलिये उसका अतिदेश है ॥७॥

विवरण—सुसामा देवदत्तः—'सुसाम' शब्द में सुषामादिषु च (अष्टा० ८।३।९८) नियम से षत्व होना चाहिये । काशिका में—सुषामा ब्राह्मणः उदाहरण दिया है । अतः शाबर-भाष्य में षत्व का अभाव क्या प्रमादजन्य है अथवा अन्य कारण है, यह विचारणीय है । शाबरभाष्य में अनेक ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं जिनका साधुत्व पाणिनीय व्याकरण से नहीं जाना जाता है, फिर भी वे साधु शब्द हैं । यथा—अन्यतमस्मात् (१।१।२४) अन्यतमस्मिन् (१।४।१) अन्यतमत् (२।१।५, ३।८।३८) इत्यादि । इस विषय में हमारी व्याख्या के भाग १, पृष्ठ ७९ की टिप्पणी २ देखें ॥७॥

नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ॥८॥

सूत्रार्थः—(न) स्वर का अतिदेश नहीं है । (श्रुतेः) श्रुति के साथ (अर्थाभावात्) अर्थ का अभाव होने से (असम्बन्धः) सम्बन्ध नहीं है ।

व्याख्या—इस प्रकार से नहीं है—स्वर का अतिदेश होवे । किस हेतु से ? अर्थ का अभाव होने से । अर्थ का=अभिवती के स्वर का कवतीयों में अभाव होने से । (आक्षेप)

स्वरस्य कवतीष्वभावात्। नन्वसन्नेवासावतिदेशेन भाव्यते। उच्यते। भावयितुमपि न शक्यते। न ह्यभिवत्यक्षराणामभिव्यञ्जको नादः कवतीषु भावयितुं शक्यः। यदि भाव्येत, न कवत्यो भवेयुः। न चेद् भाव्यते, न भूतः। कवतीषु रथन्तरं गायतीत्येतस्याः श्रुतेः [1]पदानां परस्परेणाभिसम्बन्धो न स्यात्। तस्मान्न स्वरस्यातिदेशः ॥८॥

स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥९॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। यद्यभिवतीस्वरस्य कवतीषु प्रदेशो नोपपद्यते, अनुवादो भवतु—**कवतीषु रथन्तरं गायति** इति। कथम्? तदुच्यते। इह, कवतीषु रथन्तरं गायतीत्यस्य वाक्यस्य द्वे वचनव्यक्ती भवतः। कवतीषु यद् रथन्तरं तद्गायतीत्येका, रथन्तरं यत् तत् कवतीषु गायतीत्यपरा। तयोर्येषा द्वितीया-रथन्तरं यत् तत् कवतीषु गायतीति। सा स्वरस्य सामत्वे न सम्भवतीत्युक्तम्। न ह्यभि-

---

[अर्थ के] न होते हुए ही यह अतिदेश से उत्पन्न किया जाता है। (समाधान) [अतिदेश से अभिवतीयों के स्वर की कवतीयों में] उत्पत्ति नहीं की जा सकती है [अर्थात् अभिवती ऋचाओं के अक्षरों का अभिव्यञ्जक नाद कवती ऋचाओं में उत्पन्न नहीं किया जा सकता है]। यदि [कवतीयों में अभिवतीयों का नाद] उत्पन्न किया जाये तो वे कवती ऋचाएं न होवें। यदि [अन्य का अन्य में नाद] उत्पन्न नहीं किया जाता है तो वह भूत (=पूर्वतः उत्पन्न हुआ) नहीं है। कवतीषु रथन्तरं गायति इस श्रुति के पदों का परस्पर सम्बन्ध न होवे। इससे स्वर का अतिदेश युक्त नहीं है ॥८॥

स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(तु) तु शब्द पक्षान्तर के लिये है। (स्वरः) अभिवती ऋचाओं का स्वर (उत्पत्तिषु) कवती ऋचाओं के उच्चारण में (स्यात्) होवे (मात्रावर्णाविभक्तत्वात्) अभिवती ऋचाओं में और कवती ऋचाओं में मात्रा और वर्ण के अविभक्त=समान होने से।

व्याख्या—तु शब्द पक्षान्तर की स्वीकृति में है। यदि अभिवती ऋचाओं के स्वर का कवती ऋचाओं में प्रदेश उपपन्न नहीं होता है तो अनुवाद होवे—कवतीषु रथन्तरं गायति। किस हेतु से? इस विषय में कहते हैं—यहां कवतीषु रथन्तरं गायति (=कवती ऋचाओं में रथन्तर का गान करता है). इस वाक्य की दो वचनव्यक्तियां (=दो अभिप्राय) होती हैं। प्रथम—कवती ऋचाओं में जो रथन्तर उसका गान करता है। द्वितीय—जो रथन्तर है उसको कवती ऋचाओं में गाता है। इन दोनों में जो यह द्वितीय 'जो रथन्तर उसे कवती ऋचाओं में गाता है।' वह स्वर के साम होने पर सम्भव नहीं है, ऐसा कह चुके। अभिवती ऋचाओं का

---

१. 'पदान्तरैरभिसम्बन्धः'—पाठान्तरम्।

वतीस्वरः कवतीषु समावेशयितुं शक्य इति। पूर्वा तु सम्भवति। कवतीषु यद् रथन्तरं, तद् गायतीति। ननु साऽपि न सम्भवति। न हि कवतीषु रथन्तरमस्ति। अतः परमुच्यते—स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यात्। स्वरस्त्वभिवतीस्वरः, कवतीनामुत्पत्तिषु—उच्चारणेषु स्यात्। कथम्? मात्रावर्णाविभक्तत्वात्। बह्वो मात्रा वर्णाश्चाभिवतीनां कवतीनां चाविभक्ताः, अभिवतीष्वपि विद्यन्ते कवतीष्वपि। सोऽसावभिवतीस्वरः कवतीषु साधारणवर्णसमवेतो विद्यते, तस्यानुवादोऽयं घटते—कवतीषु रथन्तरं गायति इति। तस्मात् स्वरस्यानुवादः ॥९॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

लिङ्गं च दृश्यत एतस्मिन्नर्थे। अस्ति रथन्तरमुत्तरयोरिति। किं तल्लिङ्गं भवति? एवमाह—**रथन्तरमुत्तरयोर्न पश्यामीति विश्वामित्रस्तपस्तेपे, बृहदुत्तरयोर्न पश्यामीति वसिष्ठ**[1] इति। यच्च विद्यमानं न दृश्यते, तद्दर्शनाय यत्नः[2]

स्वर कवती ऋचाओं में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। पहला अर्थ तो सम्भव है। कवती ऋचाओं में जो रथन्तर है उसका गान करता है। (आक्षेप**) यह अर्थ भी सम्भव नहीं है। कवती ऋचाओं में रथन्तर साम नहीं है। (**समाधान**) इस पर आगे कहते हैं—स्वर तो उत्पत्तियों में होवे। स्वर अर्थात् अभिवती का स्वर तो कवती ऋचाओं की उत्पत्ति=उच्चारण में [सम्भव] होवे। किस हेतु से? मात्रा वर्ण के अविभक्त होने से। बहुत सी मात्राएं और वर्ण अभिवती ऋचाओं के और कवती ऋचाओं के अविभक्त हैं, अर्थात् अभिवती ऋचाओं में भी विद्यमान हैं और कवती ऋचाओं में भी। अतः यह अभिवती ऋचाओं का स्वर कवती ऋचाओं के सामान्य वर्णों में समवेत है। उसका यह अनुवाद हो सकता है—**कवतीषु रथन्तरं गायति**। इसलिये स्वर का अनुवाद है ॥९॥**

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी अभिवती ऋचाओं के स्वर का कवती ऋचाओं में अनुवाद जाना जाता है।

व्याख्या—**इस अर्थ में लिङ्ग भी देखा जाता है—'उत्तर ऋचाओं में रथन्तर हैं'। वह लिङ्ग कौन सा है? इस प्रकार कहते हैं—**रथन्तरमुत्तरयोर्न पश्यामीति विश्वामित्रस्तपस्तेपे, बृहदुत्तरयोर्न पश्यामीति वसिष्ठः **(=उत्तर ऋचाओं में रथन्तर को नहीं देखता हूं, ऐसा जानकर विश्वामित्र ने तप किया। बृहत् को उत्तर ऋचाओं में नहीं देखता हूं, ऐसा जानकर वसिष्ठ ने तप किया)। जो विद्यमान वस्तु नहीं दिखाई पड़ती है, उसके दर्शन के लिये**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. 'प्रयत्नः'—पाठान्तरम्।

क्रियते। यथा घटं न पश्यामीति प्रदीपं करोति, न शशविषाणं न पश्यामीति। तस्मादस्त्युत्तरयो रथन्तरं बृहच्च। तयोरनुवाद इति ॥१०॥

अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ॥११॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदेवम्, स्वरस्यानुवाद इति। कुतः? एवं सत्युत्तरासु विकारो न कश्चिच्छ्रुतो भवति। तदा उत्तरा यथाश्रुताः प्रयोक्तव्याः, यथा स्वाध्यायकाले श्रुताः। तत्र **रथन्तरमुत्तरयोर्गायति** इत्येतदनुवादमात्रमप्रवृत्तिविशेषकरमनर्थकमेवाऽऽपद्यते। अतो न स्वरस्यानुवादो युक्तः ॥११॥

शब्दानां चासामञ्जस्यम् ॥१२॥

रथन्तरादीनां च सामशब्दानामसामञ्जस्यं स्यात्। **रथन्तरमुत्तरयोः,**

यत्न किया जाता है। जैसे—'घट को नहीं देखता हूं' ऐसा जान कर दीपक जलाता है। शशविषाण को नहीं देखता, [ऐसा जानकर कोई दीपक नहीं जलाता]। इससे उत्तर ऋचाओं में रथन्तर और बृहत् साम हैं, उनका यह अनुवाद है [अर्थात् कवती ऋचाओं में रथन्तर का अनुवाद जाना जाता है] ॥१०॥

अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ॥११॥

सूत्रार्थः—(तु) तु शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। यदि उत्तरा ऋचाओं में रथन्तर आदि स्वर विद्यमान होवें तो (उत्तरासु) उत्तर ऋचाओं में (विकारस्य) विकार के (अश्रुतेः) श्रवण न होने से (यथाश्रुति) जैसी स्वाध्यायकाल में ऋचाएं श्रुत हैं, वैसी ही क्रतुकाल में भी प्रयोक्तव्य होवें।

व्याख्या—तु शब्द पूर्व उक्त पक्ष को निवृत्त करता है। 'स्वर का अनुवाद है' ऐसा नहीं है। किस हेतु से? ऐसा होने पर उत्तर ऋचाओं में कोई विकार नहीं सुना जाता है। तब उत्तरा ऋचाएं [क्रतुकाल में] यथाश्रुत (=यथापठित) उच्चरित होवें, जैसे स्वाध्यायकाल में श्रुत हैं। उस अवस्था में रथन्तरमुत्तरयोर्गायति अनुवादमात्र प्रवृत्तिविशेष का करनेवाला न होने से अनर्थक ही होवे। इससे स्वर का अनुवाद युक्त नहीं है ॥११॥

शब्दानां चासामञ्जस्यम् ॥१२।

सूत्रार्थः—(च) और (शब्दानाम्) रथन्तरादि साम शब्दों का (असामञ्जस्यम्) सामञ्जस्य नहीं होगा।

व्याख्या—रथन्तर आदि साम शब्दों का सामञ्जस्य न होवे-रथन्तरमुत्तरयोः, बृहदु-

बृहदुत्तरयोः इति । कथम् ? तदुच्यते । अयं रथन्तरशब्दो बृहच्छब्दो वा स्वरस्य सामशब्दत्वे स्वरसमुदाये आनुपूर्व्याऽवस्थिते स्वरविशेषे प्रयुक्तः । स एकदेशे भिन्नानुपूर्व्ये चासमञ्जसो भवति । तस्मान्नैतद्युक्तम्—स्वरस्य सामशब्दः, तस्य चानुवाद इति । अत्राऽऽह । एवं भवता सर्वे पक्षा निरुद्धाः । ततः किमप्रवृत्तेरेवेति ? उच्यते । ऋच एव प्रदेशो भवतु । ननूक्तं, न शक्या ऋच ऋगन्तरे प्रदेष्टुमिति । बाढं, देशलक्षणा भविष्यति । **कवतीषु रथन्तरं गायति** इत्युच्यते । न च शक्यते कवतीषु रथन्तरं गातुम् । तत्र देशलक्षणा भवति कवतीदेश इति । यथा—अग्नौ तिष्ठति, कूपे तिष्ठतीति । धर्मलक्षणा वा स्यात् । रथन्तरधर्मा वा कवतीषु रथन्तरशब्देनातिदिश्यन्ते । यथा—रथन्तरे **प्रस्तूयमाने पृथिवीं मनसा ध्यायेद्** इत्येवमादयः । यथाऽऽचार्ये प्रोषिते, आचार्यानी भवतामाचार्य इत्याचार्यशुश्रूषाऽऽचार्यान्यामतिदिश्यते ॥१२॥

अपि तु कर्मशब्दः स्याद् भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्
विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः ॥१३॥ (सि०)

त्तरयोः शब्दों का । किस प्रकार से? यह रथन्तर शब्द अथवा बृहत् शब्द स्वर के सामशब्दत्व में स्वरसमुदाय में आनुपूर्वी से अवस्थित स्वरविशेष में प्रयुक्त है । [अर्थात् सामशब्द का स्वर अर्थ स्वीकार करने पर भी आनुपूर्वी से अवस्थित स्वरविशेष में ही प्रयुक्त होता है ।] वह [साम शब्द] एकदेश में और भिन्न आनुपूर्वी में समञ्जस नहीं होता । इसलिये यह युक्त नहीं है कि साम शब्द स्वर का वाचक है और उसका अनुवाद है । (आक्षेप) इस प्रकार से आपने सभी पक्ष निरुद्ध =दूषित कर दिये । ऐसी अवस्था में [यह रथन्तरादि शब्द] किस प्रवृत्तिवाला होगा ?(समाधान)ऋचा के ही प्रदेश में होवे ।(आक्षेप) अभी कहा था —ऋचाएं ऋगन्तर (=भिन्न ऋचाओं) में प्रदेशित (=आदिष्ट)नहीं की जा सकतीं । (समाधान) ठीक है। देशविषयक लक्षणा हो जायेगी —कवतीषु रथन्तरं गायति ऐसा कहते हैं,और कवती ऋचाओं में रथन्तर साम नहीं गाया जा सकता । अतः इस विषय में देशविषयक लक्षणा होगी—कवती ऋचाओं के देश (=स्थान) में । जैसे—अग्नौ तिष्ठति, कूपे तिष्ठति(=अग्नि के समीप कूप के समीप रहता है)। अथवा धर्मनिमित्तक लक्षणा होवे । रथन्तर के धर्म कवती ऋचाओं में रथन्तर शब्द से अतिदिष्ट किये जाते हैं । जैसे—रथन्तर के गान के समय पृथिवीं मनसा ध्यायेत् (=पृथिवी का मन से ध्यान करे) इत्यादि । जैसे आचार्य के देशान्तर में जाने पर आचार्यानी भवतामाचार्यः (आचार्यानी ही आपकी आचार्या है) निर्देश में आचार्य की शुश्रूषा आचार्यानी में अतिदिष्ट होती है ॥१२॥

अपितु कर्मशब्दः स्याद्...... ह्यविशिष्टोऽन्यैः ॥१३॥

---

१. मी० २।१।३६॥

अपि तु नैवं स्यात्—ऋचः सामशब्दः, तस्याश्च प्रदेश इति। तथा देशलक्षणा धर्मलक्षणा वाऽऽश्रयणीया। अगतिश्चैषा यल्लक्षणापरिग्रहः। किं तर्हि? कर्मशब्दः स्यात्। रथन्तरादिर्गानाख्यस्य संस्कारकर्मणो वाचकः। कुतः? उक्तो न्यायः—गीतिषु सामाख्या[1], इत्यत्र। तत्र गीतिविशिष्टायामृचि एष शब्दो दृष्टः। न चागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपपद्यते। तस्माद्विशेषणं तावदभिधीयते। विशेषणप्रत्ययाच्च सहचरिते विशिष्टे प्रत्ययः। अतो नास्ति ऋचः शब्देन संस्पर्श इति। तेनैव न्यायेन गीतिनामधेयमिति ब्रूमः।

किं च प्रसिद्धग्रहणत्वात्। अयं च गायतीति शब्दो गानक्रियायां प्रसिद्धः। का पुनरसौ? शब्दस्योच्चारणविशेषः। गायति गानं करोतीति। तद्ग्रहणश्च रथन्तरादिशब्दः। तद्वचन इत्यर्थः। तेन समुच्चारणाद् द्वितीयासामर्थ्याच्च।

सूत्रार्थः - पूर्व उक्त पक्ष ठीक नहीं है (अपितु) किन्तु (कर्मशब्दः) रथन्तरादि गान रूप संस्कार कर्म का वाचक (स्यात्) होवे। (प्रसिद्धग्रहणत्वात्) प्रसिद्ध गान के ग्रहण से (भावः) भाव [विशेषण रूप गान] (अर्थः) अर्थ है। [यह गानरूप] (विकारः) विकार (अन्यैः) अन्य लौकिक गानों से (अविशिष्टः) अविशिष्ट=तुल्य है। अर्थात् लौकिक गान में जैसे ह्रस्व वर्णों का दीर्घत्व और दीर्घों का ह्रस्वत्व आदि विकार देखा जाता है, उसी प्रकार साम में भी विकार देखा जाता है।

व्याख्या—किन्तु ऐसा नहीं होवे—ऋक् का कहनेवाला साम शब्द है और उसके [ऋचा के] प्रदेश (=स्थान) में प्रयुक्त होता है। तथा देशलक्षणा अथवा धर्मलक्षणा का आश्रयण करना चाहिये [यह भी युक्त नहीं है।] अगतिकगति है जो लक्षणा का स्वीकार करना है। तो क्या होवे? कर्म शब्द होवे। रथन्तर आदि गानरूप संस्कार कर्म का वाचक है। किस हेतु से? न्याय कह चुके हैं – गीतिषु सामाख्या (२।१।३६ सूत्र में)। इस अवस्था में गीतिविशिष्ट ऋचा में यह साम शब्द देखा गया है। विशेषण को जिसने ग्रहण नहीं किया है ऐसी बुद्धि विशेष्य में उत्पन्न नहीं होती है। इसलिये पहले विशेषण का कथन करते हैं। और विशेषण का ज्ञान होने पर सहचरित विशिष्ट अर्थ में बुद्धि उत्पन्न होती है। इसलिये [रथन्तर आदि शब्दों का] ऋचा के साथ संस्पर्श नहीं है। इसी न्याय से [साम शब्द] गीति का वाचक है, ऐसा कहते हैं।

और भी, प्रसिद्ध [अर्थ के] ग्रहण से भी। यह 'गायति' शब्द गान क्रिया में प्रसिद्ध है। वह गान क्रिया क्या है? शब्द का उच्चारण विशेष। गायति का अर्थ होता है—गान करता है। और उस गान का ग्रहण करानेवाला रथन्तर शब्द है, अर्थात् गान का वाचक है। इससे [गायति शब्द के साथ] उच्चारण से और [रथन्तर आदि में] द्वितीया विभक्ति के

---

१. मी० २।१।३६॥

यथा—आसारितकं गायतीति, वर्धमानकं गायतीति। ननु शब्दवचनेनापि समुच्चारणं भवति—गाथां गायति, ऋचं गायतीति? सत्यम्। विपरिणम्य तु शब्दं—गानेन ऋचं संस्करोतीति यथानिपतितेनार्थेन न सम्बध्यते, गानं करोति ऋचमिति। तस्माद् गीतिवचनः। इतश्च गीतिवचनः। कुतः? विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः। विकारश्चात्र ऋग्द्रव्यस्य दृश्यते। ह्रस्वानामक्षराणां दीर्घता, दीर्घाणां च ह्रस्वत्वम्, विवृतानां संवृतत्वं, संवृतानां विवृतत्वम्। सोऽविशिष्टोऽन्यैः संस्कारकर्मभिः। यथाऽवहन्तिना व्रीहीणां तण्डुलीभावः, पिषिणा तण्डुलानां पिष्टीभावः। तस्माच्छब्दानां संस्कारो गानाख्यो रथन्तरादिभिः शब्दैरुच्यते। तस्यायं प्रदेशो **रथन्तरमुत्तरयोर्गायतीत्येवमादिः** ॥१३॥

अद्रव्यं चापि दृश्यते ॥१४॥

सामर्थ्य से [गान विशेष का वाचक होता है]। जैसे—आसारितक को गाता है, वर्धमानक को गाता है। (आक्षेप) शब्दवचन के साथ [जहां केवल शब्दों का कथन होता है] भी [गायति शब्द का] उच्चारण होता है—गाथां गायति, ऋचं गायति। (समाधान) सत्य है। किन्तु शब्द को विपरिणमित करके [गायति शब्द का प्रयोग होता है]—गान से ऋचा को संस्कृत करता है, यथाप्राप्त अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता—गानं करोति ऋचम् (=गाता हैं ऋचा को) ऐसा। इससे [साम शब्द] गीति का वाचक है। किस हेतु से? [सामगान में ऋचाओं का विकार] अन्य विकारों से विशिष्ट नहीं है। यहां ऋग्द्रव्य का विकार देखा जाता है। ह्रस्व अक्षरों की दीर्घता और दीर्घ अक्षरों की ह्रस्वता। विवृत वर्ण का संवृतत्व और संवृत वर्णों का विवृतत्व। यह विकार अन्य संस्कार कर्मों से भिन्न नहीं है। जैसे अवहनन क्रिया से व्रीहियों का तण्डुलीभाव और पेषणक्रिया से तण्डुलों का चूर्णीभाव होता है। इससे गानरूपी शब्दों का संस्कार रथन्तर आदि शब्दों से कहा जाता है। उसका यह निर्देश है—रथन्तरमुत्तरयोर्गायति इत्यादि ॥१३॥

विवरण—विकारश्चात्र ऋग्द्रव्यस्य—यहां ऋचा को द्रव्य कहा है। भाष्यकार अगले सूत्र में कहेंगे कि 'छन्दोग द्रव्य शब्द का ऋक् में व्यवहार करते हैं।' वैयाकरण स्फोटरूप शब्द को द्रव्य मानते हैं और ध्वनि को उसका गुण। महाभाष्य (१।१।७०) में कहा है—स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः[1]। मीमांसक स्फोटरूप शब्द को नहीं मानते। अतः यहां शब्दसमूहरूप जो एकत्वेन प्रतीयमान ऋगादि समुदाय विशेष है उसे द्रव्य मानकर उसके एकदेश में गुणान्तर की कल्पना की है ॥१३॥

अद्रव्यं चापि दृश्यते ॥१४॥

सूत्रार्थः—(च) और साम (अद्रव्यम्) ऋचा रहित (अपि) भी (दृश्यते) देखा जाता है।

---

१. द्र०—स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ ४।

अपि चाद्रव्यं साम दृश्यते । द्रव्यशब्दश्छन्दोगैर्ऋक्ष्वाचरितः । अद्रव्यम्—अनृचमित्यर्थः । अनृचं साम दृश्यते—**प्रजापतेर्हृदयमनृचं गायति** इति । प्रजापतिहृदयं नाम साम । तदनृच्युत्पन्नम् । यदि ऋचि सामशब्दः, कथं प्रजापतिर्हृदयमनृचं स्यात् । अथ गीतावेव[1] सामशब्दस्ततो विनाऽपि ऋचा गीतिर्भवति । तत्रैतदुपपद्यते प्रजापतेर्हृदयमनृचं गायति इति । तस्मादपि गीतिः साम ॥१४॥

ननूक्तं, संस्कारकर्मत्वेऽनर्थकोऽकर्मकाले प्रयोग इति । तत्र ब्रूमः—

तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासामलौकिको विधानात् ॥१५॥

तस्य क्रियाऽकर्मकाले ग्रहणार्था, शिक्षितुमभ्यसितुं च । नानार्थेषु नानाभूतेष्वर्थेषु, भिन्नेष्वित्यर्थः । विरूपित्वात् । आश्रयभेदाद् विविधरूपं यद् गानं भवति,

---

व्याख्या—और भी—द्रव्य रहित साम देखा जाता है । द्रव्य शब्द छन्दोगों (=सामविधियों) द्वारा ऋचाओं में व्यवहृत है । अद्रव्य अर्थात् ऋग् रहित । ऋग्रहित साम देखा जाता है—प्रजापतेर्हृदयमनृचं गायति **(=प्रजापति हृदय नामक साम का बिना ऋचा के गान करता है) । प्रजापति हृदय नामका साम है; वह अनृक् में उत्पन्न है । यदि ऋचा में साम शब्द व्यवहृत होवे तो प्रजापतिहृदय नामक साम ऋक्रहित कैसे होवे ? और यदि गीति अर्थ में ही साम शब्द होवे तो बिना ऋचा के गान होता है । उस अवस्था में यह उपपन्न होता है—**प्रजापतेर्हृदयमनृचं गायति **। इससे भी साम का अर्थ गीति है ॥१४॥**

व्याख्या—जो यह कहा—[साम के] **संस्कार कर्म होने पर कर्मकाल से अन्यत्र अनर्थक प्रयोग होगा, इस विषय में कहते हैं—**

तस्य च क्रिया ·· विधानात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—साम के संस्कार कर्म होने पर भी (तस्य) उस साम का (क्रिया) गान अकर्मफल में (ग्रहणार्था) प्रयोग के लिये=अभ्यास के लिए (च) भी उपपन्न होता है (नानार्थेषु) अनेक प्रकार के अर्थों=ऋचाओं में (विरूपित्वात्) आश्रय भेद से अनेक रूपों वाला होने से । (आसाम्) रथन्तरादि संज्ञाओं का (अर्थः) अर्थ (अलौकिकः) लोक से अविज्ञात है, अतः (विधानात्) विधान=उपदेश से ही इनका स्वरूप ज्ञेय है ।

व्याख्या—**उस (=साम) की क्रिया [गान] कर्म काल से अन्यत्र ग्रहण के लिये है, सीखने के लिये और अभ्यास के लिये । नाना अर्थों में=नानाभूत अर्थों में अर्थात् भिन्न अर्थों में विरूपी=भिन्नरूपवाला होने से । आश्रय के भेद से विविध रूपवाला जो गान होता है वह प्रति**

---

१. 'गीतेः साम' इति पाठान्तरम् ।

तत् प्रत्यृचं शिक्षितव्यमभ्यसितव्यं च प्रयोगप्राशुभावाय। भूमिरथिकवत्। तद्यथा—भूमिरथिको भूमौ रथमालिख्य योग्यतां[1] करोति। सा तस्य[2] प्रयोगकाले सौकर्यमुत्पादयति। अर्थो ह्यासां रथन्तरादिसंज्ञानां न लौकिके व्यवहारे सिद्धः। यथा—अवहन्त्यादीनाम्। कुतः? विधानात्। विधीयते ह्यसौ शिष्योपाध्यायसम्बन्धेन—एवं रूपं रथंतरं भवतीति। न लौकिको विज्ञायते। तस्मान्न परिचोदनैषा, अकर्मकाले प्रयोगादिति ॥१५॥

अथ यदुक्तम्—संज्ञापृथक्त्वादिति। तत्रोच्यते—

तस्मिन् संज्ञाविशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥१६॥

तस्मिन् एकस्मिन्नपि गानाख्ये संस्कारे संज्ञाविशेषा भवेयुः। कुतः? विकारपृथक्त्वात्। [3]तुल्येऽपि गानत्वे गानविशेषो भवति, गानविशेषाच्च संज्ञा-

---

ऋचा सीखने योग्य और अभ्यासयोग्य होता है। प्रयोगकाल(=यज्ञ)में शीघ्रता[से प्रयोग करने]के लिये भूमिस्थ रथ वाले के समान। जैसे—भूमिस्थ रथवाला भूमि पर रथ का आलेखन करके योग्यता को सम्पादित करता है। उसकी वह योग्यता प्रयोग काल में (=युद्ध के समय) सौकर्य उत्पन्न करती है। इन रथन्तर आदि संज्ञाओं का अर्थ लौकिक व्यवहार में सिद्ध नहीं है। जैसा कि अवहनन आदि का। किस हेतु से? विधान करने से। यह [रथन्तर आदि संज्ञा रूप] अर्थ शिष्य उपाध्याय सम्बन्ध से जाना जाता है—इस रूपवाला रथन्तर होता है। यह अर्थ लौकिक नहीं जाना जाता है [अर्थात् लोक से नहीं जाना जाता है]। इससे यह आक्षेप 'अकर्मकाल में प्रयोग होने से' उपपन्न नहीं होता ॥१५॥

विवरण—भूमिरथिकवत्—इसका तात्पर्य यह है कि जैसे युद्धकाल में रथादि की स्थापना की जाती है और युद्ध किया जाता है। उसके शिक्षण के लिये शिक्षुक भूमि पर रथ आदि का लेखन करके सीखने का प्रयत्न करता है, जिससे युद्धकाल में शीघ्रता से शत्रु के रथ आदि पर प्रहार कर सके ॥१५॥

व्याख्या—जो यह कहा—'संज्ञा के पृथक् होने से' इस विषय में कहते हैं—

तस्मिन् संज्ञाविशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(तस्मिन्) गान रूप संस्कार के एक होने पर भी (संज्ञाविशेषाः) भिन्न-भिन्न संज्ञाएं (स्युः) होवें, (विकारपृथक्त्वात्) विकारों के पृथक्-पृथक् होने से।

व्याख्या—उस एक गानरूप संस्कार में भी संज्ञाविशेष होवें। किस हेतु से? विकार के पृथक् पृथक् होने से। गानत्व के समान होने पर भी गानविशेष होता है और गान के विशेष

---

१. 'योग्यां' इति पाठान्तरम्। २. 'तस्य योग्या प्र' इति पाठान्तरम्।

३. 'तुल्येऽपि गाने विशेषो भवति' इति पाठान्तरम्।

पृथक्त्वम्। यथा—आसारितकं, वर्धमानकगीतिः। अन्यथालक्षणाऽऽसारितकगीतिः, अन्यथालक्षणा वर्धमानकगीतिः। एवमिहाप्यन्यथालक्षणा रथन्तरगीतिः, अन्यथालक्षणा बृहद्गीतिः। तस्मात्संज्ञापृथक्त्वम् ॥१६॥

योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥१७॥

से संज्ञा का पार्थक्य देखा जाता है। जैसे—आसरितकगीति और वर्धमानकगीति। अन्य प्रकार की आसारितक गीति होती है और अन्य प्रकार की वर्धमानक गीति। इसी प्रकार यहां भी रथन्तर गीति अन्यरूपा है और बृहद् गीति अन्यरूपा। इस कारण संज्ञा का पार्थक्य है ॥१६॥

विवरण—आसारकगीति और वर्धमानकगीति के लक्षण प्राचीन गानशास्त्रों से ज्ञेय हैं। हमें इसका ज्ञान नहीं है ॥१६॥

योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥१७॥

सूत्रार्थः—(च) और (योनिशस्याः) जो साम की योनिभूत ऋचा भी है और शस्त्रसाधनीभूत ऋचा भी है उसके साथ (तुल्यवत्) समानरूप से (इतराभिः) अयोनिशस्या ऋचाओं का (विधीयन्ते) विधान किया जाता है।

विशेष—शस्या ऋचाएं वे होती हैं जिनका 'शंसति' शब्द से विधान किया जाता है। शंसन नाम शस्त्र का है। शस्त्रों के पाठ में गीति के विना ऋचाओं का पाठ होता है[1]। योनि शब्द से वे ऋचाएं कही जाती हैं, जिनमें कोई साम दृष्ट हो (=उत्पन्न हुआ हो)। साम का प्रयोग स्तोत्र कहलाता है। इसमें ऋचाओं का गीत्यात्मक पाठ होता है।[2] सूत्र का तात्पर्य यह है कि जैसे याम्याः शंसति (=यम देवतावाली ऋचाओं का पाठ करता है), शिपिविष्टवतीः शंसति (=शिपिविष्ट शब्दवाली ऋचाओं का पाठ करता है) में जिस प्रकार शंसन की जानेवाली ऋचाओं का देवता और शब्दविशेष का निर्देश करके ऋचाओं का शंसन कहा है, उसी प्रकार रथन्तरस्य योनिमनुशंसति (=रथन्तर साम की योनिभूत ऋचा का अनुशंसन करता है), बृहतो योनिमनुशंसति (=बृहत् साम की योनिभूत ऋचा का अनुशंसन करता है) वाक्यों में साम की योनिभूत ऋचा का निर्देश करके शंसन कहा है। अर्थात् योनिशस्या ऋचाओं का और अयोनिशस्या ऋचाओं का समानरूप से 'शंसति' क्रिया से विधान देखा जाता है। इससे जाना जाता है कि 'शंसति' और 'स्तौति' शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न व्यवस्थित हैं। प्रगीत मन्त्रवाक्यों में

---

१. शस्त्र का लक्षण 'अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्।' अर्थात् बिना गान किये गये मन्त्र से किसी गुणवान् देवता-आदि में स्थित गुण का कथन करना शस्त्र कहा जाता है।

२. स्तोत्र का लक्षण—'प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्।' अर्थात् गान विशिष्ट मन्त्र से गुणिनिष्ठ गुण का कथन करना स्तोत्र कहाता है।

योनिश्चासौ शस्या च योनिशंस्या। योनिशस्याश्च ऋचः तुल्यवदितराभिरयोनिशस्याभिर्विधीयन्ते। **याम्याः शंसति, शिपिविष्टवतीः शंसति, रथन्तरस्य योनिमनुशंसति, बृहतो योनिमनुशंसति** इति। का तत्र[1] तुल्यता। शंसतिशब्देन विधानम्[2]। इह एतौ स्तौतिशंसतिशब्दौ समानेऽपि स्तुत्यर्थत्वे व्यवस्थितविषयौ। प्रगीतेषु मन्त्रवाक्येषु स्तौतिशब्दः, अप्रगीतेषु शंसतिशब्दः। यथा—**प्रउगं शंसति, निष्कैवल्यं शंसति** इति। **आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते** इति। अतः शंसतिशब्देन विधानादप्रगीतामृचं रथन्तरस्य योनिं दर्शयति। यदि च गीतिः रथन्तरं, ततस्तस्याप्रगीता ऋग्योनिः। अन्यथाऽयं व्यपदेशो नोपपद्यते-**रथन्तरस्य योनिम्** इति। तस्माद् गीतिषु सामाख्या ॥१७॥

स्तौति शब्द का प्रयोग होता है और अप्रगीत मन्त्रवाक्यों में शंसति का। तात्पर्य यह है कि साम शब्द का अर्थ गीति ही है।

व्याख्या—योनिशस्या शब्द का विग्रह है—योनिश्चासौ शस्या [अर्थात् जो ऋचा साम की योनि भी होवे और शस्त्र में शंसनीय भी होवे]। योनिशस्या ऋचा का इतर(=अन्य) अयोनिशस्या ऋचाओं के साथ समान विधान किया जाता है। याम्याः शंसति(=यम देवतावाली ऋचाओं का शंसन करता है), शिपिविष्टवतीः शंसति(=शिपिविष्ट शब्दवाली ऋचाओं का शंसन करता है), रथन्तरस्य योनिमनुशंसति (=रथन्तर साम की योनिभूत ऋचा का शंसन करता है), बृहतो योनिमनुशंसति (=बृहत् साम की योनिभूत ऋचा का शंसन करता है)। [इनमें प्रथम दो उद्धरण अयोनिभूत ऋचाओं के शंसन सम्बन्धी हैं और उत्तर के दो उद्धरण सामविशेष के योनिभूत ऋचा के अनुशंसन सम्बन्धी हैं।] (आक्षेप) इन में क्या तुल्यता है? (समाधान) 'शंसति' शब्द से विधान करना। यहां ये दोनों स्तौति और शंसति शब्द स्तुति अर्थ में समान होने पर भी व्यवस्थित विषय वाले हैं। प्रगीत मन्त्रवाक्यों में 'स्तौति' शब्द प्रयुक्त होता है और अप्रगीत वाक्यों में 'शंसति' शब्द। जैसे—प्रउगं शंसति (=प्रउग संज्ञक शस्त्र का पाठ करता है), निष्कैवल्यं शंसति (=निष्कैवल्य संज्ञक शस्त्र का पाठ करता है), आज्यैः स्तुवते (=आज्य संज्ञक स्तोत्रों से स्तुति करता है), पृष्ठैः स्तुवते (=पृष्ठ संज्ञक स्तोत्रों से स्तुति करता है)। इससे [रथन्तर साम की योनिभूत ऋचा का] 'शंसति' शब्द से विधान करने से रथन्तर की योनिभूत [अप्रगीत] ऋचा को निर्दिशित करता है। यदि गीति रथन्तर होवे तो उसकी अप्रगीत ऋक् योनि हो सकती है। अन्यथा यह निर्देश उपपन्न नहीं होता है—रथन्तर की योनि। इससे गीति में साम संज्ञा है ॥१७॥

---

१. 'नु' इति पाठान्तरम्। २. 'अभिधानम्' इति पाठान्तरम्।

अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनि ॥१८॥

अयोनौ च साम दृश्यते—**स्थाल्यां सक्त्ववधीयत इत्याहुर्यद् बृहद्गायत्रीषु क्रियतेऽपि चैनां रुजति, न चास्यां सम्भवति** इति । बृहतो बृहती योनिः । तस्य गायत्रीषु प्राप्तिर्नास्ति, यदि ऋचः सामशब्दः । अथ नु गीतेः, ततः सा बृहद्गीतिर्गायत्रीषु वचनात् प्राप्ता । तस्या अयमनुवादो घटते—**यद् गायत्रीषु क्रियते** इति । अतथायोनि च साम दर्शयति । यादृशी यस्य योनिस्ततोऽन्यादृशे-**यो वै विच्छन्दसि सामोहति स ऋचं संशृणाति, साम वा विलिशति, साम संशृणाति, ऋचं विलिशति** इति । यतरद् 'अल्पीयस्तस्य विलेशः'[1]। यतरद् वर्षीयस्तस्य संशरः'[2] । तच्च गीतावेव साम्नि युज्यते, न ऋचि । ऊहतिशब्दश्च गीतावेव समर्थो न ऋचि । ऋक्चेत्

अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनि ॥१८॥

सूत्रार्थः—(च) और (अयोनौ) साम की योनिभूत ऋचा में (अपि) भी साम(दृश्यते) देखा जाता है और (अतथायोनि) योनि से भिन्न ऋचा वाला साम भी देखा जाता है ।

विशेष 'अतथायोनि' पद कुतूहलवृत्ति के सूत्रपाठ में नहीं है ।

व्याख्या—अयोनि में भी साम देखा जाता है—स्थाल्यां सक्त्ववधीयत इत्याहुर्यद् बृहद्गायत्रीषु क्रियतेऽपि चैनां रुजति, न चास्यां सम्भवति (=स्थाली में सत्तु रखा जाता है, ऐसा कहते हैं जो बृहत् साम को गायत्री छन्द में किया जाता है और इस [गायत्री ऋक्] को पीड़ा पहुंचाता है और न ही इसमें सम्भव होता है) । बृहत् साम की बृहती छन्द [वाली ऋचा] योनिभूत है । उसकी गायत्री [छन्दवाली ऋक्] में प्राप्ति नहीं है । यदि ऋचा का वाचक साम शब्द होवे और यदि गीति का वाचक होवे तो उससे वह बृहत्[साम सम्बन्धी] गीति गायत्री छन्दों [वाली ऋचाओं] में वचन से प्राप्त होवे । उसका यह अनुकथन उपपन्न होता है—यद् गायत्रीषु क्रियते । और अतथायोनि साम दर्शाता है अर्थात् जिस प्रकार की इस साम की जो योनि है,उससे भिन्न रूपवाली में—यो वै विच्छन्दसि सामोहति स ऋचं संशृणाति, साम वा विलिशति, साम संशृणाति, ऋचं विलिशति (=जो निश्चय से भिन्न छन्द में साम का ऊह करता है, वह ऋचा का संकोच करता है, अथवा साम का विस्तार करता है । साम का संकोच करता है वा ऋचा का विस्तार करता है)। साम और ऋचा में जो छोटा होगा उसका विलेश=विस्तरीकरण होगा और जो बड़ा होगा उसका संकोच । यह गीति में साम शब्द के प्रयोग में युक्त होता है ऋचा में नहीं । ऊहति शब्द भी गीति अर्थ में ही समर्थ है ऋचा में नहीं । यदि ऋक् (=साम) होवे तो वह जैसी आम्नाय में पठित है

---

१. पूना संस्करणे 'वसीयः' पाठः, काशीसंस्करणे 'वर्षीयः' पाठः । उभावप्यपपाठौ ।

२. 'अल्पस्य विस्तीर्णकरणं विलेशः, महतः संकोचः संशरः' इति भाष्यदीपाख्यायां व्याख्यायाम् (हस्तलेख, पृष्ठ ४४८) ।

सैव यथाम्नायं पठ्यते । तत्र नास्त्यूहप्रसङ्गः । तस्मादपि गीतौ सामशब्दः ॥१८॥

यदुक्तं तस्य क्रिया ग्रहणार्थेति । तत्र परिचोद्यते—

ऐकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥१९॥

एकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति । रथन्तरगीतेर्बृहद्गीतिरर्थान्तरम् । तेन रथन्तरगीतौ गृहीतायां बृहद्गीतिरगृहीता भवतीति युक्तो रथन्तरे गृहीते बृहतः शिक्षार्थमकर्मकाले प्रयोगः । रथन्तरगीतेस्त्वेक एवार्थः । तस्य योन्यां प्रयोगे

वैसी पढ़ी जावे । उसमें ऊह का प्रसङ्ग नहीं है । इसलिये भी गीति में साम शब्द है ॥१८॥

विवरण—'संशृणाति' का अर्थ है बड़े को संकुचित करना । संकुचित करने में बड़े के कुछ अंश का लोप=हनन होता है (शृ हिंसायाम्) और 'विलिशति' का अर्थ है अल्प को विस्तीर्ण करना (विगत-लिश अल्पीभावे=अल्पीभाव को छोड़ना) । तात्पर्य यह है कि अधिक अक्षरों वाली अनुष्टुप् (३२ अक्षर) अथवा बृहती (३६ अक्षर) छन्दवाली ऋचा में उत्पन्न साम का अल्प अक्षरवाली गायत्री (२४ अक्षर) छन्द में गान करता है तो बड़े साम के ८ या १२ अक्षरों में गेय भाग का संशर—संकोच करना पड़ेगा अर्थात् उसका लोप होगा । इसी प्रकार गायत्री (२४ अक्षर) छन्दस्क ऋचा में उत्पन्न साम=गीति का अनुष्टुप् वा बृहतीछन्दस्क ऋचा में गीति का विलेश=विस्तार करना होगा । अन्यथा अनुष्टुप् के ८ अक्षर और बृहती के १२ अक्षर सामरहित रह जायेंगे ।

यतरल्पीयस्तस्य विलेशः—काशी संस्करण में यहां 'वर्षीयः' पाठ है और पूना संस्करण में 'वसीयः' दोनों ही प्रसङ्गानुसार उपपन्न नहीं होते अतः हमने शाबरभाष्य की 'क्षीरसमुद्रवासिमिश्र' विरचित 'भाष्यदीप' नाम्नी व्याख्या (हस्तलिखित पृष्ठ ४४८) के अनुसार 'अल्पीयः' पाठ शोधा है । अथवा यहां 'लघीयः' या 'अवर्षीयः' पाठ होना चाहिये ॥१८॥

व्याख्या—और जो कहा—उस (=गीति) की क्रिया ग्रहण के लिये है, उस विषय में आक्षेप किया जाता है—

ऐकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(ऐकार्थ्ये) [गीतिरूप] एक अर्थ होने पर (वैरूप्यम्) विरूपता (नास्ति) नहीं है (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—ऐकार्थ्य होने पर विरूपता नहीं है । रथन्तर गीति से बृहद्गीति अर्थान्तर है । इस कारण रथन्तर गीति के ग्रहण करने पर बृहत् गीति गृहीत नहीं होती । इससे रथन्तर के ग्रहण करने पर बृहत् गीति को सीखने के लिये अकर्मकाल में प्रयोग युक्त है । [परन्तु] रथन्तर गीति का तो एक ही अर्थ है । उस (=रथन्तर गीति) का प्रयोग योनिभूत

शिक्षिते पुनरुत्तरासु न शिक्षितव्यम् । तास्वकर्मकाले प्रयोगः संस्कारकर्मत्वे न युक्तो भवति । तस्मान्न संस्कारस्य सामशब्द इति स्थितायां प्रतिज्ञायां सूत्रेण परिचोदयति ॥१९॥

स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा पाके ॥२०॥

स्याद् वैरूप्यम् । कुत एतत् ? अर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेः । ऋगन्तरेष्वाश्रय[1]भेदाद् भिद्यते, यथा पाके । यथैक एवायमर्थः पाको नाम । तस्यार्थान्तरे वैरूप्यं भवति— अन्यथालक्षण ओदनस्य पाकः, अन्यथालक्षणो गुडस्य । येनौदनपाको गृहीतो नासावशिक्षित्वा गुडं पक्तुं जानाति । तस्मात् तस्याप्यकर्मकाले प्रयोग उपपद्यते ॥ २०॥

शब्दानां च सामञ्जस्यम् ॥२१॥

ऋचा में सीख लेने पर फिर उत्तर ऋचाओं में सीखना आवश्यक नहीं है। अतः उन (= उत्तर ऋचाओं) में अकर्मकाल में प्रयोग संस्कार कर्म होने पर युक्त नहीं होता है। इस से संस्कार का वाचक साम शब्द है, इस प्रतिज्ञा के स्थिर होने पर [प्रस्तुत] सूत्र से आक्षेप करता है ॥१९॥

स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा पाके ॥२०॥

सूत्रार्थः—(अर्थान्तरेषु) भिन्न ऋचाओं में आश्रयभेद से (अनिष्पत्तेः) निष्पत्ति न होने से (स्यात्) अर्थान्तरभेद होवे। (यथा) जैसे (पाके) पाक में। अर्थात् जैसे पाक क्रिया के एक होने पर भी विभिन्न पदार्थों की पाक क्रिया भिन्न होने से उनको सीखना आवश्यक होता है।

व्याख्या—विरूपता होवे। किस हेतु से ? अर्थान्तर में निष्पत्ति न होने से। भिन्न भिन्न ऋचाओं में आश्रय के भेद से [गान में] भेद होता है, जैसे पाक में। जैसे पाकरूपी अर्थ एक ही है [फिर भी] उसकी अर्थान्तर में भिन्नता होती है। ओदन का पाक अन्य प्रकार का है और गुड़ का पाक अन्य प्रकार का है। जिस व्यक्ति ने ओदन का पाक सीख लिया है वह बिना सीखे गुड़ को पकाना नहीं जानता। इससे [उत्तर ऋचाओं में] भी उस (=गान) का अकर्मकाल में प्रयोग उपपन्न होता है ॥२०॥

शब्दानां च सामञ्जस्यम् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(शब्दानाम्) कवती तथा रथन्तर आदि शब्दों का (सामञ्जस्यम्) साम-

---

१. 'आश्रयभेदात् । यथा'—पाठान्तरम् ।

एवं च सामशब्दानामृक्शब्दानां च सामञ्जस्यं भवति। **कवतीषु रथन्तरं गायति** इति, कवतीशब्द ऋच एव वक्ष्यति, रथन्तरशब्दश्च साम। इतरथा कवती-शब्दे वा देशलक्षणा स्यात्, रथन्तरशब्दे वा धर्मलक्षणा। तस्माद् गीतौ सामशब्द इति ॥२१॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



ञ्जस्य (च) भी उपपन्न होता है।

व्याख्या—और इस प्रकार साम शब्दों का और ऋक् शब्दों का सामञ्जस्य उपपन्न होता है। कवतीषु रथन्तरं गायति में कवती शब्द ऋचाओं को ही कहेगा और रथन्तर शब्द साम को ही। अन्यथा कवती शब्द में देशरूपी लक्षणा होगी। अथवा रथन्तर शब्द में धर्मरूपी लक्षणा। इससे गीति में ही साम शब्द है ॥२१॥

सप्तमाध्याये तृतीयः पादः

[अग्निहोत्रादिनाम्नां धर्मप्रदेशकत्वाधिकरणम् ॥१॥]

नाम्ना धर्मप्रदेशं वक्ष्याम इति, आदौ[1] प्रतिज्ञातं सोऽयमुच्यते । कुण्डपायिनामयने श्रूयते—मासमग्निहोत्रं जुहोति[2] इति । तत्रैतत् समधिगतं, नैयमिकादग्निहोत्रात् कर्मान्तरमेतदिति[3] । अधुनाऽग्निहोत्रशब्दश्चिन्त्यते, कथमयं प्रयुक्त इति ? तदर्थमारभ्यते—

उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ॥१॥ (उ०)

उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यादिति । उक्तमादौ

व्याख्या—नाम के द्वारा धर्म का अतिदेश करेंगे ऐसी आरम्भ में प्रतिज्ञा की है (अ० ७ के आरम्भ में, पृष्ठ २०५२) उस विषय में कहते हैं । कुण्डपायिनामयन में सुना जाता है—मासमग्निहोत्रं जुहोति (=महीना भर अग्निहोत्र करता है) । उस विषय में यह जाना गया है (=कह चुके हैं) कि नियमित (=नैत्यिक) अग्निहोत्र से यह [मासाग्निहोत्र] कर्मान्तर है (मी० २।३। अधि० ११) । सम्प्रति अग्निहोत्र शब्द पर विचार किया जाता है कि यह [प्रकृत उद्धरण में] कैसे प्रयुक्त हुआ ? इसके लिये आरम्भ करते हैं—

उक्तं क्रियाभिधानं ... ... स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—अग्निहोत्र शब्द (क्रियाभिधानम्) क्रिया=कर्म का वाचक है, यह (उक्तम्) कह चुके हैं । (तच्छ्रुतौ) उस अग्निहोत्र शब्द के श्रवण होने पर (अन्यत्र) अन्यत्र=कुण्डपायिनामयन के अग्निहोत्र में (विधिप्रदेशः) धर्म का अतिदेश (स्यात्) होवे । अर्थात् नैत्यिक अग्निहोत्र के जो धर्म हैं, उनका अग्निहोत्र नाम से कुण्डपायिनामयन के अग्निहोत्र में भी अग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश होवे ।

व्याख्या—[अग्निहोत्र शब्द] क्रिया का कहने वाला है उसका श्रवण होने पर अन्यत्र धर्म का अतिदेश होवे । आदि में कह चुके हैं [कि अग्निहोत्र शब्द] क्रिया को कहनेवाला है

---

१. सप्तमाध्यायस्यादौ, पृष्ठ २०५२ ।

२. द्र०—मासमग्निहोत्रं जुह्वति । कात्या० श्रौत २४।४।२४; आप० श्रौत २३।१०।६ (अत्र 'जुहोति' पाठान्तरमपि) ।

३. मी० अ० २, पा० ३, अधि० ११, इत्यत्रेति शेषः ।

क्रियाभिधानं कर्मनामधेयमग्निहोत्रशब्द इति—तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्[१] इत्यत्र। तस्यान्यत्र श्रुतौ कौण्डपायिनामयनीये जुहोतौ विधिप्रदेशः स्यात्—धर्मप्रदेशः। नैयमिकस्याग्निहोत्रस्य ये धर्मास्तेऽस्मिन्ननेन नाम्नाऽतिदिश्येरन्। किं कारणम्? उच्यते। परशब्दोऽयं परत्र वृत्तः[२]। परशब्दस्य परत्र वृत्तौ तद्वद्भावो गम्यते। स यत्र विज्ञातो भवति तत्रानूद्यते। यथा—'सिंहो देवदत्तः' इति। यत्राविज्ञातस्तत्र विधीयते। यथा—'अमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्ताम्' इति। इह चाविज्ञातोऽस्य जुहोतेरग्निहोत्रवद् भावः। तस्मात् स विधीयते। मासमग्निहोत्रं जुहोति[३]=अग्निहोत्रवज्जुहोतीति। कथं पुनरसति वतिप्रत्यये वत्यर्थः शक्योऽवगन्तुमिति? उच्यते। साहचर्यात्। अग्निहोत्रशब्दोऽयं कर्मणा सम्बद्धस्तत्सहचरितदोहनादिधर्मवत्तां लक्षणया शक्नोति गमयितुम्। शक्नोति चेद् गमयितुं, प्रदेष्टुमपि शक्ष्यति[४]। एवमन्तरेणापि वतिं वत्यर्थः शक्योऽवगन्तुमिति ॥१॥

अर्थात् कर्म की संज्ञा है अग्निहोत्र शब्द—तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम् (=अग्निहोत्र में अग्निदेवतारूप गुण का कथन करनेवाला अन्य शास्त्र है) इस सूत्र (मी० १।४।४) में। उस (=अग्निहोत्र) का अन्यत्र कुण्डपायिनामयन में 'जुहोति' में श्रवण होने पर विधि का प्रदेश होवे (=धर्म का अतिदेश होवे)। नैत्यिक अग्निहोत्र के जो धर्म हैं, वे इस (=मासाग्निहोत्र) में इस (=अग्निहोत्र) नाम से अतिदिष्ट किये जायें। क्या कारण है? पर शब्द (=अन्यार्थ को कहनेवाला) यह अग्निहोत्र शब्द अन्यत्र प्रवृत्त है। अन्य शब्द के अन्यत्र प्रयोग में तद्वद्भाव जाना जाता है। वह जिस अर्थ में विज्ञात होता है उस अर्थ में अनूदित होता है। जैसे 'सिंहो देवदत्तः' में। जहां पर अविज्ञात होता है वहां विधान किया जाता है। जैसे 'इन पिष्टपिण्डों के सिंह बनाओ'। यहां (=कुण्डपायिनामयन के अग्निहोत्र में) इस 'जुहोति' का अर्थ अविज्ञात है, इसलिये अग्निहोत्रवद्भाव होता है। इससे उस (=तद्वद्भाव) का विधान किया जाता है। मासमग्निहोत्रं जुहोति [का अर्थ है] अग्निहोत्र के समान होम करता है। (आक्षेप) वति प्रत्यय के न होने पर वति प्रत्यय का अर्थ कैसे जाना जा सकता है? (समाधान) साहचर्य से। यह अग्निहोत्र शब्द कर्म के साथ सम्बद्ध है। इससे वह इस के सहचरित दोहन आदि धर्मवत्ता को लक्षणा से बोधित करा सकता है। यदि बोधित करा सकता है तो अतिदेश भी कर सकता है। इस प्रकार विना भी वति प्रत्यय के वति का अर्थ जाना जा सकता है ॥१॥

विवरण—कथं पुनरसति वतिप्रत्यये—इस विषय में महाभाष्य १।२।१ में यही बात इस प्रकार कही है—अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद्यथा—एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं

---

१. मी० अ० १, पा० ४, सू० ४॥ २. 'प्रवृत्तः' इति पाठान्तरम्।
३. 'जुहोतीति' इति पाठान्तरम्। ४. 'शक्नोति' इति पाठान्तरम्।

अपूर्वे वाऽपि भागित्वात् ॥२॥ (पू०)

वाऽपीति विपर्यासेन प्रयुङ्क्ते। अपि वेत्यर्थः। अपि वाऽपूर्वे एते उभे अपि कर्मणी स्यातां, न कौण्डपायिनामयनीयो जुहोतिर्नैयमिकपूर्वः। साधारणं च नामधेयमुभयोः। कुतः? भागित्वात्। अयमपि जुहोतिर्भागी एतस्य नामधेयस्य। यथैव तत्र, 'अग्निहोत्रं जुहोति'[1] इति समुच्चारणम्, एवमिहापि। तत्र तुल्ये समु-

---

ब्रह्मदत्त इत्याह। ते मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति(=विना वति प्रत्यय के भी अतिदेश जाना जाता है। जैसे यह ब्रह्मदत्त है। अब्रह्मदत्त को ब्रह्मदत्त कहा है। इससे जाना जाता है कि यह ब्रह्मदत्तवत् है) ॥१॥

अपूर्वे वाऽपि भागित्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) अथवा (अपूर्वे) नैत्यिक अग्निहोत्र और कुण्डपायिनामयन का अग्निहोत्र दोनों अपूर्व कर्म होवें (भागित्वात्) 'अग्निहोत्र' शब्दभाक् होने से। अर्थात् जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' में अग्निहोत्र शब्द का प्रयोग है, वैसे 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' में भी अग्निहोत्र शब्द के होने से यह भी अपूर्व कर्म का वाचक होवे। यह आक्षेपसूत्र है।

विशेष - सूत्रस्थ वाऽपि शब्द का 'अपि वा' रूप में स्थान परिवर्तन भाष्यकार के अनुसार जानना चाहिये। यह 'अपि वा' पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। सूत्र में शब्दों का क्रमविपर्यास किन्हीं विशेष कारणों से होता है। इस के लिये हमारा व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ २५०, २५१ (चतुर्थ सं०) देखें।

हमारे विचार में विना स्थान परिवर्तन के भी सूत्रार्थ इस प्रकार हो सकता है—

(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (अपूर्वे) नैत्यिक अग्निहोत्र और कुण्डपायिनामयन का मासाग्निहोत्र दोनों अपूर्व कर्म हैं। दोनों के (अपि भागित्वात्) अग्निहोत्र शब्द के भागी होने से अर्थात् उभयत्र समान रूप से अग्निहोत्र शब्द का प्रयोग होने से।

इस सूत्रार्थ में 'अपि' यह सम्भावन अर्थ में है। यह भागित्व हेतु की शक्ति के द्योतनार्थ है। जैसे अपि सिञ्चेत् मूलकसहस्रम् में अपि शब्द मूलक सहस्र के सेचन की शक्तिद्योतनार्थ है।

व्याख्या—[सूत्रकार ने] वा अपि शब्दों का विपर्यास से प्रयोग किया है। अपि वा (=अथवा) यह अर्थ है। अथवा ये दोनों भी अपूर्व कर्म होवें, कुण्डपायिनामयनवाला जुहोति (=अग्निहोत्र)नैत्यिकपूर्व नहीं है। दोनों का साधारण नामधेय है। किस हेतु से?भागी होने से। यह (=मासाग्निहोत्र संबन्धी) जुहोति भी इस (=अग्निहोत्र) नामधेय का भागी है। जैसे वहां 'अग्निहोत्रं जुहोति' का उच्चारण है। इसी प्रकार यहां भी है। उभयत्र तुल्य उच्चारण होने पर उसी (=नैत्यिक) अग्निहोत्र का नामधेय है इस (=मासाग्निहोत्र)का नहीं, इस में

---

१. तै० सं० १।५।९।

च्चारणे तस्यैवैतन्नामधेयं नास्येत्यत्र विशेषहेतुर्नास्ति। तस्मादुभयोः साधारणं नामेति नास्ति धर्मप्रदेशः ॥२॥

नैतद्युक्तम्। कुतः?

नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥३॥ (उ०)

औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः। यन्नाम यस्मिन्नर्थे औत्पत्तिकेन सम्बन्धेन प्रसिद्धं, तस्मिन्नेव सदा विज्ञेयं, नान्यत्र च। तथाऽव्यवस्थायां शब्दार्थे विश्वासो न स्यात्। उक्तम्—'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्'[1] इति। यदा च नोभयार्थस्तदा नैयमिकं तावदाह। तत्सादृश्यविधानार्थं चेतरत्रापि प्रयोग उपपद्यत इति नास्तीतराभिधानत्वे हेतुः। तस्माद् विधिप्रदेशः स्यात् ॥३॥

विशेष हेतु नहीं है। इससे दोनों का साधारण नाम है। धर्म का अतिदेश नहीं है ॥२॥

विवरण—जुहोतिर्नैयमिकपूर्वः—इस का तात्पर्य यह है कि कुण्डपायिनामयन में श्रुत 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' वचनस्थ 'जुहोति' नैत्यिक अग्निहोत्र की आकांक्षा रख के प्रयुक्त नहीं हुआ है ॥२॥

व्याख्या—यह (=पूर्व उक्त पक्ष) युक्त नहीं है। किस हेतु से?

नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(तु)तु शब्द पूर्व उक्त पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। (नाम्नः)नाम का [अर्थ के साथ सम्बन्ध] (औत्पत्तिकत्वात्) नित्य होने से।

विशेष—औत्पत्तिक शब्द का अर्थ नित्य है, यह मीमांसा १।१।५ के भाष्य में कह चुके हैं।

व्याख्या—नाम और नामी का सम्बन्ध नित्य ही है। जो नाम जिस अर्थ में नित्य सम्बन्ध से प्रसिद्ध है, उसी में सदा जानना चाहिये, अन्य अर्थ में नहीं। तथा अव्यवस्था होने पर शब्दार्थ के विषय में विश्वास नहीं होवे। कहा है—अन्यायश्चानेकार्थत्वम् (=एक शब्द का अनेक अर्थ होना अन्याय है) (द्र०—मीमांसाभाष्य १।३।३०)। और जब दोनों अर्थ नहीं हैं तब पहले नैयमिक अग्निहोत्र को कहेगा। और उसके सादृश्य से विधान के लिये अन्यत्र भी प्रयोग उपपन्न होता है। इससे अन्य (=मासाग्निहोत्र) के कथन में हेतु नहीं है, इस से विधि का अतिदेश होवे ॥३॥

विवरण—नान्यत्र च का अर्थ 'अन्यत्र नहीं' यह भी हो सकता है। आगे 'यदा च नोभ-

---

१. इदं वचनं भाष्यकारो बहुत्रोद्धृतवान्। यथा—१।३।३०; २।१।१२; ३।२।१; ५।४।१४; ६।१।२२। अयमेवार्थः ७।३।१४; १०।१।२७,४२ भाष्ये शब्दान्तरैरुक्तः।

[1]अत्राऽऽह । कस्मात् पुनस्तन्नामधेयमिदमिह प्रयुक्तमित्युच्यते, न पुनरेतन्नामधेयं तत्रेति ? तत आह—

प्रत्यक्षाद् गुणसंयोगात् क्रियाभिधानं स्यात् तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥४॥ (उ०)

नैयमिकेऽग्निहोत्रे प्रत्यक्षो गुणसंयोगः । प्रत्यक्षविहिता धर्माः सन्ति । इत्थं दोग्धि, इत्थं श्रपयति, चतुरुन्नयति, खादिर्यग्निहोत्रसमिद्भवति, इत्थं जुहोति, एतस्मिन् काले जुहोतीत्येवं प्रत्यक्षाद् गुणसंयोगान्नैयमिकस्य तन्नामधेयम् । इह प्रयुज्यमानं दोहनादिक्रियाभिधानं स्यात् । धर्मप्रदेशकमित्यर्थः । अस्य पुनर्जुहोतेर्न केचिद्धर्माः सन्ति । तदभावे—तेषां धर्माणामभावे, अप्रसिद्धं स्यात् । न प्रज्ञायेत, किमर्थमयमग्निहोत्रशब्द इह प्रयुक्त इति ।

एवं वा । प्रत्यक्षो गुणसंयोगो, नैयमिकस्य द्रव्यदेवतासंयोगः । दध्ना

यार्थः' के निर्देश से ऊपर निर्दिष्ट व्याख्या भी युक्त है ॥३॥

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—फिर किस हेतु से आप 'यह नामधेय यहां (=मासाग्निहोत्र में) प्रयुक्त हुआ है' ऐसा कहते हैं और यह (=मासाग्निहोत्रवाला अग्निहोत्र) नाम वहां (='अग्निहोत्रं जुहोति' में) प्रयुक्त नहीं हुआ ? इस विषय में कहते हैं—

प्रत्यक्षाद् गुणसंयोगात् क्रियाभिधानं स्यात् तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः - नैयमिक अग्निहोत्र में (प्रत्यक्षात्) प्रत्यक्ष (गुणसंयोगात्) गुण के संयोग होने से (क्रियाभिधानम्) कर्म को कहनेवाला (स्यात्) होवे । (तदभावे) गुण के संयोग के अभाव में (अप्रसिद्धम्) अप्रसिद्ध (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—नैयमिक(=नियम से होनेवाले नित्य) अग्निहोत्र में प्रत्यक्ष गुण संयोग है । उसमें प्रत्यक्षविहित धर्म हैं । इस प्रकार से दुहता है, इस प्रकार से पकाता है, चार बार उन्नयन करता है, अग्निहोत्र की समित् खैर की होती है, इस प्रकार होम करता है, इस काल में होम करता है इत्यादि प्रत्यक्ष गुणों के संयोग से नैयमिक होम का वह (=अग्निहोत्र) नामधेय है । यहां प्रयुक्त हुआ [अग्निहोत्र से] दोहनादि क्रिया को कहनेवाला होवे । अर्थात् धर्मों का अतिदेशक होवे । और इस 'जुहोति' के कोई धर्म नहीं है । उनके अभाव में=उन धर्मों के अभाव में [यह अग्निहोत्र शब्द] अप्रसिद्ध होवे । यह नहीं जाना जाये कि किसलिये यह अग्निहोत्र शब्द यहां प्रयुक्त हुआ है ।

अथवा, प्रत्यक्ष गुणसंयोग है,नैयमिक का द्रव्यदेवता के साथ संयोग है । दध्ना जुहोति

---

१. 'तत्राऽऽह' इति पाठान्तरम् ।

जुहोति,[1] पयसा जुहोति,[2] अग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति[3] इति। एतस्मात् प्रत्यक्षाद् गुणसंयोगात् क्रियाभिधानं स्यात्। कर्मनामधेयम्। इत्थंरूपो जुहोतिरग्निहोत्राख्य इति। [4]अथेतरजुहोते रूपं नास्ति। तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात्, न ज्ञायेत कीदृशं तदग्निहोत्रमिति। ननु मासोऽस्य रूपं भविष्यति। न मासः कर्माङ्गं, कर्तृधर्मः सः। अपि च, अग्निहोत्रं तु मासे विधीयते, न मासेनाग्निहोत्रं रूप्यते। तस्मान्नैयमिकस्यैतन्नामधेयमितरत्र तद्वदतिदेश इति ॥४॥



[प्रायणीयनाम्नो धर्मानतिदेशकत्वाधिकरणम् ॥२॥]

किमेष एवोत्सर्गः, सर्वं कर्मनामान्यत्र श्रूयमाणं धर्माणां ग्राहकमिति। एवं

(=दही से होम करता है), पयसा जुहोति (=दूध से होम करता है), अग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति (=अग्नि और प्रजापति देवता के लिये सायंकाल होम करता है), इस प्रत्यक्ष गुणसंयोग से कर्म का वाचक होवे, कर्म का नाम होवे। इस रूप वाला 'जुहोति' अग्निहोत्रसंज्ञक है। और इतर (=मासाग्निहोत्र प्रयुक्त) जुहोति का रूप नहीं है। रूप के अभाव में नहीं जाना जायेगा कि यह अग्निहोत्र कैसा (=किस रूप वाला) है। (आक्षेप) 'मास' उसका रूप हो जायेगा। (समाधान) मास कर्म का अङ्ग नहीं है। वह कर्त्ता का धर्म है। और भी—अग्निहोत्र का मास में विधान किया जाता है न कि मास से अग्निहोत्र रूप वाला बताया जाता है। इससे नैयमिक अग्निहोत्र का यह नामधेय है अन्य का तद्वदतिदेश है ॥४॥

विवरण—मासोऽस्य रूपम्—इसका तात्पर्य यह है कि कुण्डपायिनामयन मासमग्निहोत्रं जुहोति का अर्थ है—महिना भर होम होता है। इस प्रकार मास अग्निहोत्र का अङ्ग होने से यह अग्निहोत्र रूप वाला हो जायेगा। कर्तृधर्मः सः—'अग्निहोत्रं मासं यावत् करोति' अर्थ होने से यह कर्त्ता के साथ सम्बद्ध है, उसका धर्म है ॥४॥



व्याख्या—क्या यही उत्सर्ग है—सब कर्मनाम अन्यत्र श्रूयमाण धर्मों के ग्राहक होते

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य। तै० ब्रा० २।१।५।६॥
२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—पयसाऽग्निहोत्रं जुहोति। काठक सं० ६।१॥
३. अग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति। द्र०—मै० सं० १।८।७॥
४. 'अर्थान्तरस्य जुहोतेः' इति पाठान्तरम्।

खलु प्राप्तम् । एवं प्राप्त इदमारभ्यते—

अपि वा सत्रकर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ॥५॥ (सि०)

गवामयने श्रूयते-**वैश्वानरो ज्योतिष्टोमः**[1] **प्रायणीयमहर्भवति**[2] इति । अस्ति तु द्वादशाहे प्रथममहः प्रायणीयं नाम—**प्रायणीयोऽतिरात्रः**[3] इति । तयोर्नानात्वं तेनैव न्यायेन सिद्धं **प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्**[4] इति ।

तत्रायं प्रायणीयशब्दः परत्रापि श्रूयमाणो न धर्माणां ग्राहकः । किं तर्हि ? गुणार्थैषा श्रुतिः । कथम् ? लक्षणया नामधेयं धर्माणां ग्राहकमुक्तम् । असति च श्रुत्यर्थे लक्षणार्थो ग्राह्यः । इह तु श्रुत्यर्थ एव सम्भवति । गुणार्थ एष शब्दः । गुणेन —क्रियायोगेन, तस्मिन् कर्मणि श्रुत्यैव प्रयुज्यते—प्रयन्ति अनेनेति प्रायणीयं, प्रवर्तन्तेऽनेन सत्र इति । वाक्यशेषश्चास्यैतमेवार्थमाह-**ज्योतिरेव पुरस्ताद् दधाति**[5]

हैं । ऐसा निश्चय ही प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर यह आरम्भ करते हैं—

अपि वा सत्रकर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) ऐसा नहीं है । (सत्रकर्मणि) सत्रसंज्ञक कर्म में (एषा) यह (श्रुतिः) श्रुति (गुणार्था) गुणार्थ (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—गवामयन में सुना जाता है—वैश्वानरो ज्योतिष्टोमः प्रायणीयमहर्भवति (=वैश्वानर देवताक ज्योतिष्टोम प्रायणीय नामवाला दिन होता है) । द्वादशाह में प्रायणीय नामवाला प्रथम दिन है—प्रायणीयोऽतिरात्रः । इन दोनों (=प्रायणीयों) का नानात्व उसी न्याय से सिद्ध है—प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् (=प्रकरणान्तर में श्रूयमाण शब्द प्रयोजनवाला होता है) ।

वहां यह प्रायणीय शब्द अन्यत्र भी श्रूयमाण धर्मों का ग्राहक नहीं है । तो क्या है ? गुण के विधान के लिये यह श्रुति है । किस हेतु से ? लक्षणा से संज्ञा धर्मों की ग्राहिका होती है, यह कह चुके हैं । श्रुत्यर्थ के सम्भव न होने पर लाक्षणिक अर्थ ग्राह्य होता है । यहां तो श्रुत्यर्थ ही सम्भव है । गुण के लिये यह शब्द है । गुण से=क्रिया के योग से उस कार्य में [प्रायणीय शब्द] श्रुति से ही प्रयुक्त है । प्रगति करते हैं जिससे वह प्रायणीय अर्थात् सत्र में जिससे प्रवृत्त होते हैं । वाक्यशेष भी इसके इसी अर्थ को कहता है—ज्योतिरेव पुरस्ताद्

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अग्निष्टोमो वैश्वानरः । तै० सं० ५।५।१।३॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—प्रायणीयमेतदहर्भवति । तां० ब्रा० ४।२।१॥

३. अनुपलब्धमूलम् । ऐ० ब्राह्मणे (४।१७) तु गवामयनप्रकरणे 'यथा वा प्रायणीयोऽतिरात्रः' इत्येवमतिदेश उपलभ्यते ।

४. मी० २।३।२४॥ ५. तै० सं० ७।४।६।२॥

इति। येन ज्योतिः प्रायणीयं भवति, तेन ज्योतिः पुरस्तात् क्रियत इत्यर्थः—**ज्योतिरेव पुरस्ताद् दधाति** इति। तस्मान्नायमतिदेशः ॥५॥

———

[विश्वजिति षाडहिकषट्पृष्ठातिदेशाधिकरणम् ॥३॥]

विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवति[1] इति श्रूयते। तत्र विचार्यते—किमयमनुवादो

दधाति (=ज्योति को ही पहले करता है)। जिससे ज्योति प्रायणीय होता है इस कारण ज्योति को पहले किया जाता है। यह अर्थ है—ज्योतिरेव पुरस्ताद् दधाति का। इससे यह अतिदेश नहीं है ॥५॥

विवरण—प्रायणीयमहर्भवति—सायणाचार्य ने तां० ब्रा० ४।२।१ के भाष्य में लिखा है—'प्रायणीयसंज्ञक द्वितीय अहः अनुष्ठेय होता है। यद्यपि श्रुत्यन्तर में प्रथम विहित अतिरात्र की प्रायणीय संज्ञा प्रसिद्ध है, तथापि प्रथम और उत्तम (=अन्त्य) अतिरात्रों के सर्वत्र साधारण होने से इसी (द्वितीय अहः) का ही गवामयन में असाधारण प्राथम्य होने से इसी आदि वाला गवामयन का स्वरूप है।'[2] इससे द्वितीय दिन में ही प्रायणीय शब्द प्रयुक्त है।

प्रथममहः प्रायणीयं नाम—द्वादशाहसंज्ञक सत्र में अतिरात्र का प्रथम दिन मानकर सुत्या के आह्वान में अद्य सुत्या पढ़ने का उल्लेख किया है। **प्रयन्त्यनेनेति**—प्रायणीय का यह क्रियारूपी गुण से अर्थ गवामयन सत्र एवं द्वादशाह सत्र दोनों में समान रूप से उपपन्न होता है। द्वादशाह सत्र गत प्रायणीय का प्रायणीयत्व भाष्यकार ने स्वयं दर्शा दिया है—**प्रवर्तन्तेऽनेन सत्र इति**। गवामयनगत प्रायणीय का प्रायणीयत्व तां० ब्रा० ४।२।२ में इस प्रकार दर्शाया है—**प्रायणीयेन वा अह्ना देवाः स्वर्गं लोकं प्रायन्ति प्रायंस्तत् प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्**। **ज्योतिरेव पुरस्ताद् दधाति**—यह वचन तै० सं० ४।६।२ में षट्त्रिंशद् रात्र सत्र के प्रकरण में है ॥५॥

———

व्याख्या—विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवति (=विश्वजित् सर्व पृष्ठवाला होता है)

---

१. द्र०—विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रो भवति। तै० सं० ७।२।५।६॥

२. आगे ७।३।२६ सूत्र के भाष्य के अन्त में गवामयन के ३६१ दिनों का विवरण दिया है, उसमें प्रायणीय अतिरात्र प्रथम दिन है। उक्त विवरण हमने श्री पूज्य गुरुवर चिन्नस्वामीजी कृत यज्ञतत्त्वप्रकाश के आधार पर दिया है। वह सम्भवतः सायण के 'यद्यपि श्रुत्यन्तर में प्रथम विहित अतिरात्र की प्रायणीय संज्ञा प्रसिद्ध है' के अनुसार होता है।

विधिर्वेति। किं प्राप्तम्? अनुवाद इति। कुतः?

विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्यौतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ॥६॥ (पू०)

यो ह्यसर्वपृष्ठतस्य सर्वपृष्ठता विधेया। यस्तु सर्वपृष्ठ एव, तस्य तया किं विहितया? अयं च सर्वपृष्ठ एव। कथम्? तत्पूर्वकत्वात्। ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात्। ज्यौतिष्टोमिकानि स्तोत्राण्यत्र प्राप्यन्ते। तेषु माहेन्द्रस्तोत्रादीनि चत्वारि सन्ति। तानि सर्वाण्यस्य। तैरयं सर्वपृष्ठो भवति। ननु न तानि पृष्ठानि? उच्यते। अस्ति च पृष्ठशब्दः। तेष्वस्ति पृष्ठशब्दः। सप्तदशानि पृष्ठानि[1] इति। तस्मादनुवादः ॥६॥

षडहाद्वा तत्र हि चोदनाः ॥७॥

ऐसा सुना जाता है। उसमें विचार करते हैं—क्या यह अनुवाद है अथवा विधि है? क्या प्राप्त होता है? अनुवाद है। किस हेतु से?

विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्यौतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ॥६॥

सूत्रार्थः—(विश्वजिति) विश्वजित् [अतिरात्र] याग में (सर्वपृष्ठे) सर्वपृष्ठ के प्राप्त होने से अनुवाद है। (तत्पूर्वकत्वात्) ज्योतिष्टोम प्रकृति होने से चोदकप्राप्त (ज्योतिष्टोमिकानि पृष्ठानि) ज्योतिष्टोमविषयक पृष्ठों का अनुवाद किया जाता है (च) और (पृष्ठशब्दः) पृष्ठ शब्द माहेन्द्रादि स्तोत्रों में भी (अस्ति) है।

व्याख्या—जो असर्वपृष्ठ है उसकी सर्वपृष्ठता विधेय होवे। जो सर्वपृष्ठ ही है उसके विधान करने से क्या प्रयोजन? यह तो सर्वपृष्ठ है ही। किस प्रकार? तत्पूर्वक होने से=ज्योतिष्टोमपूर्वक होने से। ज्योतिष्टोम सम्बन्धी स्तोत्र यहां प्राप्त होते हैं, उनमें माहेन्द्र स्तोत्र आदि चार स्तोत्र हैं। वे सब इस विश्वजित् के हैं। उनसे यह सर्वपृष्ठ होता है। (आक्षेप) वे (=माहेन्द्रादि स्तोत्र) पृष्ठ नहीं हैं। (समाधान) पृष्ठ शब्द है=उनमें पृष्ठ शब्द है—सप्तदशानि पृष्ठानि (=सत्रह पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र होते हैं)। इससे अनुवाद है ॥६॥

षडहाद् वा तत्र हि चोदनाः ॥७॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द अनुवाद पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (षडहाद्) षडहसंज्ञक याग से अतिदेश विधि है (तत्र) षडह में (हि) निश्चय से पृष्ठों की (चोदनाः) चोदनाएं हैं।

---

१. तां ब्रा० २०।१।१॥ २१।६।१॥

नायमनुवादः। किं तर्हि? विधिः। अनुवादोऽप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः स्यात्। अपि च, ज्योतिष्टोमे न पृष्ठबहुत्वमस्ति, यस्यायमनुवादः स्यात्। षडहे तु तदस्ति। तत्र हि चोदनाः पृष्ठानां, **रथन्तरं पृष्ठं भवति**[1] इत्येवमाद्याः। तस्मात् षाडहिकानामातिदेशिको विधिरिति ॥७॥

लिङ्गाच्च ॥८॥

लिङ्गं चैतमर्थं दर्शयति—**पवमाने रथन्तरं करोति, आर्भवे बृहत्। मध्ये इतराणि। वैरूपं होतुः साम, वैराजं मैत्रावरुणस्य, रैवतं ब्राह्मणाच्छंसिनः शाक्वरमच्छावाकस्य**[2] इति विनिवेशपरे वाक्ये षाडहिकानि पृष्ठानि दर्शयति ॥८॥

अथ यदुक्तम्, अस्ति च पृष्ठशब्द इति। तत्र ब्रूमः—

उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ॥९॥

व्याख्या—यह अनुवाद नहीं है। तो क्या है? विधि है। अनुवाद विशेष प्रवृत्ति का करानेवाला न होने से अनर्थक होवे। और भी—ज्योतिष्टोम में पृष्ठों का बहुत्व नहीं है, जिसका यह अनुवाद होवे। षडह याग में वह (=पृष्ठों का बहुत्व) है। वहां पर विधियां हैं पृष्ठों की – रथन्तरं पृष्ठं भवति (=रथन्तर पृष्ठ होता है) इत्यादि। इसलिये षडह में विद्यमान पृष्ठों की यह आतिदेशिक विधि है ॥७॥

विवरण—तत्र हि चोदनाः—हमें षडह में रथन्तरं पृष्ठं भवति चोदनाएं उपलब्ध नहीं हुई। सुबोधिनी वृत्तिकार ने 'रथन्तर बृहत् वैरूप वैराज रैवत शाक्वर' इन छः पृष्ठों की षडह में चोदनाएं हैं, ऐसा लिखा है ॥७॥

लिङ्गाच्च ॥८॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी षडह के पृष्ठों की अतिदेश विधि है।

व्याख्या—इस अर्थ को लिङ्ग भी दर्शाता है—पवमाने रथन्तरं करोति, आर्भवे बृहत्, मध्ये इतराणि, वैरूपं होतुः साम, वैराजं मैत्रावरुणस्य, रैवतं ब्राह्मणाच्छंसिनः शाक्वरमच्छावाकस्य (=पवमान में रथन्तर करता है, आर्भव में बृहत्, मध्य में अन्य, होता का वैरूप साम, मैत्रावरुण का वैराज साम, ब्राह्मणाच्छंसी का रैवत साम और अच्छावाक का शाक्वर साम)। इस विनिवेशपरक वाक्य में षडह सम्बन्धी पृष्ठों को दर्शाता है ॥८॥

व्याख्या—और जो यह कहा कि पृष्ठ शब्द है, उसमें कहते हैं—

उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ॥९॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

न त्वेष औत्पत्तिकः पृष्ठशब्दः। उत्पन्नानां स्तोत्राणामसावधिकारः। यान्येतानि पृष्ठानीति। ज्ञाते च तेषां पृष्ठत्वे तदुपपद्यते, न च तत्र ज्ञातम्। कथं तर्ह्ययमनुवादः? लिङ्गसमवायात्। एकं तत्र माहेन्द्रस्तोत्रमिति। षाडहिकानां पुनः पृष्ठत्वं ज्ञातम्। कथम्? तत्र हि चोदनेत्युक्तम्[1]। तेषां वादे, श्रौतः पृष्ठशब्दस्यार्थः परिगृहीतो भवति। इतरथा लाक्षणिकः। तस्मात् षाडहिकानां प्रदेश इति ॥९॥

द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥१०॥

इति चेत्पश्यसि षाडहिकानां पृष्ठानां विधिरिति, नैतद्युक्तम्। किं कारणम्?

सूत्रार्थः—(ज्योतिष्टोमः) ज्योतिष्टोम (उत्पन्नाधिकारः) उसमें विहित बृहत् पृष्ठ आदि पृष्ठस्तोत्रों का अधिकारवाला है। अर्थात् ज्योतिष्टोम में बृहत् पृष्ठ और रथन्तर पृष्ठ का ही निर्देश है।

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने सूत्र का पाठ उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमे पाठ मानकर अर्थ किया है—'ज्योतिष्टोम में माहेन्द्रादि चार स्तोत्रों में पृष्ठशब्द उत्पन्नाधिकार=उत्पन्न स्तोत्रों को अधिकृत करके प्रवृत्त हुआ है पृष्ठैः स्तुवते' इत्यादि को, न कि उत्पद्यमान स्तोत्रों को अधिकृत करके।' विशेष व्याख्या वहीं देखें।

व्याख्या—यह उत्पत्ति अवस्थावाला पृष्ठ शब्द नहीं है। उत्पन्न स्तोत्रों का ही अधिकारवाला ज्योतिष्टोम है, जो ये पृष्ठ हैं। और उनके (=माहेन्द्र आदि स्तोत्रों के) पृष्ठत्व ज्ञात होने पर यह (=सर्वपृष्ठत्व कथन) उपपन्न हो सकता है और वहां (=ज्योतिष्टोम में) माहेन्द्रादि का पृष्ठत्व ज्ञात नहीं। तो फिर यह [सप्तदशानि पृष्ठानि भवन्ति] अनुवाद कैसे है? लिङ्ग के सम्बन्ध से। वहां एक माहेन्द्र स्तोत्र है। षडह में होनेवाले स्तोत्रों का पृष्ठत्व ज्ञात है। किस हेतु से? वहां विधि है, यह कह चुके हैं। उनके कथन में पृष्ठ शब्द श्रुत्युक्त अर्थ वाला परिगृहीत होता है अन्यथा लाक्षणिक अर्थ गृहीत होवे। इससे षडह सम्बन्धी पृष्ठों का अतिदेश है ॥९॥

द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(द्वयोः) दोनों की अर्थात् ज्योतिष्टोम में विकल्प से विहित बृहत् और रथन्तर पृष्ठ के समुच्चय की (विधिः) विधि (इति चेत्) होवे तो।

व्याख्या—यदि यह मानते हो कि षडह में विद्यमान पृष्ठों की यह [सर्वता रूप] विधि है तो यह ठीक नहीं है। क्या कारण है? इस प्रकार सर्वपृष्ठ शब्द दो का विधायक

---

१. द्र०—सूत्र ७।३।७॥

द्विकर एवं सर्वपृष्ठशब्दोऽभ्युपगतो भवति, पृष्ठानि च विदधाति, तेषां च सर्वत्वम्। अस्तु, को दोषः ? असम्भव इत्याह। यदि पृष्ठशब्दः पृष्ठानि विदधाति, सर्वशब्देन न शक्यते विशेषयितुम्। अथानुवदति, तथा शक्यते। पृष्ठानि त्वविहितानि भवन्ति। तेष्वसत्सु कस्येदं सर्वत्वं विधीयते। उभयक्रियायाश्चासम्भवः। अथात्र बृहद्रथन्तरयोर्विकल्पेन प्राप्तयोः सामस्त्यं केवलं विधीयते—**सर्वपृष्ठो भवति** इति। उभे अपि बृहद्रथन्तरे भवतो नैकमिति। ततोऽयं दोषो न भवति। तस्माद् द्वयोरधिकारः ॥१०॥

न व्यर्थत्वात् सर्वशब्दस्य ॥११॥

नैवमेतत्। कुतः? व्यर्थत्वात् सर्वशब्दस्य। एवं सति सर्वशब्दो व्यर्थो भवति, अर्थशून्यः। अयं हि बहुविषयो द्वयोर्न युज्यते। षाडहिकानां तु विधाने नैष दोषः।

स्वीकार करना होता है—पृष्ठों का विधान करना होता है और उनका सर्वत्व। [दो का विधायक] होवे, क्या दोष है ? असम्भव दोष है। यदि पृष्ठ शब्द पृष्ठों का विधान करता है तो सर्वशब्द से विशेषित नहीं किया जा सकता अर्थात् सर्वपृष्ठों का विशेषण नहीं बन सकता। और यदि [पृष्ठों का] अनुवाद है तो वैसा हो सकता है अर्थात् सर्व पृष्ठों का विशेषण बन सकता है (=पृष्ठों का सर्वत्व कहा जा सकता है)। परन्तु पृष्ठ तो अविहित रहते हैं। उन के [अविहित] होने पर किस के सर्वत्व का यह (सर्वपृष्ठं भवति) सर्वत्व का विधान करता है। दोनों क्रियाओं का असम्भव है अर्थात् पृष्ठता का भी विधान करे और उनकी सर्वता का भी। यदि यहां विकल्प से प्राप्त होने वाले बृहद् और रथन्तर की सम्पूर्णता केवल कही जाती है—सर्वपृष्ठ होता है=बृहद् और रथन्तर दोनों होते हैं एक नहीं। तो यह (द्विकरत्व=दो का विधान करना) दोष नहीं होता है। इसलिये दो का अधिकार है अर्थात् दो का ही सर्वत्व कहा जाता है ॥१०॥

न व्यर्थत्वात् सर्वशब्दस्य ॥११॥

सूत्रार्थः—(न) दो का अधिकार होने से उनका सर्वत्व कहा है, ऐसा नहीं है, (सर्वशब्दस्य) सर्वशब्द के (व्यर्थत्वात्) व्यर्थ होने से। अर्थात् सर्वशब्द का विषय बहुत्व है। अतः उसका सम्बन्ध दो से नहीं हो सकता।

व्याख्या—**यह ऐसा नहीं है [कि दो का अधिकार होने से उनका सामस्त्य कहा है]। किस हेतु से ? व्यर्थ होने से सर्वशब्द के। ऐसा होने पर अर्थात् दो की विधि मानने पर सर्वशब्द व्यर्थ होता है, अर्थशून्य [होता है]। यह [सर्वशब्द] निश्चय ही बहुविषयक दो में युक्त नहीं होता है। षडह में विद्यमान [पृष्ठों के सर्वत्व] विधान में तो दोष नहीं है। (आक्षेप)**

ननु च तत्रापि द्विकरः शब्दो भविष्यति। उच्यते। न भविष्यति। सर्वत्वं केवलं पृष्ठानां विधास्यति, न पृष्ठानि। ननूक्तं--पृष्ठेष्वसत्सु कस्येदं सर्वत्वं विधीयत इति। उच्यते। पृष्ठानां सर्वत्वं हि विहितम्। तत् सम्पादयितव्यम्। न च पृष्ठान्यकुर्वता तत् सम्पादयितुं शक्यते। तत्रार्थात् पृष्ठानि करिष्यति। एवं न द्व्यर्थः शब्दो भविष्यति। सर्वशब्दश्च समर्थितः। तस्मात् षाडहिकानामतिदेश इति॥११॥

———

[अवभृथनाम्नः सौमिकावभृथधर्मातिदेशकत्वाधिकरणम् ॥४॥]

वरुणप्रघासेषु श्रूयते—वारुण्या निष्कासेन तुषैश्चावभृथं यन्ति[1] इति। तत्र सन्देहः। किं दार्शपूर्णमासिकेऽपां व्युत्सेके तुषनिष्कासं विधीयत उत सौमिकादव-

---

वहां (=षाडहिक पृष्ठों के विधान में) भी द्विकर (=दो का विधायक) शब्द होगा। (समाधान) [षाडहिक पृष्ठों के सर्वत्व विधान में दो का विधायक शब्द] नहीं होगा। पृष्ठों का केवल सर्वत्व का विधान करेगा, पृष्ठों का विधान नहीं करेगा। (आक्षेप) हमने कहा था[2] पृष्ठों के न होने पर किसके सर्वत्व का यह विधान किया जाता है? (समाधान) पृष्ठों के सर्वत्व का ही विधान किया है। वह(=पृष्ठों का सर्वत्व) सम्पादित करना चाहिये। पृष्ठों को न करते हुए से वह [सर्वत्व] सम्पादित नहीं किया जा सकता। वहां अर्थ सामर्थ्य से पृष्ठों को करेगा। इस प्रकार [विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवति] शब्द दो अर्थवाला (=दो का विधायक) नहीं होगा। और सर्वशब्द भी समर्थित हो जाता है। इसलिये षडह के पृष्ठों का अतिदेश है॥११॥

———

व्याख्या—वरुणप्रघास में सुना जाता है वारुण्या निष्कासेन तुषैश्चावभृथं यन्ति (=वरुण देवता सम्बन्धी पयस्या के खुरचन और तुष से अवभृथ को जाता है)। यहां सन्देह है—क्या दर्शपूर्णमास सम्बन्धी अपों के व्युत्सेक में तुष और निष्कास का विधान किया जाता है अथवा सौमिक अवभृथ से धर्म का अतिदेश कहा जाता है। क्या युक्त है? दर्शपूर्णमास सम्बन्धी

---

१. द्र०—तुषैश्च निष्कासेन चावभृथमवैति। तै० ब्रा० १।६।५।५॥ वारुण्यै निष्कासेन तुषैश्चावभृथं यन्ति। आप० श्रौ० ८।७।१४, वारुणीनिष्काषेणावभृथम्। कात्या० श्रौ० ५।६। २८॥ निष्कास निष्काष इत्युभयथा प्रयुक्तौ दृश्येते।

२. ७।३।१० में कहा है—पृष्ठानि च विदधाति। अर्थात् अविद्यमान पृष्ठों का विधान करता है।

भृथाद् धर्मातिदेश इति ? किं युक्तम् ? दार्शपूर्णमासिके गुणविधिः । एवं संनिहितप्रत्ययोऽनुगृह्यते । संनिहितो ह्यसौ चोदकेन प्रापितः । ननु नासाववभृथः ? उच्यते । अस्ति तत्रावभृथशब्द इति । **एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथः**[1] इति । एवं प्राप्त इदमाह—

तथाऽवभृथः सोमात् ॥१२॥ सि०

[अपों के व्युत्सेक] में गुणविधि है अर्थात् तुष और निष्कास का विधान है । इस प्रकार समीपस्थ ज्ञान अनुगृहीत होता है । और यह सन्निहित [अपों का व्युत्सेक] चोदक से प्राप्त है । (आक्षेप) **यह [अपों का व्युत्सेक] अवभृथ नहीं है ।** (समाधान) **उस में अवभृथ शब्द है—एषवै** दर्शपूर्णमासयोरवभृथः (**=यह निश्चय ही दर्शपूर्णमास का अवभृथ है**) **। ऐसा प्राप्त होने पर यह कहा है—**

विशेष—निष्कासेन—वारुणी पयस्या (खीर) के पाक के समय पात्र के अधः भाग में जो पयस्या का अंश लग जाता है उसे निष्कास या निष्काष कहते हैं(द्र० का० श्रौ० ५।६।२८ की व्याख्या) । **तुषैः**—मेष मेषी के लिये यव के पिष्ट का विधान है । उस के लिये यवों को कूटने से जो तुष निकलते हैं उनका यहां ग्रहण अभिप्रेत है । **अवभृथं यन्ति**—सोमयाग में प्रधानकर्म अर्थात् सोम रस] से तीनों सवनों में याग के पश्चात् अगले दिन अवभृथ संज्ञक कर्म होता है। इसके लिये यजमान ऋत्विजों के साथ समीपस्थ नदी तालाब आदि के समीप जाकर जल में होम करता है । यह अवभृथेष्टि कही जाती है । तदनन्तर यजमान उसी जल में स्नान करता है यह अवभृथस्नान कहाता है । यतः यह स्नान सोमयाग के अन्त में होता है अतः इसे यज्ञान्त स्नान भी कहते हैं । इसी समय सोमयाग में जो-जो पात्र सोम से लिप्त होते हैं (=यज्ञकाल में जिन पात्रों के साथ सोम का सम्बन्ध हुआ है) उन को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है । प्रकृतवचन में श्रुत अवभृथ शब्द ही विचारणीय है । **अपां व्युत्सेके** दर्शपूर्णमास में अन्त्य से कुछ पूर्व अध्वर्यु प्रणीता में स्थित जल को वेदि के मध्य प्राची आदि दिशा में सतत धारा के रूप में छोड़ता है, यह यहां अपों का व्युत्सेक कहा गया है (द्र०—आप० श्रौत ४।१४।३-४) । तै० सं० १।७।५।३ में 'पूर्णपात्रम्' का निर्देश है । सायण के अनुसार जल से पूरित प्रणीता का ही यहां तात्पर्य है । इस विषय में आप० श्रौत ८।७।१२ का सूत्र और रुद्रदत्त की व्याख्या द्रष्टव्य है । **एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथः**—वेदि के मध्य में प्रणीता के जल का निनयन=सेचन ही दर्शपूर्णमास का अवभृथसंज्ञक कर्म है ।

तथाऽवभृथः सोमात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(तथा) जैसे पूर्व अधिकरण में षडह से पृष्ठों का अतिदेश होता है वैसे ही

---

1. तै० सं० १।७।५।३॥

तथाऽवभृथः सोमात् । यथा षडहात्पृष्ठानामतिदेश एवं सौमिकादवभृथादिह धर्मातिदेशः । कुतः ? अभिहितो न्यायः, **उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्याद्**[1] इति ॥१२॥

प्रकृतेरिति चेत् ॥१३॥

अथ यदुक्तं, दार्शपौर्णमासिकेऽवभृथे गुणविधिर्भवत्विति । तस्य कः परिहार इत्याभाषान्तं सूत्रम् ॥१३॥

न भक्तित्वात् ॥१४॥

नैतद्युक्तम् । कुतः ? यतो नास्ति दर्शपूर्णमासयोरवभृथः । ननु, **एष वै दर्श-**

यहां चातुर्मास्य के वरुणप्रघास में (सोमात्) सोम याग से (अवभृथः) अवभृथ के धर्म अतिदिष्ट होते हैं ।

विशेष—सूत्र में 'अवभृथः' प्रथमान्त है । साहचर्यलक्षणा से यहां अवभृथ शब्द से अवभृथ सहचरित तद्धर्मों का अतिदेश अभीष्ट है ।

व्याख्या—उसी प्रकार अवभृथ सोम से अतिदिष्ट होता है जैसे षडह से पृष्ठों का अतिदेश कहा है उसी प्रकार सौमिक अवभृथ से यहां धर्मों का अतिदेश होता है । किस हेतु से ? न्याय कह चुके हैं—उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् (७।३।१) क्रिया=अग्निहोत्रादि क्रिया का अभिधान=नाम=नामधेयत्व कहा है (१।४।४ अधि० ३) अन्यत्र कुण्डपायियों के अयन में उस अग्निहोत्र नाम के श्रवण से विधि=धर्म का अतिदेश होता है ॥१२॥

प्रकृतेरिति चेत् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(प्रकृतेः) दर्शपूर्णमास के अवभृथ के गुणों की विधि (इति चेत्) मानी जाये तो ।

व्याख्या—जो यह कहा—दर्शपूर्णमास के अवभृथ में गुण विधि होवे । उस का क्या परिहार है ? यह आभाषान्त (=आशंका) सूत्र है ॥१३॥

न भक्तित्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—[प्रकृति=दर्शपूर्णमासस्थ अवभृथ की गुणविधि है] यह (न) युक्त नहीं है । (भक्तित्वात्) दर्शपूर्णमासस्थ अवभृथ के गौण होने से ।

व्याख्या—यह युक्त नहीं है । किस हेतु से ? यतः दर्शपूर्णमास में अवभृथ नहीं है ।

---

१. मी० ७।३।१॥

पूर्णमासयोरवभृथ इति श्रूयते। सत्यं श्रूयते, न त्वेवमवभृथत्वमस्य भवति। कथम्? उच्यते। **एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथ** इत्येतस्य वाक्यस्य द्वयी वचनव्यक्तिः। निर्ज्ञातावभृथत्वस्य वा पदार्थस्य दर्शपूर्णमाससम्बन्ध उच्यते। यथा देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पुत्र इति, निर्ज्ञातपुत्रत्वस्य देवदत्तस्य यज्ञदत्तसम्बन्ध उच्यते। निर्ज्ञातसम्बन्धस्य वाऽनिर्ज्ञातावभृथत्वस्यावभृथत्वम्। यथा, अयमाम्रो यज्ञदत्तस्य पुत्र इति। निर्ज्ञातयज्ञदत्तसम्बन्धस्याऽऽम्रपुत्रत्वमुच्यते।

तदस्यापां व्युत्सेकस्य दर्शपूर्णमाससम्बन्धः प्रकरणान्निर्ज्ञातो, नावभृथत्वम्। अतोऽस्यावभृथत्वमुच्यते। न चायमवभृथः। नन्वयमप्यवभृथो भवतु। नैतद्युक्तम्। अन्यायो ह्यनेकार्थत्वम्। कथं तर्हि शब्दयोगः? सादृश्यात्। किं सादृश्यम्? अप्सु सम्बन्धः। स एष भक्त्या प्रशंसावादोऽपां व्युत्सेकस्य, अवभृथ इवायमिति, यथा,

---

(आक्षेप) एष वै दर्शपूर्णमासयोवभृथः ऐसा सुना जाता है। (समाधान) सत्य है, सुना जाता है। इस प्रकार (=इस श्रवण से) इस का अवभृथत्व होता है। कैसे? एष वं दर्शपूर्णमासयोरवभृथः इस प्रकार इस वाक्य की दो वचन व्यक्तियां होती हैं। निर्ज्ञात अवभृथत्व रूप पदार्थ का दर्शपूर्णमास सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे 'देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है'। यहां निर्ज्ञात पुत्र रूप देवदत्त का यज्ञदत्त के साथ सम्बन्ध कहा जाता हैं। अथवा निर्ज्ञात सम्बन्ध का अनिर्ज्ञात अवभृथत्व का अवभृथत्व कहा जाता है। जैसे—यह आम्र यज्ञदत्त का पुत्र है। निर्ज्ञात यज्ञदत्त संबन्ध वाले आम्र का पुत्रत्व कहा जाता है।

विवरण—द्वयी वचनव्यक्तिः—दो अर्थ की प्रतीति होती है। १—निर्ज्ञात है अवभृथत्व जिस सौमिक पदार्थ का, उस का दर्शपूर्णमास सम्बन्ध कहा जाता है अर्थात् निर्ज्ञात सौमिक अवभृथ दर्शपूर्णमास का होता है। जैसे पुत्ररूप से निर्ज्ञात देवदत्त का यज्ञदत्त संबन्ध कहा जाता है—यह देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है। २- निर्ज्ञात सम्बन्ध वाले दर्शपूर्णमास के अपों के व्युत्सेक का, जिसका अवभृथत्व ज्ञात नहीं है उसका अवभृथत्व कहा जाता है। जैसे आम्र और यज्ञदत्त के सम्बन्ध के ज्ञात होने पर आम्र का जो पुत्रत्व अव निर्ज्ञात है उसका पुत्रत्व सम्बन्ध कहना।

व्याख्या—इस अपों के व्युत्सेक का दर्शपूर्णमास सम्बन्ध प्रकरण से निर्ज्ञात है [उसका] अवभृथत्व अनिर्ज्ञात है। इस से उसका अवभृथत्व कहा जाता है। यह [दर्शपूर्णमासस्थ जलों का व्युत्सेक] अवभृथ नहीं है। (आक्षेप) यह भी अवभृथ होवे? (समाधान) यह युक्त नहीं है। [शब्द का] अनेकार्थत्व अन्याय है। (आक्षेप) तो [दर्शपूर्णमासस्थ जलों के व्युत्सेक में अवभृथ] शब्द का प्रयोग कैसे हुआ है? (समाधान) सादृश्य से। (आक्षेप) [दोनों में] सादृश्य क्या है? (समाधान) [दोनों में] जलों के साथ सम्बन्ध। यह ही भक्ति से प्रशंसापरक कथन है अपों के उत्सेक का, यह अवभृथ के सदृश है। जैसे—आम्र में पुत्रवाद (=पुत्रत्व

आम्रे पुत्रवादः। तस्मान्नास्ति दर्शपूर्णमासयोरवभृथः। अतो नात्र गुणविधिः ।१४।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

लिङ्गं चैतमर्थं दर्शयति। किं लिङ्गं भवति? एवमाह—**नाऽऽयुर्दा जुहोति, न साम गायति, न वा गमनमन्त्रं जपति**[1] इति, सौमिकावभृथधर्माणां प्रतिषेधं ब्रुवंस्तद्धर्मप्राप्तिं दर्शयति। तस्मात् सौमिकादवभृथाद् धर्मप्रदेश इति ॥१५॥



का कथन)। इसलिये दर्शपूर्णमास में अवभृथ नहीं है। इस लिये यहां गुणविधि नहीं है ॥१४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी वरुणप्रघास में सोमीय अवभृथ के धर्मों का अतिदेश होता है।

व्याख्या—लिङ्ग भी इसी अर्थ को दर्शाता है। (आक्षेप) क्या लिङ्ग होता है? (समाधान) ऐसा कहा है—नाऽऽयुर्दा जुहोति, न साम गायति, न वा गमनमन्त्रं जपति (=आयुर्दा आदि मन्त्र से होम नहीं करता, साम नहीं गाता, और न गमनमन्त्र जपता है) से सौमिक अवभृथ से कर्मों के प्रतिषेध को कहता हुआ उस (=सौमिक अवभृथ) के धर्मों की प्राप्ति को दर्शाता है। इसलिये सौमिक अवभृथ से धर्मों का अतिदेश होता है ॥१५॥

विवरण—नाऽऽयुर्दा जुहोति—शाबरभाष्य तथा आप० श्रौत ८।७।१७ रुद्रदत्त वृत्ति सहित में नायुर्दा ऐसा ही पाठ है। रुद्रदत्त ने स्पष्ट रूप से एक होम का प्रतिषेध किया है। यद्यपि धूर्तस्वामी भाष्य रामाण्डार वृत्ति सहित मैसूर के संस्करण में सूत्रपाठ में नायुर्दा पाठ ही छपा है, परन्तु धूर्तस्वामी ने आयुर्दाग्रहणेन प्रयास्यतो होमानां प्रतिषेधः व्याख्या की है। इस की वृत्ति में रामाग्निचित् ने स्पष्ट लिखा है—नायुर्दा इति बहुवचननिर्देशात् होमत्रय-निवृत्तिः तुल्यकालत्वात्। यहां एक होम का प्रतिषेध है या तीन होमों का, इस में विद्यावृद्ध ही प्रमाण हैं। न साम गायति—चातुर्मास्य में प्रस्तोता का अभाव होने से सामगान स्वतः अप्राप्त है। अप्राप्त सामगान का ही यहां प्रतिषेध जानना चाहिये। न वा गमनमन्त्रं भवति—अवभृथ के लिये प्रमाण करते हुए उरुं हि राजा का जप करते हैं ॥१५॥



---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—नायुर्दा नाभिप्रव्रजनमन्त्रं न साम गायति। आप० श्रौत ८।७।१७॥

[वारुणप्रघासिकावभृथस्य तुषनिष्कासद्रव्यकत्वाधिकरणम् ॥५॥]

वारुणप्रघासिकोऽवभृथः सौमिकादवभृथाद्धर्माणां ग्राहक इत्युक्तम्। तत्रेदं चिन्त्यते—किं पुरोडाशद्रव्यकोऽसावुत तुषनिष्कासद्रव्यक इति? किं प्राप्तम्? पुरोडाशद्रव्यक इति। कुतः? नाम्ना पुरोडाशः प्राप्यते। ननु प्रत्यक्षश्रुतं तुषनिष्कासम्? सत्यं प्रत्यक्षश्रुतं, न तु शक्यते विधातुम्। अवभृथोऽत्र विधीयते, **अवभृथं यन्ति** इति। यदि तुषनिष्कासमपरं विधीयते, ततो वाक्यं भिद्येत। अवभृथं यन्ति, तच्च तुषनिष्कासेनेति। तुषनिष्कासश्रवणमिदानीं किमर्थम्? अनर्थकम्। सम्बन्धाभावात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ॥१६॥ (सि०)

द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः। द्रव्यादेशे, एतस्मिंस्तुषनिष्कासेनावभृथं यन्तीति।

व्याख्या—वारुणप्रघासिक अवभृथ सौमिक अवभृथ से धर्मों का ग्राहक होता है यह (पूर्व अधिकरण में) कहा जा चुका है। उस विषय में यह विचार किया जाता है—क्या पुरोडाश द्रव्य वाला यह [अवभृथ] है अथवा तुष और निष्कास द्रव्यवाला? क्या प्राप्त होता है? पुरोडाश द्रव्यवाला है। किस हेतु से? नाम (=अवभृथ] से पुरोडाश प्राप्त होता है। (आक्षेप) [यहां] तुष निष्कास प्रत्यक्ष श्रुत हैं। (समाधान) सत्य है तुष निष्कास प्रत्यक्ष श्रुत हैं, परन्तु विधान नहीं किये जा सकते। यहां अवभृथ का विधान है—अवभृथं यन्ति। यदि अन्य तुष निष्कास का विधान किया जाता है तो वाक्यभेद होवे—अवभृथं यन्ति (=अवभृथ को जाते हैं) तच्च तुषनिष्कासेन (=और वह गमन तुषनिष्कास के साथ होवे)। (आक्षेप) तो तुषनिष्कास का यहां श्रवण किस लिये है? अनर्थक है, सम्बन्ध का अभाव होने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(द्रव्यादेशे) तुषनिष्कास द्रव्य का आदेश होने पर (तद्द्रव्यः) वह तुषनिष्कास द्रव्य होवे (श्रुतिसंयोगात्) 'तुषनिष्कासैश्चावभृथ यन्ति' श्रुति का संयोग होने से (पुरोडाशः) आवभृथक पुरोडाश (तु) तो (अनादेशे) प्रत्यक्ष तुषनिष्कास का कथन न होने पर (तत्प्रकृतित्वात्) वारुणप्राघासिक अवभृथ के सौमिक अवभृथ प्रकृति वाला होने से अतिदेश से प्राप्त होवे।

व्याख्या—द्रव्य के आदेश होने पर वह द्रव्य होवे। द्रव्यादेश में, इस तुषनिष्कासैश्चावभृथं यन्ति वचन से वह द्रव्य होवे, तुषनिष्कास द्रव्य होवे। किस हेतु से? श्रुति

तद्द्रव्यः स्यात्, तुषनिष्कासद्रव्यः। कुतः? श्रुतिसंयोगात्। तुषनिष्कासं प्रत्यक्षश्रुतं, पुरोडाशस्त्वानुमानिकोऽतिदेशेन प्राप्यते।

ननु पुरोडाशोऽपि प्रत्यक्षश्रुतो नाम्ना। यद्यपि प्रत्यक्षश्रुतः, सामान्येन तु प्राप्यते]। तुषनिष्कासं नु विशेषेण। बाध्यते च सामान्यं विशेषेण। अपि च लक्षणया पुरोडाशो गम्यते, श्रुत्या तुषनिष्कासम्। श्रुति लक्षणयोश्च श्रुतिर्न्याय्या। तस्मात् तुषनिष्कासद्रव्यकम्। अथ यदुक्तम्—न सम्बध्यतेऽवभृथेन तुषनिष्कासं, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति। तत्र ब्रूमः—यद्यवभृथं विहाय तुषनिष्कासं विधीयते, ततो वाक्यभेदः स्यात्। तुषनिष्कासद्रव्यकोऽपूर्वोऽवभृथश्चोद्यते। तथा, सगुणकर्मविधानमविरुद्धम्। अविधीयमाने च तुषनिष्कासे तद्ग्रहणमनर्थकमेव स्यात्। तस्मात्तुषनिष्कासद्रव्यकः। पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात्। यद्यत्र प्रत्यक्षश्रुतं न द्रव्यं स्यात् ततः पुरोडाशस्तत्प्रकृतित् वात्स्यात्। अत्र तु प्रत्यक्षश्रुतं तुषनिष्कासम्। तस्मान्न पुरोडाशः ॥१६॥

———

का संयोग होने से। तुषनिष्कास प्रत्यक्ष श्रुत हैं, पुरोडाश तो आनुमानिक है, अतिदेश से प्राप्त होता है।

(आक्षेप) [अवभृथ] नाम से पुरोडाश भी प्रत्यक्ष श्रुत है। (समाधान) यद्यपि प्रत्यक्ष श्रुत है, [नाम के] सामान्य होने से प्राप्त होता है, तुषनिष्कास तो विशेषरूप से प्राप्त होता है। सामान्य विशेष से बाधा जाता है। और भी, पुरोडाश लक्षणा से जाना जाता है, तुषनिष्कास श्रुति से। श्रुति और लक्षणा में श्रुति न्याय्य होती है। इसलिये [वारुण प्राघासिक अवभृथ] तुषनिष्कास द्रव्यवाला है। (आक्षेप) और जो हमने कहा—अवभृथ से तुषनिष्कास सम्बद्ध नहीं होता है, वाक्यभेद की प्राप्ति होने से। (समाधान) इस विषय में हम कहते हैं—यदि अवभृथ को छोड़कर तुषनिष्कास का विधान करते हैं तो वाक्यभेद होवे। तुषनिष्कास द्रव्य वाला अपूर्व अवभृथ का यहां विधान किया जाता है। तथा गुणसहित कर्म का विधान विरुद्ध नहीं है और तुषनिष्कास के विधीयमान न होने पर (=विधान न करने पर) उसका ग्रहण (=निर्देश) अनर्थक ही होवे। इसलिये तुषनिष्कास द्रव्यवाला [प्रकृत अवभृथ] है। पुरोडाश तो अनादेश (=विधान न करने पर) होवे उस (=सौमिक अवभृथ की) प्रकृति वाला होने से। यदि यहां प्रत्यक्ष श्रुत द्रव्य न होवे तब पुरोडाश होवे उस प्रकृति वाला (=सौमिक अवभृथ प्रकृति वाला) होने से। यहां तो प्रत्यक्ष श्रुत तुषनिष्कास द्रव्य है। इसलिये पुरोडाश [इस अवभृथ का द्रव्य] नहीं है ॥१६॥

———

[वैष्णवशब्दस्य सौमिकातिथ्येष्टिधर्मानतिदेशकत्वाधिकरणम् ॥६॥]

आतिथ्ये श्रूयते—**वैष्णवो नवकपालो भवति**[1] इति। तथा राजसूये पूर्वस्मिंस्त्रिसंयुक्ते **वैष्णवस्त्रिकपाल**[2] इति। तत्र विचारः। योऽयं त्रिसंयुक्ते वैष्णवस्त्रिकपाल इति वैष्णवशब्दः, अयमातिथ्यधर्माणां ग्राहको नेति। किं युक्तम्? ग्राहक इति। कुतः? विहितधर्मके कर्मणि दृष्टः शब्दोऽन्यस्मिन्नविहितधर्मके श्रूयमाणो धर्माणां ग्राहक इत्युक्तम्, उक्तं क्रियाभिधानम्[3] इत्यत्र। तत्रायमपि विहितधर्मक आतिथ्ये दृष्टः। इदानीमविहितधर्मके त्रिसंयुक्ते दृश्यते। तस्माद् धर्माणां ग्राहक इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् समत्वात् ॥१७॥ (सि०)

व्याख्या—[सोमयाग में विहित] आतिथ्येष्टि में सुना जाता है—वैष्णवो नवकपालो भवति (=विष्णु देवतावाला नवकपाल पुरोडाश होता है)। तथा राजसूय में प्रथम त्रिसंयुक्त कर्म में वैष्णवस्त्रिकपालः (=विष्णुदेवताक त्रिकपाल पुरोडाश होता है)। इसमें विचार है—जो यह त्रिसंयुक्त कर्म में जो वैष्णव त्रिकपाल पुरोडाश में वैष्णव शब्द है वह आतिथ्येष्टि विहित वैष्णव कपाल के धर्मों का ग्राहक है अथवा नहीं है। क्या युक्त है? ग्राहक है। किस हेतु से? विहित धर्म वाले कर्म में दृष्ट [वैष्णव]शब्द अन्य अविहित धर्म वाले में सुना हुआ धर्मों का ग्राहक होता है, यह कह चुके—उक्तं क्रियाभिधानं (७।३।१) में। वहां यह [वैष्णव शब्द] भी विहित धर्म वाला आतिथ्येष्टि में देखा गया है। सम्प्रति अविहित धर्मवाला [वैष्णव शब्द] त्रिसंयुक्त में देखा जाता है। इसलिये वह [आतिथ्येष्टि वाले वैष्णव कर्म से] धर्मों का ग्राहक है अर्थात् ग्रहण करता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पूर्वस्मिन् त्रिसंयुक्ते—राजसूय में त्रिसंयुक्त संज्ञक दो कर्म हैं (कात्या० श्रौत १५।२।२१ तथा मै० सं० ४।३।७ में 'त्रिषंयुक्त' पाठ है) आग्नावैष्णव एकादशकपालः, ऐन्द्रावैष्णवश्चरुः, वैष्णवस्त्रिकपालः, वामनो दक्षिणा; यह पूर्व त्रिसंयुक्त कर्म वीरजनन वाला है। सोमापौष्ण एकादशकपालः, ऐन्द्रापौष्णश्चरुः, पौष्णश्चरुः; श्यामो दक्षिणा। यह द्वितीय त्रिसंयुक्त कर्म पशुजनन वाला है। द्र०—शाबरभाष्य ११।४। अधि० १, सूत्र ३॥ मै० सं० ४।३।७॥ कात्या० श्रौत १५।५।११-१७॥

गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् समत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(गुणविधिः) राजसूय में उक्त वैष्णव त्रिकपाल गुणविधि है (तु) अतः यह (न गृह्णीयात्) आतिथ्येष्टि उक्त वैष्णव नवकपाल से धर्मों का ग्रहण नहीं करेगा (सम-

---

१. द्र०—तै० सं० ६।२।१॥ वैष्णवो नवकपालः पुरोडाशो भवति। आप० श्रौत ११।३०।१२॥

२. द्र०—वैष्णवस्त्रिकालो वा। कात्या० श्रौत १५।२।१७॥ ३. मी० ७।३।१॥

गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् समत्वात्। गुणविधिरयम् । आतिथ्यस्य गुणं विष्णु-देवतासंयोगं विदधाति । स एष धर्मान् ग्रहीतुं न शक्नोति । कुतः ? समत्वात् । समो ह्ययमातिथ्ये, त्रिसंयुक्ते च । यथा तत्र विष्णुदेवतां विदधाति, एवमत्रापि । श्रुत्यर्थासम्भवाच्च लक्षणया धर्माणां ग्राहकः कल्प्यते । इह च प्रत्यक्षश्रुत्यर्थ एव सम्भवति देवताविधिः । तस्मान्नायं ग्राहक इति ॥१७॥

[निर्मन्थ्यादिशब्दानां धर्मानतिदेशकत्वाधिकरणम् ॥७॥]

पशावग्नीषोमीये धर्मवान्निर्मन्थ्योऽग्निराम्नातः – **साध्या वै देवाः**[1] इत्यारभ्य अग्नौ श्रूयते—**निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति**[2] इति । तथा, दर्शपूर्णमासयोर्बर्हिराज्ये धर्मवती । पशौ श्रूयते—**बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति**[3] इति, आज्येन यूपम-

---

त्वात्) समान होने से अर्थात् उभयत्र श्रूयमाण वैष्णव शब्द देवतारूप गुणविधिबोधक तद्धित प्रत्यय से युक्त होने से समान कोटि के हैं ।

व्याख्या—गुणविधि है अतः यह [राजसूयस्थ वैष्णवशब्द आतिथ्येष्टिस्थ वैष्णव से धर्मों का] ग्रहण नहीं करेगा समान होने से । यह [वैष्णव शब्द] गुण विधि है आतिथ्येष्टि के गुण विष्णुदेवता के संयोग का विधान करता है । वह [वैष्णव शब्द] ही धर्मों को ग्रहण नहीं कर सकता । समान होने से । यह [वैष्णव शब्द] समान ही है आतिथ्येष्टि में और [राजसूयस्थ] त्रिसंयुक्त में । जैसे यह [वैष्णव शब्द] वहां (=आतिथ्येष्टि में) विष्णुदेवता का विधान करता है, इसी प्रकार यहां (=राजसूयस्थ त्रिसंयुक्त में) भी । श्रुत्यर्थ के असम्भव होने से भी लक्षणा धर्मों का ग्रहण करने में समर्थ होती है । और यहां श्रुत्यर्थ के सम्भव होने पर देवता की विधि है । इसलिये यह [राजसूयस्थ वैष्णव] शब्द धर्मों का ग्राहक नहीं है ॥१७॥

व्याख्या—अग्नीषोमीय पशु [प्रकरण] में धर्मवाला (=जिस के धर्मों का विधान किया है ऐसा) निर्मन्थ्य शब्द पठित है । साध्या वै देवाः से लेकर अग्निचयन में सुना जाता है—निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति (=निर्मन्थ्य अग्नि से इष्टकाएं पकाते हैं) । तथा दर्शपूर्णमास में बर्हि और आज्य धर्मवाले हैं अर्थात् इन के धर्म निहित हैं । पशु में सुना जाता है—बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति (=बर्हि से यूप के गड्ढे को ढका जाता है), आज्येन यूपमनक्ति (=आज्य से यूप को चुपड़ते हैं) । इन में सन्देह होता है—क्या निर्मन्थ्यादि शब्द धर्मों

---

१. तै० सं० ६।३।५।१-५॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्ति । आप० श्रौत १६।१३।७॥

३. द्र०—मी० १।४।७, पृष्ठ ३१५, टि० १॥

नक्ति[1] इति। तत्र सन्देहः—किं निर्मन्थ्यादयः शब्दा धर्माणां ग्राहका नेति? तत्र अधिकरणातिदेशः क्रियते—

निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥१८॥ (सि०)

निर्मन्थ्यादिषु चैवम्। यथा वैष्णवशब्दे। अत्राप्ययं यौगिको निर्मन्थ्यशब्दः सद्योनिर्मथितमग्निमाह। तथा बर्हिराज्यमिति द्रव्यशब्दौ। ते त्रयोऽपि स्वार्थं विधाय कृतार्था भवन्ति, धर्मान् ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति। तस्मान्न ग्राहकाः ॥१८॥

के ग्राहक हैं अथवा नहीं। इस विषय में [पूर्व] अधिकरण का अतिदेश करते हैं—

विवरण—इस अधिकरण में निर्मन्थ्य बर्हि आज्य आदि अन्यत्र धर्मों के ग्राहक हैं वा नहीं यह विचार किया है। मीमांसा १।४।१२ में तथा मीमांसा १।४।१० में बर्हि और आज्य के सम्बन्ध में विचार किया है। यहां इन्हें निर्मन्थ्य को यौगिक और बर्हि आज्य को जाति-वाची माना है। मीमांसा ३।१।७ के भाष्य में पूर्वपक्ष में उत्पवन विलापन ग्रहण और आसादन आज्य के धर्म कहे हैं और मीमांसा ४।१। अधि० ४ तथा मी० ११।४।४० में भी इनका प्रसङ्ग आया है। पशावग्नीषोमीये—संहिताओं में पशुयाग की सम्पूर्ण विधि अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में समाम्नात है और वही अन्य पशुयागों की प्रकृति मानी गई है। परन्तु श्रौतसूत्रकारों ने समस्त पशुयाग सम्बन्धी विधियों का निरूढ पशुबन्ध में विधान किया है। साध्या वै देवाः—इस (तै० सं० ६।३।५।१-५) प्रकरण में निर्मन्थ्य शब्द तो प्रयुक्त नहीं है, परन्तु अग्निमन्थन का उल्लेख है। वहां अग्निमन्थन के विषय में दो पक्ष कहे हैं—(१) पश्वालम्भन के पश्चात् तथा (२) पशु के उपाकरण (द्र०—श्रौतपदार्थ-निर्वचन, पृष्ठ १२४) के पश्चात्। इसी प्रकरण में अग्नि के कुछ धर्मों का विधान मिलता है। पशु प्रकरण में निर्मन्थ्य अग्नि का उल्लेख है, उसका अर्थ अचिर नर्मन्थन से उत्पन्न अग्नि है।

निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥१८॥

सूत्रार्थः—निर्मन्थ्यादि में (च) भी (एवम्) इसी प्रकार अर्थात् धर्मों का अतिदेश नहीं होता, ऐसा जानना चाहिये।

व्याख्या—निर्मन्थ्यादि में भी ऐसा ही जानना चाहिये जैसा वैष्णव शब्द में कहा है। यहां भी यह निर्मन्थ्य शब्द यौगिक तत्काल निर्मथित अग्नि को कहता है। तथा बर्हि और आज्य ये द्रव्यवाची शब्द हैं। ये तीनों भी स्व अर्थ का विधान करके कृतार्थ होते हैं, धर्म को गृहीत नहीं कर सकते। इससे ये धर्मों के ग्राहक नहीं है ॥१८॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तेजसा एनं (यूपं) अनक्ति………तेजो वा आज्यम्। तै० सं० ६।३।४।२-३॥ द्र०—शत० ३।७।१।११॥

[प्रणयनशब्दस्य सौमिकप्रणयनधर्मानतिदेशकत्वाधिकरणम् ॥८॥]

चातुर्मास्येषु श्रूयते—द्वयोः प्रणयन्ति, तस्माद् द्वाभ्यामेति[1] इति। अस्ति तु सोमे प्रणयनं धमवत्। तथा दर्शपूर्णमासयोरधर्मकम्। तत्र सन्देहः—किं सौमिकमेतत् प्रणयनमुत दार्शपौर्णमासिकमिति? तत्र सूत्रेणैवोपक्रमः—

सौमिकं तु प्रणयनमवाच्यं हीतरत्[2] ॥१६॥ (पू०)

सौमिकं तु प्रणयनमवाच्यं हीतरत्। सौमिकमेतत् प्रणयनम्। किं कारणम्? अवाच्यं हीतरत्, दार्शपौर्णमासिकम्। चोदकेन प्राप्तत्वात्। कथं पुनरयं प्रणयतिशब्दः प्रणयनमात्रवचनः सन्सौमिकं प्रणयनविशेषं शक्नोति वक्तुम्? लक्षणयेति

व्याख्या—चातुर्मास्य में सुना जाता है—द्वयोः प्रणयन्ति, तस्माद् द्वाभ्यामेति (=दो में अग्नि का प्रणयन करता है। इसलिये दोनों के लिये जाता है)। सोम में अग्नि का प्रणयन धर्म वाला है (वहां विशेष धर्मों का विधान किया है)। तथा दर्शपौर्णमास में धर्म रहित प्रणयन है। उस में सन्देह है कि यह प्रणयन सौमिक है अथवा दार्शपौर्णमासिक। इस विषय में सूत्र से ही [पूर्वपक्ष का] उपक्रम करते हैं—

विवरण—चातुर्मास्य में चार पर्व हैं—वैश्वदेव वरुणप्रघास साकमेध और शुनासीरीय। इनमें दो में अग्नि का प्रणयन करता है। वे उत्तर अधिकरण में सिद्धान्तित वरुणप्रघास और साकमेध हैं। सोमप्रणयनं धर्मवत्—आप० श्रौत ८।५।२३ के धूर्त स्वामी के भाष्य में लिखा हैं—सोमाङ्गानि उपसदनानि तत्र कृत्यानि।

विशेष—इस अधिकरण के सम्बन्ध में कात्या० श्रौत ५।४।२-६ तक द्रष्टव्य है।

सौमिकं तु प्रणयनमवाच्यं हीतरत् ॥१६॥

सूत्रार्थः—चातुर्मास्यों का प्रणयन (सौमिकः) सौमिक (तु) ही प्रणयन है (इतरत्) दार्शपौर्णमासिक (अवाच्यम्) अवाच्य (हि) ही है। उसके चोदक वचन से प्राप्त होने से।

व्याख्या—सौमिक प्रणयन है, इतर कहने योग्य नहीं है। यह [चातुर्मास्योक्त] प्रणयन सौमिक है। क्या कारण है? इतर दार्शपौर्णमासिक अवाच्य (=कथन के योग्य ही नहीं) है, चोदक से प्राप्त होने से। (आक्षेप) यह प्रणयति शब्द प्रणयनमात्र को कहने वाला होता हुआ सौमिक प्रणयन विशेष को कहने में कैसे समर्थ होगा? (समाधान) लक्षणा से

---

१. द्र०—गार्हपत्यादग्नी प्रणयतः। आप० श्रौत ८।५।२२॥

२. 'प्रणयनं तु सौमिकमवाच्यं हीतरत्'—इत्यपि बहुषु पुस्तकेषु पाठो दृश्यते। परं तु गुरुपरम्पराप्राप्तपाठक्रममादृत्य स उपेक्षितः।

ब्रूमः। तीर्थशब्दवत्। तद्यथा तीर्थशब्दस्तीर्थमात्रवचनः संस्तीर्थविशेषं धर्मसाधनं कदाचिद् ब्रूते, तीर्थयात्रां गत इति ॥१६॥

उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२०॥

न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपन्ति, न शुनासीरीये[1] इति प्राप्तिपूर्वो हि प्रतिषेधो भवति। सौमिके च प्रणयन उत्तरवेदिर्न दार्शपौर्णमासिके ॥२०॥

प्राकृतं वाऽनामत्वात् ॥२१॥ (सि०)

प्राकृतं वा एतत् प्रणयनं दार्शपौर्णमासिकम्। कुतः? अनामत्वात्। प्रणयनशब्दः सौमिकस्य प्रणयनस्य न नामधेयम्। नैतत्तस्य वाचकमित्यर्थः। यद्ययं तस्य वाचकः स्यात्ततस्तदिह ब्रूयात्। इदं तु पदार्थनामधेयम्, पदार्थस्य प्राङ्नयनस्य वाचकम्। यस्य[2]

ऐसा हम कहते हैं तीर्थ शब्द के समान। जैसे—तीर्थ शब्द तीर्थ मात्र को कहने वाला होता हुआ धर्मसाधनभूत तीर्थ विशेष को कभी कहता है—तीर्थ यात्रा को गया ॥१६॥

उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(उत्तरवेदिप्रतिषेधः) उत्तरवेदि का प्रतिषेध (च) भी (तद्वत्) प्राप्तिपूर्वक प्रतिषेध होता है। अर्थात् सौमिक प्रणयन धर्म के अतिदेश में हेतु होता है। [दार्शपौर्णमासिक प्रणयन में उत्तरवेदि के न होने पर प्रतिषेध अनर्थक होता है]।

व्याख्या—न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपन्ति न शुनासीरीये (=वैश्वदेव पर्व में उत्तरवेदि का उपवपन=निर्माण नहीं होता, न शुनासीरीय पर्व में) यह प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेध उपपन्न होता है। सौमिक प्रणयन में ही उत्तरवेदि की प्राप्ति होती है, दार्शपौर्णमासिक प्रणयन में नहीं होती [उस में उत्तरवेदि का अभाव होने से] ॥२०॥

प्राकृतं वाऽनामत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (प्राकृतम्) प्राकृत दार्शपौर्णमासिक ही प्रणयन है (अनामत्वात्) प्रणयन यह सौमिक प्रणयन का नाम न होने से।

व्याख्या—यह प्रणयन प्राकृत दार्शपौर्णमासिक ही है। किस हेतु से? अनाम (=प्रणयन नामरहित) होने से। प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन का नामधेय नहीं है। उसका यह वाचक नहीं है। यदि यह उसका वाचक होवे तो वह यहां [सौमिक प्रणयन को] कहे। यह तो पदार्थ का नामधेय है, पदार्थ के प्राक् नयन का वाचक है। जिस का वाचक उस अग्नि के

---

१. द्र०—न वैश्वदेवे उत्तरवेदिम् उपवपन्ति। एतावानेव मै० सं० १।१०।१३ पाठः।

२. यस्य वाचकमिति क्वचिन्नास्ति।

वाचकं तदिह शक्नोत्यग्नेः प्राचीनं नयनं वक्तुम्। तच्चेहास्त्येव। तस्मात्तस्य वाचकः। एवं संनिहितप्रत्ययो न बाधितो भवति।

अथ यदुक्तं तीर्थशब्दवद्भविष्यतीति। अत्र ब्रूमः। तीर्थशब्दोऽपि तीर्थमात्रमेव ब्रूते। तीर्थयात्रां गत इति तु, उक्त्वा कानिचित्तीर्थान्यनुक्रान्तानि। यतोऽसौ तद्विशिष्टार्थो विज्ञायते। यत्र तु केवलः प्रयुज्यते, तत्र तीर्थमात्रमेव ब्रूते। यथा, तीर्थे स्नाति तीर्थमेव हि समानानां भवतीति। [1]अपि च सम्भवति श्रुत्यर्थे लक्षणार्थोऽग्राह्यः। सम्भवति चात्र श्रुत्यर्थः। तस्मान्न लक्षणार्थो ग्राह्य इति ॥२१॥

अथ यदुक्तम्—अवाच्यं हीतरदिति, तस्य कः परिहारः? उच्यते—

परिसंख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥२२॥

परिसंख्यार्थं वा स्यात्। द्वयोः प्रणयन्ति, न चतुर्ष्विति। गुणार्थम्। अर्थवादार्थं वा। तस्माद् द्वाभ्यामेतीति।

प्राक् नयन को कह सकता है। वह [अग्नि] यहां है ही। इसलिये उसका वाचक है। इस प्रकार समीपस्थ [दार्शपौर्णमासिक] का परिज्ञान बाधित नहीं होता।

और जो यह कहा है कि तीर्थशब्दवत् हो जायेगा। इस विषय में कहते हैं—तीर्थशब्द भी तीर्थमात्र को ही कहता है—तीर्थ यात्रा पर गया है ऐसा कह कर कतिपय तीर्थों का उल्लेख करता है। इस से वह [तीर्थशब्द] विशिष्ट अर्थ वाला जाना जाता है। जहां अकेला प्रयुक्त होता है वहां तीर्थमात्र को ही कहता है। जैसे तीर्थ में स्नान करता है, समान पुरुषों में तीर्थ ही होता है। और भी, श्रुत्यर्थ के सम्भव होने पर लक्षणार्थ प्राप्त नहीं होता। यहां (= प्रणयन्त शब्द में) श्रुत्यर्थ सम्भव है। इस से लक्षणार्थ ग्राह्य नहीं है ॥२१॥

व्याख्या—जो यह कहा है—इतर (=प्राकृत=दार्शपौर्णमासिक) अग्राह्य है। इसका क्या समाधान है? कहते हैं—

परिसंख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥२२॥

सूत्रार्थः—(परिसंख्यार्थम्) परिसंख्या के लिये (श्रवणम्) श्रवण है—दो में प्रणयन करता है चार में नहीं करता, (गुणार्थम्) प्राक् प्रणयनरूप गुण के लिये। (वा) अथवा (अर्थवादः) तस्माद् द्वाभ्यामेति इसकी स्तुति के लिये प्रणयन का अनुवाद है।

व्याख्या—अथवा परिसंख्या के लिये होवे—दो में प्रणयन करता है चार में प्रणयन नहीं करता। गुण के लिये होवे। अथवा अर्थवाद के लिये होवे—तस्माद् द्वाभ्यामेति इस के [अर्थवाद के लिये]।

---

१. 'अपि चासंभवति श्रुत्यर्थे लक्षणार्थो गृह्यते'—पाठान्तरम्।

तत्र परिसंख्यायां तावत् त्रयो दोषाः। गुणोऽपि न कश्चिद् विधीयते। परिशेषादर्थवादार्थम्। नन्वर्थवादोऽपि निष्प्रयोजनः। प्रणयनस्य प्राप्तत्वात्। अर्थवादस्य प्रयोजनमुत्तरस्मिन्नधिकरणे वक्ष्यामः—**मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादाद्** इति ॥२२॥

———

[मध्यमयोरेव पर्वणोः प्रणयननियमाधिकरणम् ॥९॥]

द्वयोः प्रणयन्ति इति श्रूयते। तत्र सन्देहः। कतरयोर्द्वयोरिति? अनियमे प्राप्ते, उच्यते—

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥२३॥ (पू०)

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनम्। कुतः? उत्तरवेदिप्रतिषेधात्। तत्रोत्तरवेदिः प्रतिषिध्यते—**न वैश्वदेव उत्तरवेदिमुपवपन्ति, न शुनासीरीये**[1] इति। अस्मिन् प्रणयन

वहां परिसंख्या में तीन दोष हैं। गुण भी कोई विधान नहीं किया जाता। परिशेष से अर्थवाद के लिये है। (आक्षेप) अर्थवाद भी निष्प्रयोजन है। प्रणयन के प्राप्त होने से। अर्थवाद का प्रयोजन अगले अधिकरण—'मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात्' (७।३।२४) में कहेंगे ॥२२॥

विवरण—परिसंख्या में तीन दोष होते हैं—स्वार्थहानि, परार्थकल्पना और प्राप्तबाधा। द्र०—शाबरभाष्य व्याख्या १।३।४२, भाग १ पृष्ठ १९६, १९७ ॥२२॥

———

व्याख्या—द्वयोः प्रणयन्ति (दो में प्रणयन करते हैं) ऐसा सुना जाता है। किन दो में? अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(प्रथमोत्तमयोः) प्रथम वैश्वदेवपर्व और उत्तम अन्त्य शुनासीर में (प्रणयनम्) अग्नि का प्रणयन होता है (उत्तरवेदिप्रतिषेधात्) उनमें उत्तरवेदि का प्रतिषेध होने से।

विशेष—उत्तम शब्द तीन वा तीन से अधिक के अन्त्य का वाचक है।

व्याख्या—प्रथम उत्तम (=वैश्वदेव और शुनासीर) में प्रणयन करता है। किस हेतु से? [इन में] उत्तरवेदि का प्रतिषेध होने से। वहां उत्तरवेदि का प्रतिषेध किया जाता है—न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपन्ति न शुनासीरीये (=वैश्वदेव में उत्तरवेदि नहीं करता और

---

१. मै० सं० १।१०।१३ इत्यत्र 'न वैश्वदेवं उत्तरवेदिमुपवपन्ति' इत्येव पाठः।

उत्तरवेद्यामग्निनिधानं विहितम् । अतो यत्र प्रणयनं, तत्रोत्तरवेदिप्राप्तिः । प्राप्तौ च सत्यां प्रतिषेधः । प्रथमोत्तमयोश्चासौ । तस्मात्तयोः प्रणयनमिति ॥२३॥

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥२४॥ (उ०)

मध्यमयोर्वा पर्वणोः प्रणयनम् । कुतः? गत्यर्थवादात् । गत्यर्थवादेनैतद् द्वयोः प्रणयनमुच्यते । तस्माद् द्वाभ्यामेतीति । ऊरुसंस्तुते चैते पर्वणी—**ऊरू वा एतौ यज्ञस्य, यद्वरुणप्रघासाः साकमेधाश्च**[1] इति । ऊरू च गमनसाधने, तत्रैवं स्तुतिसम्बन्धो विज्ञायते । ऊरू यज्ञस्य, वरुणप्रघासाश्च साकमेधाश्चेति, तयोर्द्वयोः प्रणयन्ति । तस्माद् द्वाभ्यामूरुभ्यां यज्ञः समाप्तिं याति । प्रणयनेन हि तौ बलवन्तौ भवतः । अङ्गभूयस्त्वादिति । एतत्तदर्थवादस्य प्रयोजनम् ॥२४॥

अथ यदुक्तम्, उत्तरवेदिप्रतिषेधादिति । तत्र ब्रूमः—

औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥२५॥ (उ०)

न शुनासीरीय कर्म में) । इस प्रणयन में उत्तरवेदि में अग्नि का निधान विहित है । अतः जहां प्रणयन है वहां उत्तरवेदि की प्राप्ति है । प्राप्ति होने पर ही प्रतिषेध होता है । वह प्रतिषेध प्रथम और अन्त्य पर्व में है । इस से उन में प्रणयन कहा है ॥२३॥

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(मध्यमयोः) मध्य के दो वरुणप्रघास और साकमेध में प्रणयन होता है (गत्यर्थवादात्) गति का अर्थवाद होने से । [गति के अर्थवाद का निदर्शन भाष्य व्याख्या में देखें ।]

व्याख्या— मध्य के दो पर्वों में प्रणयन होता है । किस हेतु से ? गति के अर्थवाद से । ये मध्य पर्व ऊरु द्वारा संस्तुत हैं—उरू वा एतौ यज्ञस्य यद् वरुणप्रघासाः साकमेधाश्च (= ये दो यज्ञ के ऊरु हैं जो वरुणप्रघास और साकमेध हैं) ऊरू गमन के साधन हैं । वहां इस प्रकार स्तुति संबन्ध जाना जाता है—यज्ञ के ऊरु हैं वरुणप्रघास और साकमेघ । उन दो में [अग्नि का] प्रणयन करते हैं । इस से दो ऊरुओं से यज्ञ समाप्ति को प्राप्त होता है । प्रणयन से ही वे बलवान् होते हैं, अङ्गों के आधिक्य से । यह ऊरु के अर्थवाद का प्रयोजन है ॥२४॥

व्याख्या— जो यह कहा—उत्तरवेदि के प्रतिषेध से, उसमें कहते हैं—

औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥२५॥

सूत्रार्थः—(औत्तरवेदिकः) उत्तरवेदि सम्बन्धी प्रतिषेध (अनारभ्यवादप्रतिषेधः) किसी

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अयमेव दक्षिण ऊरुर्वरुणप्रघासाः……… अयमेवोत्तर ऊरुर्महाहविः । शत० ११।५।२।३,५॥ महाहविः साकमेधः ॥

अनारभ्य कंचित् पर्वविशेषं, चातुर्मास्येषूत्तरवेदिराम्नाता, उपाववपन्तीति। तस्यानारभ्यविधेरयं प्रतिषेधः। ननु वरुणप्रघासानां गुणवाक्यप्राप्तावेवायं तेषामेव, अत्रेति वादः स्यात्। नैतदेवम्। प्रकरणाच्चातुर्मास्यानामेव। यदि वरुणप्रघासानां वादः स्यात्, तत्र प्रतिषेधे त्रीण्यपि पर्वाण्युत्कीर्तयेत्। अथोच्येत, द्वयोः पर्वणोर्वादो भवत्विति। अत्र ब्रूमः। न द्वयोः पर्वणोः प्रकरणं, वरुणप्रघासानां वा। वरुणप्रघासानां प्रकरणे द्वयोः पर्वणोरुत्कीर्तनं प्रतिषेधे न स्यात्। तस्माच्चातुर्मास्यानामेव वादः।

नन्वेवमप्यर्थवादेनैतज्ज्ञातं, मध्यमयोः प्रणयनमिति। किमर्थं प्राप्तस्य प्रणयनस्य पुनः श्रवणमिति? अत्र प्रयोजनं नोक्तम्। असति प्रयोजनेऽन्यस्मिन् परिसंख्यार्थमेव भवति। तत्र दोषा उक्ताः। तस्माद् गुणार्थमेवैतच्छ्रवणम्। ननु

पर्वविशेष का संकीर्तन न करके चातुर्मास्य में उत्तरवेदि का कथन है वह अनारभ्यवाद है। उस अनारभ्यवाद से प्राप्त उत्तरवेदि का (प्रतिषेधः) न वैश्वदेवे उत्तरवेदिम् उपवपन्ति न शुनासीरीये वचन से प्रतिषेध है।

व्याख्या—किसी पर्व विशेष का आरम्भ न करके चातुर्मास्य में उत्तरवेदि का समाम्नान किया है—उपाववपन्ति (=प्राकृत=दक्षिणवेदि के समीप वेद्यन्तर=उत्तरवेदि का अववपन करता है, बनाता है)। उस अनारभ्य विधि का यह (=न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपन्ति न शुनासीरीये वचन से) प्रतिषेध है। (आक्षेप) 'वरुणप्रघासों के गुण वाक्य से प्राप्ति में यह उन्हीं का यहां वाद (=कथन) होवे। (समाधान) ऐसा नहीं है। प्रकरण से चातुर्मास्यों का ही है। यदि वरुणप्रघासों का वाद होवे, तो वहां प्रतिषेध में तीनों पर्वों का कथन होवे। यदि कहा जाये, दो पर्वों का ही वाद होवे। इस विषय में कहते हैं—दो पर्वों का प्रकरण नहीं है अथवा वरुणप्रघासों का। वरुणप्रघासों के प्रकरण में दो पर्वों का कथन प्रतिषेध में न होवे। इसलिये चातुर्मास्यों का ही यह वाद है।

विवरण—उपाववपन्ति—यह वचन हमें पर्वविशेष के अनारभ्य प्रकरण में उपलब्ध नहीं हुआ। मीमांसा उद्धरण कोश के रचयिता श्री धन्नालाल अग्रवाल ने इस वचन का पता मै० सं० १।१०।१३ लिखा है। परन्तु यहां पाठ उपात्र वपन्ति है और प्रकरण वरुणप्रघास का है। ननु वरुणप्रघासानाम्—कर्म बहुत्व के कारण बहुवचन का निर्देश है। त्रीण्यपि पर्वाणि—वैश्वदेव साकमेध और शुनासीरीय पर्वों का।

व्याख्या—(आक्षेप) ऐसा होने पर भी अर्थवाद से ज्ञात हो गया है—दोनों मध्यम पर्वों में प्रणयन है। प्राप्त प्रणयन का पुनः श्रवण किस लिये है? (समाधान) यहां प्रयोजन नहीं कहा। प्रयोजन न होने पर परिसंख्या के लिये ही होता है। वहां दोष कह चुके। इस से

नास्ति कश्चिद् गुणः । उच्यते । गुणः श्रूयते, उत्तरवेद्यामग्निनिधानम् । तस्मात् तदर्था पुनः श्रुतिः ॥२५॥

———

[स्वरसामादिशब्दानां धर्मातिदेशकत्वाधिकरणम् ॥१०॥]

गवामयने श्रूयते—अभितो दिवाकीर्त्यमहः, त्रयः स्वरसामानो भवन्ति[1] इति । तेषां विशेषधर्मा आम्नाताः । यथा—सप्तदशा भवन्ति[2] संततयाऽतिग्राह्या गृह्यन्ते[3] इत्येवमादयः । पुनरन्यत्र श्रूयते—पृष्ठ्यः षडहो द्वौ स्वरसामानौ[4] इति । तथा वैश्वदेवे श्रूयते—द्यावापृथिव्यः एककपालः[5] इति । तत्राऽऽम्नाता विशेषधर्माः

गुण के लिये ही यह श्रवण है । (आक्षेप) कोई गुण [कथित] नहीं है ? (समाधान) गुण सुना जाता है—उत्तरवेदि में अग्नि की स्थापना । इस लिये इस गुण के लिये पुनः श्रुति है॥२२॥

विवरण—तत्र दोषा उक्ताः । द्र०—७।३।२२ भाष्य व्याख्या विवरण (पृष्ठ २११६) ।

उत्तरवेद्यामग्निनिधानम्—द्वयोः प्रणयन्ति वचन से दो अग्नियों के प्रति प्रणयन कहा है । सामान्यवेदि में तो प्रणयन प्रकृतिवदतिदेशाः कर्तव्याः से प्राप्त ही है । उत्तरवेदि में प्रणयन प्राप्त नहीं था । उसका इस वचन से विधान किया है ॥२५॥

———

व्याख्या—गवामयन में सुना जाता है—अभितो दिवाकीर्त्यमहः, त्रयः स्वरसामानो भवन्ति (=दिवाकीर्त्य अहः के दोनों ओर तीन स्वर साम नामवाले होते हैं) । उन के विशेष धर्म भी कहे हैं । जैसे—सप्तदशा भवन्ति सन्तततयाऽतिग्राह्या गृह्यन्ते (=सप्तदश स्तोत्रों वाले होते हैं । सन्तत अविच्छिन्न धारा से अतिग्राह्य ग्रह गृहीत किये जाते हैं) । पुनः अन्यत्र सुना जाता है—पृष्ठ्यः षडहो द्वौ स्वरसामानौ (=पृष्ठ्य षडह और दो स्वरसाम) । तथा वैश्वदेव पर्व में सुना जाता है—द्यावापृथिव्य एककपालः (=द्यावापृथिवी देवता वाला एककपाल पर संस्कृत पुरोडाश होता है) । वहां (=द्यावापृथिवीदेवताक एककपाल के प्रसंग

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अभितो दिवाकीर्त्यं परः सामानो भवन्ति । तै० सं० ७।३।१०।३॥ २. ताण्ड्य ब्रा० ४।५।५॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सन्ततय एते ग्रहा गृह्यन्ते, अतिग्राह्याः परः सामसु ।

४. अनुपलब्धमूलम् । अष्टरात्रे पठ्यते इति कुतुहलवृत्तिः ।

५. तै० ब्रा० १।६।२।५॥

—सर्वंहुतं जुहोति,[1] अपर्यावर्तयञ्जुहोति[2] इति । पुनरपरत्र—काय एककपाल:[3] इति । तत्रैव श्रूयते वैश्वदेव्यामिक्षा[4] इति । तत्रापि विशेषधर्मा: केचिदाम्नाता: । पुनरन्यत्र—मैत्रावरुण्यामिक्षा[5] इति । तत्र सन्देह:—किं स्वरसामशब्दोऽन्यत्र श्रूयमाणो गावामयनिकेभ्य: स्वरसामभ्यो धर्माणां ग्राहक उत नेति ? एवमेककपालामिक्षाशब्दावपि । तत्र—गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् समत्वाद्[6] इत्यग्रहणे प्राप्ते, इदमुच्यते—

में) विशेष धर्म आम्नात हैं - सर्वंहुतं जुहोति (=पूरे पुरोडाश का अग्नि में प्रक्षेप करता है), अपर्यावर्तयन् जुहोति (=न टेढा करता हुआ वा लुढ़काता हुआ प्रक्षेप करता है) । पुन: अन्यत्र—काय एककपाल: (='क' देवता वाला एककपाल पुरोडाश होता है) । वहीं (= वैश्वदेव पर्व में) सुना जाता है—वैश्वदेव्यामिक्षा (=वैश्वदेव देवतावाली आमिक्षा होती है) । वहां (=आमिक्षा के विषय में) भी कतिपय विशेष धर्म पठित हैं । पुन: अन्यत्र मैत्रावरुण्यामिक्षा (=मित्रावरुण देवतावाली आमिक्षा होती है) सुनी जाती है । इन में सन्देह होता है—अन्यत्र श्रूयमाण स्वरसामशब्द गवामयन में श्रूयमाण स्वरसामों से धर्मों का ग्राहक है अथवा नहीं ? इसी प्रकार एककपाल आमिक्षा शब्द भी । वहां गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् समत्वात् (मी० ७।३।१७) इस न्याय से अग्रहण प्राप्त होने पर यह कहते हैं—

विवरण—गवामयने श्रूयते—गवामयन नाम का एक वर्ष साध्य सत्र है । गवामयन का अर्थ है—गो=सूर्य की किरणों का अयन=गति जहां से आरम्भ हुई वहीं समाप्ति । इस प्रकार यह उत्तरायण और दक्षिणायन नामक कालों में जो सूर्य रश्मियों की एक वर्ष साध्य गति है उसका प्रातिनिध्य यह गवामयन सत्र करता है । लोक में हम मकर संक्रान्ति=मकर रेखा से जब सूर्य उत्तर की ओर गति करता है और कर्क रेखा तक जाता है उस काल को उत्तरायण कहते है तत्पश्चात् जब कर्क संक्रान्ति=कर्क रेखा से दक्षिण की ओर गति करके वापस मकर रेखा तक पहुंचता है तो इसे दक्षिणायन कहते हैं । दोनों के मध्य में जब विषुवद् रेखा (=भूमध्यरेखा) पर सूर्य होता है, १२-१२ घण्टे का दिन और रात होती है । वास्तविक गणित के अनुसार २३ दिसम्बर को मकर संक्रान्ति होती है परन्तु भारतीय गणित में २२ दिन का अन्तर पड़ जाने से मकर संक्रान्ति १४ जनवरी को होती है ।

गवामयन सत्र में विषुवद् रेखा से सूर्य उत्तर की ओर गति करके कर्क रेखा तक पहुंचकर जब वापस विषुवद् रेखा पर पहुंचता है तो इस ६ मास के काल को पूर्वपक्ष और विषुवद

१. अनुपलब्धमूलम् । सर्वंहुतं करोति । मै० सं० १।१०।७।।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सर्वंहुतमपर्यावर्तयन् ऋजुं प्रतिष्ठितं न हस्तेन जुहुयात् । आप० श्रौत ६।३०।१।। ३. तै० ब्रा० १।६।४।५।। ४. तै० ब्रा० १।६।२।५।।

५. मै० सं० २।६।१३।। ६. मीमांसा ७।३।१७।।

रेखा से दक्षिण की ओर गति कर मकर रेखा तक पहुंच कर वापस विपुवद् रेखा पर पहुंचता है इसे उत्तर पक्ष कहा जाता है। सूर्य विपुवद् रेखा से उत्तर की ओर ६ मास=१८० दिन और विपुवद् रेखा से दक्षिण की ओर ६ मास=१८० दिन रहता है। दोनों के मध्य में विपुवद् रेखा पर जिस दिन सूर्य स्थित होता है उसे गवामयन का मध्य दिन विपुवान् दिवस कहा है, उसकी पृथक् गणना से गवामयन ३६१ दिन में पूरा होता है। गवामयन में १२ दीक्षाएं, १२ उपसद् होते हैं। उन्हें मिलाकर पूरा कर्म ३८५ दिनों में पूर्ण होता है। गवामयन का आरम्भ माघ कृष्णा अष्टमी, फाल्गुन शुक्ला एकादशी, फाल्गुन पूर्णिमा या चैत्र पूर्णमासी से इस सत्र को आरम्भ किया जाता है। इसमें दोनों पक्षों में १८०-१८० सुत्या होती हैं।

अभितो दिवाकीर्त्यम्—दिवाकीर्त्यनाम का सामविशेष है। उस सामवाला दिन भी दिवाकीर्त्य कहाता है। इस दिवाकीर्त्य=विपुवान् दिन के दोनों ओर तीन स्वरसाम संज्ञक दिवस होते हैं। विपुवद् रेखा से उत्तर छ मास का काल देवों का दिन माना जाता है और दक्षिण ६ मास दैवी रात्रि। यह विभाग गवामयन के द्वारा उक्त है। सप्तदश भवन्ति—वे सभी स्वरसाम सप्तदश स्तोत्र वाले होते हैं।

गवामयन के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के दिनों की गणना—

अहः क्लृप्ति		दिन संख्या
पूर्वपक्ष		
प्रथम दिन—प्रायणीय संज्ञक अतिरात्रसंस्थात्मक[1]		१
द्वितीय दिन—चतुर्विंश स्तोमक उक्थ्यसंस्थात्मक[1]		१
अभिप्लव षडह चार वार	६×४=२४ }	
पृष्ठ्य षडह १ वार	६=६ }	३०
इसी प्रकार द्वितीय मास		३०
,, तृतीय मास		३०
,, चतुर्थ मास		३०
,, पञ्चम मास		३०
अभिप्लव षडह तीन	६×३	१८
पृष्ठ्य षडह १	६×१	६

१. इन दो दिनों का योग छठे मास के २८ दिन के साथ करने पर पूरे ६ मास अर्थात् ६×३०=१८० दिनों का विभाग जानना चाहिये।

अभिजित् संज्ञक (अग्निष्टोमसंस्थाक)		१
स्वरसाम संज्ञक	तीन दिन	३
	सर्वयोग	१८०

विषुवाख्य मध्य दिन	१

उत्तर पक्ष—(पूर्वपक्षोक्त दिनों का वैपरीत्य से अनुष्ठान)

स्वरसाम संज्ञक ३ दिन			३
विश्वजित् संज्ञक (अग्निष्टोमसंस्थाक)			१
पृष्ठ्य षडह १			६
अभिप्लव षडह ३	६×३		१८
पृष्ठ्य षडह	६×१=६	अष्टम मास	
अभिप्लव षडह चार बार	६×४=२४		३०
इसी प्रकार नवम मास			३०
,, दशम मास			३०
,, एकादश मास			३०
बारहवें मास में अभिप्लव षडह तीन	६×३=१८		
गोष्टोम	१		
आयुष्टोम	१		
द्वादशाहान्तर्गत दशाह	१०		३०
महाव्रताख्य (अग्निष्टोमसंस्थाक)[१]			१
उदयनीय (अतिरात्रसंस्थाक)[१]			१
		सर्वयोग	१८०

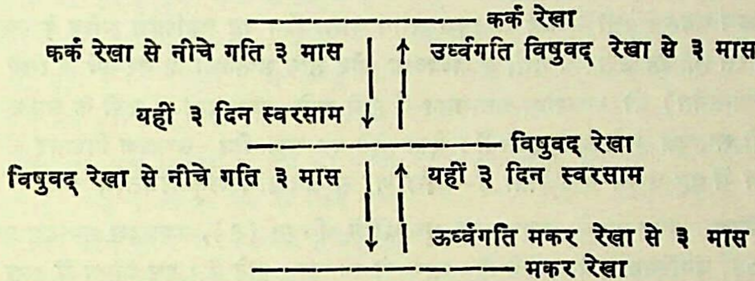
१. इन दो दिनों का योग ७वें मास के २८ दिनों के साथ करने पर १ मास पूरा होता है।

स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात् ॥२६॥ (उ०)

स्वरसामैककपालामिक्षं च धर्माणां ग्राहकम्। किं कारणम्? लिङ्गदर्शनात्। लिङ्गं तत्र तादृशं दृश्यते। येन ज्ञायते, सर्व एते धर्माणां ग्राहका इति। स्वरसामसु तावत्—पृष्ठ्यः षडहो द्वौ स्वरसामानौ इत्युक्त्वाऽऽह। तत्र, यत् तृतीयं सप्तदश-महस्तत् त्रयस्त्रिंशस्य स्थानमभिपर्याहरन्ति, स उत्तराणां स्तोमानामव्यवायाय,

---

इनका संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस प्रकार जानें—



पृष्ठ्यः षडहो द्वौ स्वरसामानौ—अष्टरात्र में पृष्ठ्य-संज्ञक ६ दिनों में क्रमशः त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश होते हैं। आगे दो दिन स्वरसामसंज्ञक। **अपर्यावर्तयन् जुहोति**—एककपाल पुरोडाश को स्रुच् से अग्नि में ऐसे धरे कि वह लुढ़के नहीं अर्थात् टेढ़ा न होवे। द्र०—**सर्वहुतमपर्यावर्तयन् ऋजुप्रतिष्ठितं न हस्तेन जुहुयात्। यदि हुतः पर्यावर्तेत स्रुचोऽग्रेण कल्पयेत्** (आप० श्रौत ६।३०।१-२)। सर्वहुत एककपाल पुरोडाश टेढ़ा न करता हुआ धीरे से अग्नि में प्रतिष्ठित करे। हाथ से होम न करे (=न रखे) यदि होम किया हुआ टेढ़ा हो जावे, लुढ़क जावे तो स्रुच् के अग्र भाग से यथास्थान प्रतिष्ठित करे। **विशेषधर्माः केचिदाम्नाताः—वाजिनमानयति** (तै० ब्रा० १।६।२।५) से वाजिन होम करना आदि।

स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—क्रत्वन्तर में श्रूयमाण (च) भी (स्वरसामैककपालामिक्षम्) स्वरसाम एककपाल और आमिक्षा शब्द गवामयनादि में श्रूयमाण धर्मों के ग्राहक होवें (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन होने से। (लिङ्गदर्शन भाष्यव्याख्या में देखें)।

व्याख्या—[क्रत्वन्तर में श्रूयमाण] स्वरसाम एककपाल और आमिक्षा भी धर्मों के ग्राहक हैं। क्या कारण है? लिङ्ग के दर्शन से। वहां (=धर्मग्राहकत्व में) तादृश लिङ्ग दीखता है, जिससे जाना जाता है कि ये सब धर्मों के ग्राहक हैं। स्वरसाम में—पृष्ठ्यः षडहो द्वौ स्वर-सामानौ ऐसा कहकर कहा—यत् तृतीयं सप्तदशमहस्तत् त्रयस्त्रिंशस्य स्थानमभिपर्या-हरन्ति। स उत्तराणां स्तोमानामव्यवायाय त्रयाणां च सप्तदशानामनूचीनतायै (=

त्रयाणां च सप्तदशानामनूचीनतायै' इति । यद्येतौ स्वरसामानौ गावामयनिकानां धर्माणां ग्राहकौ, तत्रैतावपि सप्तदशौ । तथाऽत्र त्रयः सप्तदशा अनूचीना भवन्ति । तत्रैतद्वचनं युज्यते, त्रयाणां सप्तदशानामनूचीनताया इति ।

तथा—आग्रयणे—द्यावापृथिव्यमेककपालं विधायाऽऽह—**यत्सर्वहुतं करोति, सा त्वेका परिचक्षा, हुतोऽहुतः पर्यावर्तते, सा द्वितीया । आज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेत'** इति । आज्यविधिपरे वाक्ये सर्वहोममपर्यावृत्तिं च वैश्वदेविकौ धर्मौ प्राप्तौ दर्शयति । तथा मैत्रावरुण्यामामिक्षायां, **न वाजिनेन प्रचरन्ति'** इति वाजिनेज्यां

वहां(=पृष्ठ्य षडह में)जो तृतीय सप्तदश स्तोत्र वाला दिन वह त्रयस्त्रिंश स्तोत्र के स्थान को पर्याहरण करते हैं; वह उत्तर स्तोमों के अव्यवाय और तीन सप्तदशों के नैरन्तर्य के लिये । यदि ये (अष्टरात्रान्तर्गत) दो स्वरसाम गवामयन में होने वाले स्वरसामों के धर्मों के ग्राहक होते हैं तो ये दो भी सप्तदश स्तोमवाले होते हैं । ऐसा होने पर यहां तीन सप्तदश निरन्तर होते हैं । ऐसी अवस्था में वह वचन युक्त होता है—त्रयाणां सप्तदशानामनूचीनतायै ।

विवरण—अष्टरात्र में क्रमशः ६ पृष्ठ्यों में त्रिवृत् (९), पञ्चदश सप्तदश एकविंश त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश स्तोम होते हैं । आगे दो स्वरसाम होते हैं । इस विषय में कहा है कि पृष्ठ्य षडह का जो तीसरा सप्तदश स्तोम वाला दिन है उसे त्रयस्त्रिंश स्तोम वाले अहः के स्थान में ले जाते हैं । इससे सप्तदश से उत्तर छ छ स्तोमों की अधिकता वाले एकविंश त्रिणव (२७) त्रयस्त्रिंश स्तोमों में व्यवधान नहीं होगा । अर्थात् बीच में से सप्तदश को हटा लेने पर त्रिवृत् स्तोम से पञ्चदश स्तोम में जो छ का अन्तर है वह अगलों में भी बराबर वर्तमान रहता है और पृष्ठ्य के तृतीय सप्तदश स्तोम वाले दिन की स्वरसाम के दो सप्तदश स्तोम वाले दिनों के साथ नैरन्तर्य भी उपपन्न हो जाता है । परन्तु यह नैरन्तर्य तभी उपपन्न होगा जब अष्टरात्र के स्वरसाम भी गावामयनिक स्वरसामों की सप्तदशता धर्म के ग्राहक होवें ।

व्याख्या—**तथा आग्रयण इष्टि में** द्यावापृथिव्यमेककपालम् **का विधान करके** यत् सर्वहुतं करोति सा त्वेका परिचक्षा,हुतोऽहुतः पर्यावर्तते,सा द्वितीया । आज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेत **(=जो सर्वहुत करता है वह एक निन्दा है, जो हुत अथवा अहुत पर्यावृत्त हो जाता है=टेढ़ा हो जाता है या लुढ़क जाता है वह दूसरी निन्दा है । इसलिये आज्य से ही द्यावापृथिवी का यजन करे) । इस आज्यविधिपरक वाक्य में सर्वहोम और अपर्यावृत्ति वैश्वदेव के धर्मों की प्राप्ति दर्शाता है । तथा मैत्रावरुणी आमिक्षा में** न वाजिनेन प्रचरन्ति **(=वाजिन से याग नहीं करते) से वाजिन संबन्धी इज्यारूप वैश्वदेविक धर्म का प्रतिषेध है,**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

वैश्वदेविकं धर्म प्रतिषेधस्ततो धर्मप्राप्तिं दर्शयति । एतेभ्यो लिङ्गेभ्य एतज्ज्ञायते, यथास्वं धर्माणां ग्राहका[1] इति । प्रतिपत्त्यर्थकर्म वाजिनेज्या, स्विष्टकृत्तुल्यां मत्वैतद् उक्तम् । आह । लिङ्गमपदिष्टम् । कुतः प्राप्तिरिति ? उच्यते । लक्षणया प्राप्तिः, लिङ्गात्तु लक्षणापरिग्रहः ॥२६॥

चोदनासामान्याद्वा ॥२७॥ (उ०)

इस से [वैश्वदेविक] धर्म की प्राप्ति दर्शाई है । इन लिङ्गों से यह जाना जाता है कि यथास्व (=जिस के जो धर्म हैं उन) धर्मों के ग्राहक हैं अर्थात् स्वरसाम, एककपाल और आमिक्षा ये अपने-अपने धर्मों के ग्राहक होते हैं । वाजिन याग प्रतिपत्तिरूप कर्म है, स्विष्टकृत् के तुल्य इसको मानकर यह कहा है । (आक्षेप) यह लिङ्ग कहा है । प्राप्ति किस हेतु से होती है ? (समाधान) लक्षणा से प्राप्ति है । लिङ्ग से लक्षणा का ग्रहण जानना चाहिये ।

विवरण—यत् सर्वहुतं करोति सा त्वेका परिचक्षा—यहां पुरोडाश के सर्वहुत होने में क्या निन्दा है, यह साधारण जन के लिये अस्पष्ट है । शत० ब्रा० २।४।३।९ में कहा है—तस्य परिचक्षा यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तः, अथैतं सर्वमेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवद्यति सा परिचक्षा । अर्थात् सर्व हविषों से स्विष्टकृत् के लिये अवदान होता है । इसको पूरे का पूरा होम करने पर स्विष्टकृत् के लिए अवदान नहीं होगा यही निन्दा है । प्रतिपत्त्यर्थकर्मवाजिनेज्या—तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्याऽऽमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम् (मी० २।२।२३ में उद्धृत) गरम दूध में दही के प्रक्षेप से जो स्थूल भाग पृथक् होता है वह आमिक्षा कहाती है । आमिक्षा के निष्पत्ति के साथ पृथक् हुआ जलभाग वाजिन कहाता है । इसलिये अनायास उत्पन्न वाजिन की प्रतिपत्ति के लिये वाजिन याग है । जैसे पुरोडाश आदि से प्रधान याग के निष्पन्न होने पर स्विष्टकृत् याग प्रतिपत्ति कर्म होता है । विशेष इस अधिकरण की शास्त्रदीपिका की मयूखमालिका टीका में देखें । लिङ्गमपदिष्टम्—इस विषय में ७।१।२३ भी द्रष्टव्य है । वहां कहा है—प्राप्तिमुत्तरत्र वक्ष्यामः—स्वरसामैककपालामिक्षं च (७।३।२६) इत्यत्र ॥२६॥

चोदनासामान्याद्वा ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (चोदनासामान्यात्) चोदना=विधि के सामान्य होने से अर्थात् उभयत्र स्वरसाम की विधि की समानता है, इसी प्रकार एककपाल विधि की तथा आमिक्षा विधि की समानता है । इससे गवामयन आदि में उक्त स्वरसाम आदि के धर्मों के अन्यत्र उक्त स्वरसाम आदि ग्राहक होते हैं ।

---

१. 'यथा स्वरसामादयः स्वधर्माणां ग्राहका' पाठान्तरम् ।

स्वरसामत्वसामान्यात्, एककपालत्वसामान्यात्, आमिक्षासामान्याद्वा, **यस्य लिङ्गमर्थसंयोगाद्**[1] इत्यनेन प्राप्तिरिति ॥२७॥

———

[अनोवासःप्रभृतिशब्दानामाकृतिनिमित्तताधिकरणम् ॥११॥]

क्वचिच्छ्रूयते—**वासो ददाति**[2], **अनो ददाति**[3] इति। तत्र विचार्यते—किं वाससोऽनसश्च क्रिया प्राप्यत उत नेति ? तत्राऽऽह। एवं तावन्नः परीक्ष्यम्। किं कर्मनिमित्तावेतौ शब्दावुताऽऽकृतिनिमित्ताविति ? यदि कर्मनिमित्तौ, ततः प्राप्यते। अथाऽऽकृतिनिमित्तौ, ततो नेति। किं तावत् प्राप्तम् ? कर्मनिमित्ताविति। कुतः ? कर्मागमे तद्दर्शनात्। यदा तस्मिन् द्रव्ये, दारुणि सूत्रे वा दारुकारेण तन्तुवायेन वा कर्म कृतं भवति, तदैतौ शब्दौ प्रवर्तेते न प्राक्। अतो विज्ञायते कर्मनिमित्ताविति। यदा कर्मनिमित्तौ, तदेतदारभ्यते—

व्याख्या—अथवा स्वरसामत्व के सामान्य होने से, एककपालत्व के सामान्य होने से तथा आमिक्षा के सामान्य होने यस्य लिङ्गमर्थसंयोगात् (मी० ८।१।२) (=जिस कर्म का लिङ्ग अर्थ के संयोग से देखा जाता है उसके सामान्य होने से वे धर्मों के ग्राहक होते हैं) से प्राप्ति होती है। [विशेष आगे यथास्थान देखें] ॥२७॥

———

व्याख्या—कहीं सुना जाता है—वासो ददाति (=वस्त्र देता है), अनो ददाति (=शकट=गाड़ी देता है)। वहां विचार किया जाता है कि क्या वस्त्र की और शकट की क्रिया प्राप्त होती है अथवा नहीं ? इस प्रकार हमारे लिये पहले परीक्षा के योग्य है—क्या [ये वासः और अनः] कर्मनिमित्त वाले ये शब्द हैं अथवा आकृति निमित्त वाले ? यदि कर्म निमित्त वाले हैं तो क्रिया प्राप्त होती है। यदि आकृति निमित्त वाले हैं तो क्रिया प्राप्त नहीं होती। क्या प्राप्त होता है ? [वासः और अनः]कर्मनिमित्तक हैं। किस हेतु से? कर्म के होने पर उन[शब्दों] का दर्शन होने से। जब जिस द्रव्य में—काष्ठ वा सूत में बढ़ई द्वारा अथवा जुलाहे द्वारा कर्म किया हुआ होता है तब ये शब्द प्रवृत्त होते हैं पहले प्रयुक्त नहीं होते। इससे जाना जाता है कि ये कर्मनिमित्तक हैं। जब कर्मनिमित्तक हैं, तब यह सूत्र आरम्भ किया जाता है—

---

१. मी० अ० ८, पा० १, सूत्र २।

२. तै० ब्रा० १।१।६।११॥ मै० सं० ४।८।३॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यदनो वा रथं वा [ददाति] मै० सं० ४।८।३॥

कर्मजे कर्म यूपवत् ॥२८॥ (पू०)

कर्मजे कर्म यूपवत् । कर्मजे-एतस्मिन्वास आदौ द्रव्ये श्रूयमाणे, कर्म प्राप्यते । कथम् ? यूपवत् । यथा यूपशब्दो जोषणादिक्रियानिमित्तः स यत्र श्रूयते, तत्र जोषणाद्याः क्रियाः प्राप्यन्ते, एवमिहापीति ॥२८॥

अत्रोच्यते—

रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥२९॥ (उ०)

नैतौ कर्मनिमित्तौ । किं कारणम् ? ये नैमित्तिकाः शब्दास्ते निमित्तमुपलभ्य प्रयुज्यन्ते । यथा, दण्डी छत्रीति । इमौ त्वनुपलभ्य क्रियामाकृतिमात्रे प्रयुज्येते । तस्मान्नैतौ क्रियानिमित्ताविति । अथोच्येत[1], आकृत्या क्रियामनुमाय ततः शब्दं

कर्मजे कर्म यूपवत् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(कर्मजे) कर्म=क्रियानिमित्तक वासः और अनः के होने पर (कर्म) क्रिया प्राप्त होती है (यूपवत्) यूप के समान । जैसे यूप शब्द का प्रयोग वहीं होता है, जहां काष्ठ तक्षण आदि से विशिष्ट आकृति वाला बनाया जाता है ।

व्याख्या—कर्मज में कर्म प्राप्त होता है यूप के समान । कर्मज में—इस वासः आदि द्रव्य के श्रूयमाण होने पर कर्म प्राप्त होता है । कैसे ? यूप के समान । जैसे यूप शब्द लक्षण आदि क्रियानिमित्तक है । अतः वह [यूप शब्द] जहां सुना जाता है वहां तक्षणादि क्रियाएं प्राप्त होती हैं । इसी प्रकार यहां भी ।

इस विषय में कहते हैं—

रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द क्रियानिमित्तक होने से क्रिया प्राप्त होती है इस पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (रूपम्) रूप=आकृति ही निमित्त है । (अशेषभूतत्वात्) क्रिया के शेषभूत न होने से अर्थात् प्रकृत कर्मकाल में तन्तुवाय तथा दारुक की क्रियाओं के अङ्गरूप से विहित न होने से । यूप आदि में तो यूपं तक्षति आदि क्रियाओं का प्रत्यक्ष विधान है ।

व्याख्या—ये (वासः अनः) क्रियानिमित्तक नहीं हैं । क्या कारण है ? जो नैमित्तिक शब्द होते हैं वे निमित्त को पाकर प्रयुक्त होते हैं । जैसे दण्डी छत्री [छत्र और दण्ड निमित्त होने पर ही इन का प्रयोग होता है] । ये दोनों तो क्रिया को उपलब्ध न करके आकृतिमात्र में प्रयुक्त होते हैं । इसलिये ये क्रियानिमित्तक नहीं हैं । यदि कहो कि आकृति से क्रिया का अनु-

---

१. 'अत्रोच्यते'—पाठान्तरम् ।

प्रयुङ्क्त इति । अत्र ब्रूमः—प्रत्यक्षामाकृतिनिमित्ततां गम्यमानामुत्सृज्य, अदृष्टार्थां क्रियायां निमित्तत्वकल्पनायां हेतुर्नास्तीति । यत्तूक्तं, क्रियोत्तरकालं प्रवृत्तिदर्शनादिति । अत्र ब्रूमः—प्राक् क्रियाया आकृतिरनभिव्यक्ता । सा क्रिययाऽभिव्यज्यते। यतः क्रियोत्तरकालं शब्दप्रयोगः । तस्माद् आकृतिनिमित्तौ । यदेवं तदा सिद्धं रूपं देयम् । कुतः ? अशेषभूतत्वात् । नात्र क्रिया शेषभूता । क्रियावाचिनः शब्दस्याभावात् । यूपे तु प्रत्यक्षविहिता जोषणाद्याः क्रियाः । तस्माद् यूपवदिति, अतुल्योपन्यासः ॥२६॥

[गर्गत्रिरात्रे लौकिकाग्नेरुपनिधेयत्वाधिकरणम् ॥१२॥]

गर्गत्रिरात्र आज्यदोहानि सामानि प्रकृत्य श्रूयते—अग्निमुपनिधाय स्तुवते[1]

मान करके शब्द का प्रयोग करता है। इस विषय में कहते हैं—प्रत्यक्ष गम्यमान आकृतिनिमित्तता को छोड़कर अदृष्ट क्रियानिमित्तत्व कल्पना में हेतु नहीं है। और जो कहा कि [वयन और तक्षण] क्रिया के उत्तर काल में [वासः अनः] की प्रवृत्ति के दर्शन से [ये क्रियानिमित्तक हैं]। इस विषय में कहते हैं—क्रिया के पहले आकृति अनभिव्यक्त है। वह आकृति क्रिया से अभिव्यक्त होती है। जिस कारण क्रिया के उत्तर काल में शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये ये आकृतिनिमित्तक हैं। जब ऐसा है तो सिद्ध (=निष्पन्न) रूप देय है। किस हेतु से? शेषभूत न होने से। यहां (=वासः अनः में) क्रिया शेषभूत नहीं है, क्रियावाची शब्द के अभाव से। यूप में तो प्रत्यक्ष विहित हैं जोषण आदि क्रियाएं। इसलिये यूपवत् यह उपन्यास (=दृष्टान्त) [उभयत्र] समान नहीं है ॥२६॥

विवरण—अनुपलभ्य क्रियाम्—कर्मकाल में विहित किसी क्रिया को उपलब्ध न करके, अर्थात् कर्मकाल में वासः की वयन तथा अनः की तक्षण आदि क्रियाओं के करने का विधान नहीं है। अदृष्टायां क्रियायाम्—इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं। (१) वासः अनः के निर्माण की क्रिया अदृष्ट है, वासः अनः की उपलब्धि प्रत्यक्ष है। (२) जैसे यूप में कर्म शेषभूत अङ्गभूत क्रिया प्रत्यक्ष विहित है उसी प्रकार वासः और अनः की वयन तथा तक्षण आदि क्रिया प्रत्यक्ष कर्म के अङ्गरूप से विहित नहीं है। उनके निर्माण की क्रिया कर्मकाल से बहिर्भूत होने से अदृष्ट है ॥२६॥

व्याख्या—गर्गत्रिरात्र में आज्यदोह [संज्ञक साम] को अधिकृत करके सुना जाता है—अग्निमुपनिधाय स्तुवते (=अग्नि का उपनिधान=स्थापन करके स्तुति करता है;

---

१. तां० ब्रा० २१।२।६॥

इति । अत्र विशयः । किं लौकिकोऽग्निरुपनिधेय उत वैदिक इति । किं प्राप्तम् ? वैदिक इति । कुतः ? सर्वकर्मार्थं उत्पन्नोऽसौ । यान्यहं कर्माणि करिष्ये येश्चास्म्यधिकृत इति । अतो वैदिक उपनिधेय इति । एवं प्राप्त उच्यते—

विशये लौकिकः स्यात् सर्वार्थत्वात् ॥३०॥ (उ०)

विशये लौकिकः स्यात्सर्वार्थत्वात् । एतस्मिन् विशये—लौकिकं वैदिकमिति, लौकिकः स्यात् । कुतः ? सर्वार्थत्वात् । लौकिकः सर्वार्थः । न तस्य कार्यं किंचिन् निर्दिष्टम् । अतो यद्यदग्निना कर्तव्यं दृष्टमदृष्टं वा तत्तदुपादीयमानमविरुद्धम् । तस्माल्लौकिकः स्यात् ॥३०॥

अथ यदुक्तम्—वैदिकं सर्वकर्मार्थमुत्पन्नम् । तस्मात्तदुपनिधेयमिति । अत्र ब्रूमः—

न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥३१॥ (उ०)

सामगान करता है)। यहां सन्देह होता है क्या लौकिक अग्निका उपनिधान करता चाहिये अथवा वैदिक का । क्या प्राप्त होता है? वैदिक का । किस हेतु से ? वह(=वैदिक अग्नि)सब कर्मों के लिये उत्पन्न हुआ है । मैं जिन कर्मों को करूंगा और जिन कर्मों के लिये मैं अधिकृत हूं । इस से वैदिक अग्नि उपनिधेय है । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

विशये लौकिकः स्यात् सर्वार्थत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(विशये) संशय होने पर (लौकिकः) लौकिक अग्नि उपनिधेय (स्यात्) होवे । उसके (सर्वार्थत्वात्) सब प्रयोजनों के लिये होने से ।

व्याख्या—संशय में लौकिक अग्नि होवे सर्वार्थ होने से । इस संशय में—लौकिक होवे वा वैदिक ? लौकिक होवे । किस हेतु से ? सब प्रयोजनों के लिये होने से । लौकिक अग्नि सब प्रयोजनों के लिये है । उसका कोई कार्य निर्दिष्ट नहीं है । इस से जो-जो अग्नि से कर्तव्य है दृष्ट अथवा अदृष्ट [प्रयोजन वाला कर्म] उसे उस-उस का उपादान अविरुद्ध है । इससे लौकिक अग्नि होवे ॥३०॥

व्याख्या—जो यह कहा है—वैदिक अग्नि सब कर्मों के लिये उत्पन्न हुआ है । इससे वह उपनिधेय है । इस विषय में कहते हैं—

न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वैदिकम्) वैदिक अग्नि सर्वार्थ (न) नहीं है । (अर्थनिर्देशात्) उस अग्नि के प्रयोजन विशेषों का उल्लेख होने से ।

न वैदिकमग्निद्रव्यं शास्त्रेणोत्पादितम्, तस्य शास्त्रेणैव कार्यं निर्दिष्टं, **यदाहवनीये जुहोति**[1] इत्यारभ्य। तस्मिन् सर्वार्थे कल्प्यमाने निर्देशोऽनर्थकः स्यात्। तस्माल्लौकिकोऽग्निरुपनिधेयः। सर्वार्थत्वं चैषां स्वे स्वे कार्ये वर्त्तमानानां भविष्यति। एवमुभयमविरुद्धं, सर्वार्थत्वं निर्देशश्चेति ॥३१॥

अथ धैष्ण्या अग्नयः कस्मान्नोपनिधीयन्ते। अत्रोच्यते—

तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ॥३२॥ (आति०)

इतरेषामप्यग्नीनां धैष्ण्यानां तथोत्पत्तिः, न सर्वार्थ इत्यर्थः। कुतः? समत्वात्। एतेऽपीतरैरग्निभिः समाः। एतेषामपि निर्दिष्टं कार्यम्—**प्रागासीनो**

व्याख्या—[वैदिक अग्नि सर्वार्थ] नहीं है। वैदिक अग्नि द्रव्य शास्त्र से उत्पादित है। उस का शास्त्र से ही कार्य निर्दिष्ट है—यदाहवनीये जुहोति (=जो आहवनीय में होम करता है) इत्यादि। उस [वैदिक अग्नि] के सर्वकार्यार्थ कल्पना करने पर निर्देश अनर्थक होवे। इसलिये लौकिक अग्नि का स्थापन करना चाहिये। [वैदिक अग्नियों का] सर्वार्थत्व स्व-स्व कार्य में वर्तमान अग्नियों का होगा। इस प्रकार सर्वार्थत्व और निर्देश दोनों ही अविरुद्ध हैं।

विवरण—**इत्यारभ्य**—से तात्पर्य है जैसे आहवनीयाग्नि के कार्य की विधायिका श्रुति दर्शाई है तद्वत् गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि में होने वाले कार्यों की श्रुतियां भी जाननी चाहियें। **निर्देशोऽनर्थकः स्यात्** का तात्पर्य है कि वैदिक अग्नि के सर्वार्थत्व होने पर यदाहवनीये जुहोति इत्यादि निर्देश भी अनर्थक होगें। **सर्वार्थत्वं चैषां स्वे स्वे कार्ये**—इसके लिये सर्वत्वमाधिकारिकम् (मी० १।२।१६) सूत्र और उसका भाष्य अनुसन्धेय है ॥३१॥

व्याख्या—(आक्षेप) धिष्ण्या स्थान की अग्नियों का उपनिधान क्यों नहीं करते? इस विषय में कहते हैं—

तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(इतरेषाम्) धिष्ण्या स्थानीय अग्नियों की (उत्पत्तिः) प्रादुर्भाव भी (तथा) वैसा ही है अर्थात् सर्वार्थ नहीं है (समत्वात्) इन का भी कार्य अन्य अग्नियों के समान होने से। [धैष्ण्य अग्नियों का कार्यबोधक वचन भाष्य में देखें।]

व्याख्या—अन्य धिष्ण्य स्थानीय अग्नियों की उत्पत्ति भी उसी प्रकार है अर्थात् सर्वार्थ नहीं। किस हेतु से? सम होने से। वे अग्नियां भी इतर (=आहवनीय आदि) अग्नियों के समान हैं। इन का कार्य भी निर्दिष्ट है—प्रागासीनो धिष्ण्यानाघारयति (=पूर्व में बैठा

---

१. तै० सं० १।१।१०।१॥

धिष्ण्यानाघारयति' इति । अतस्ते नोपनिधेया इति ॥३२॥

[उपशये यूपशब्दस्य संस्कारानतिदेशकत्वाधिकरणम् ॥१३॥]

एकादशिन्यां श्रूयते—उपशयो यूपो भवति' इति । तत्र सन्देहः—किमेतदुपशयद्रव्यं' संस्कृतं, जोषणादयः संस्कारा अत्र कर्तव्या उत नेति ? किं युक्तम् ?

हुआ धिष्ण्य अग्नियों का आघारण करता है अर्थात् उनमें आज्य की आहुतियां देता है)। इसलिये उनका (=धिष्ण्यस्थानीय अग्नियों का) उपनिधान नहीं करना चाहिये ॥३२॥

विवरण—प्रागासीनः—पूर्व में बैठने पर आहुति देनेवाले का मुख पश्चिम दिशा की ओर होगा। तै० सं० १।३।१।४ में प्रत्यङासीनः धिष्णियान् व्याघारयति वचन है तदनुसार पश्चिम में बैठने पर मुख पूर्व की ओर होगा। भट्टभास्कर ने 'प्राङ्मुखः' अर्थ ही किया है। भाष्यकार द्वारा उद्धृत पाठ में और तैत्तिरीय संहिता के पाठ में जो भेद (प्रागासीनः, प्रत्यङासीनः) है वह सम्भव है शाखान्तरकृत् हो। धिष्ण्यास्थ अग्नियों के व्याघारण प्रकार के लिये आप० श्रौत १३।१४।५ तथा कात्या० श्रौत १०।६।१४ देखें ॥३२॥

व्याख्या—एकादशिनी में सुना जाता है-उपशयो यूपो भवति (=उपशय नाम का यूप होता है)। उसमें सन्देह है—क्या यह उपशयसंज्ञक द्रव्य संस्कृत है ? इस में लक्षण आदि संस्कार करने चाहिये अथवा नहीं ? क्या युक्त है ?

विवरण—एकादशिन्याम्—अर्थात् ११ यूपों का समूह। जिस याग में ११ पशु होते हैं उसमें उन्हें बांधने के लिये ११ यूप गाड़े जाते हैं। ये यूप महावेदि के पूर्व में स्थापित होते हैं। इन यूपों की ऊंचाई भी विषम होती है। इन के गाड़ने का क्रम और प्रति यूप ऊंचाई इस प्रकार जाननी चाहिये—

वर्षिष्ठो दक्षिणोऽनुपूर्वा इतरे (कात्या० श्रौत ८।८।१६) अर्थात् यूपों में दक्षिण यूप वर्षिष्ठ=सब से ऊंचा २६ अरत्नि परिमाणवाला होवे। उस के पश्चात् क्रमशः न्यून ऊंचाई के। अर्थात् शेष १० यूप २५, २४, २३, २२, २१, २०, १९, १८, १७, १६ अरत्निपरिमाण वाले होते हैं। इन के निखनन के कई पक्ष हैं। उन्हें श्रौतसूत्रों से जानना चाहिये। उपशयो यूपो भवति—१२ वां यूप उपशय संज्ञक होता है। इस का परिमाण ५ अरत्नि परिमाण का

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—प्रत्यङासीनो धिष्णियान् व्याघारयति। तै० सं० १।३।१।४॥ प्रत्यङासीनः—प्राङ्मुख इति भट्टभास्करः।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—द्वादश उपशयो भवति। शत० ३।७।२।१॥

३. 'उपशयवाच्यं, संस्कृतम्' पाठान्तरम्।

संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥३३॥ (पू०)

संस्कृतं स्यात् । कर्तव्या अत्र जोषणादयः संस्काराः । कुतः ? तच्छब्दत्वात् । अयं यूपशब्दः संस्कारनिमित्तः । स एषोऽसत्सु संस्कारेषु नोपपद्यते । तस्मात्ते कार्या इति ॥३३॥

भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद् गुणानामभिधानत्वात् ॥३४॥ (उ०)

न वा कर्तव्याः । कुतः ? अयज्ञशेषत्वात् । एते संस्कारा अस्मिन् काष्ठे क्रियन्ते । एतेन द्वारेण यजतिना सम्भत्स्यन्ते । इत्थं संस्कृते काष्ठे नियुक्तेन पशुना यजिः क्रियमाणोऽपूर्वं निर्वर्तयतीति । अस्मिंश्चोपशये न पशुर्नियुज्यते, तत्र कृताः

होता है । यह १२ वां वर्षिष्ठाद् दक्षिणं वितष्टद्वादशं निदधाति (कात्या० ८।८।२२) । उपशय यूप वितष्ट=विगत तष्ट अर्थात् अतष्ट विना तक्षण किये वर्षिष्ठ=सब से ऊंचे यूप के दक्षिण में रखे इसे गाड़ा नहीं जाता, भूमिपर लिटाया हुआ रखते हैं । उप=समीपे, वर्षिष्ठस्य यूपस्य समीपे शेत इत्युपशयः ।

संस्कृतं स्यात् तच्छब्दत्वात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—उपशय संज्ञक द्रव्य (संस्कृतम्) संस्कृत अर्थात् जोषणादि संस्कारों से युक्त (स्यात्) होवे (तच्छब्दत्वात्) उस शब्द वाला अर्थात् यूप शब्दवाला होने से ।

व्याख्या—[उपशय] संस्कृत होवे । यहां जोषणादि संस्कार करने चाहिये । किस हेतु से ? उस शब्द वाला होने से । यह यूप शब्द संस्कारनिमित्तक है । वह यूप शब्द संस्कार न होने पर उपपन्न नहीं होता । इस से उन्हें करना चाहिये ॥३३॥

भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद् गुणानामभिधानत्वात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । उपशय में संस्कार नहीं करने चाहियें । (अयज्ञशेषत्वात्) यज्ञ शेष के न होने से । अर्थात् उपशय का यजति के साथ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसमें किसी पशु का नियोजन नहीं होता, जिस कारण संस्कार किये जायें । (गुणानाम्) उपशय में कतिपय तूष्णीं छेदनादि यूप गुणों के (अभिधानत्वात्) कथन होने से उपशय में यूप शब्द (भक्त्या) भक्ति=गौणीवृत्ति से प्रयुक्त होता है । यथा यजमानो यूपः में । [यूप के यजमानत्व के कथन के लिये (मी० १।४।२५ सूत्र का भाष्य देखें)] ।

व्याख्या—[उपशय में यूपसंस्कार] नहीं करने चाहियें । किस हेतु से ? अयज्ञशेषत्वात् । ये तक्षणादि संस्कार इस काष्ठ में किये जाते हैं । उस [काष्ठ] के द्वारा [वे संस्कार] यजति के साथ सम्बद्ध होंगे । इस प्रकार संस्कृत काष्ठ में नियुक्त पशु से याग किया हुआ अपूर्व को उत्पन्न करता है। इस उपशय में कोई पशु नियुक्त नहीं होता है। इससे उसमें किये गये संस्कार

संस्कारा अनर्थकाः स्युः। ननु वचनसामर्थ्यादिदृष्टार्था भविष्यन्ति। उच्यते। नात्र वचनं यूपः कर्तव्य इति। वर्तमानापदेशोऽयम्। ननु वर्तमानापदेशोऽपि न घटते संस्काराणामभावे। उच्यते भक्त्या भविष्यति। यथा—**यजमानो वै यूपः**[1] इति। आह। तत्र सादृश्यात्। इह पुनः कथमिति? उच्यते। गुणानामभिधानत्वात्। यूपगुणानां यूपसंस्काराणामभिधानत्वात्। यूपसंस्कारास्तत्र केचिदर्थप्राप्ताश्छेदनादयस्तूष्णीं कृताः सन्ति। तैरयमभिधीयते यूप इत्ययूपः सन्। यथा—स्नाता कन्याऽनलंकृता, मालागुणेनाप्यलंकृतेति। एवमेकदेशेनापि संस्काराणां संस्कृत इति स्तुत्याऽभिधीयते ॥३४॥

———

अनर्थक होंगे। (आक्षेप) वचन सामर्थ्य से [संस्कार] अदृष्टार्थ होंगे। (समाधान) यहां वचन नहीं है कि [उपशय] यूप करना चाहिये। [उपशयो यूपो भवति] यह वर्तमान का कथन करने वाला है। (आक्षेप) संस्कारों के अभाव में [उपशय यूप होता है यह] वर्तमान का कथन भी उपपन्न नहीं होता अर्थात् संस्कारों के अभाव के कारण उपशय को यूप नहीं कह सकते। (समाधान) भक्ति=गौणी वृत्ति से [कथन उपपन्न] हो जायेगा। जैसे—यजमानो वै यूपः में। (आक्षेप) उस [यजमानो वै यूपः] में सादृश्य से कथन होता है। यहां फिर कैसे होगा? (समाधान) गुणों के अभिधान=कथन से। यूप गुण=यूप के संस्कारों के कथन से। कतिपय यूप संस्कार उसमें अर्थात् प्राप्त हैं छेदन आदि तूष्णीं किये हुए विद्यमान हैं। उन के कारण यूप न होते हुए भी यह 'यूप' है ऐसा कहा जाता है। जैसे—स्नान की हुई कन्या अलङ्कार धारण न की हुई भी माला के गुण मात्र से 'अलंकृता' कही जाती है। इस प्रकार संस्कारों के एकदेश से भी संस्कृत हुआ स्तुति से [यूप] कहा जाता है ॥३४॥

विवरण – **अस्मिश्चोपशये न कश्चित् पशुर्नियुज्यते**—तात्त्विक कथन यही है कि उसमें कोई पशु नियुक्त (बांधा) नहीं किया जाता। आप० श्रौत १४।७।१ में **आरण्यं पशुमाखुं वोपशये निर्दिशेत्** से आरण्य पशु गवय आदि अथवा चूहे को [पशु मानकर] निर्देश करे। तथा अगले सूत्र में **असौ ते पशुरिति द्वेष्यं मनसा ध्यायन्** ऐसा निर्देश करे। यहां केवल निर्देश मात्र का उल्लेख है पशु के नियोजन का विधान नहीं है।

कर्काचार्य ने मीमांसादर्शन के उक्त पक्ष को उद्धृत करके मीमांसकों के मत का खण्डन किया है। उसका संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—यूप धर्म प्रोक्षण आदि का भी यूप के कार्यरूप पशुनियोजन प्रयुक्तत्व नहीं है। किन्तु यूपस्वरूनिष्पादकत्व ही है। इसलिये उपशय में भी

१. तै० ब्रा० १।३।७।३॥

[पृष्ठशब्दस्य ऋङ्मन्त्रवाचित्वाधिकरणम् ॥१४॥]

अग्नौ श्रूयते—**पृष्ठैरुपतिष्ठते**[1] इति। तत्र चिन्त्यते—किं पृष्ठधर्माः कर्तव्या उत नेति? के पुनस्ते? सामान्यधर्माः—हिंकारादयः, विशेषधर्माः—**रथन्तरे प्रस्तूयमाने पृथिवीं मनसा ध्यायेत्, बृहति समुद्रम्**[2] इत्येवमादयः। किं तावत् प्राप्तम्? तत आह—एतत्तावन्नः परीक्ष्यम्। किमयं पृष्ठशब्दः कर्मणो वाचक उत द्रव्यस्येति। ननु सिद्धमेतत् कर्मनामधेयं पृष्ठशब्द इति, **यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः**[3] इत्यत्र। तास्वेव चोदनास्वेतदुक्तम्—**सप्तदशानि पृष्ठानि**[4] **वैरूपं पृष्ठं**[5], **वैराजं पृष्ठम्** इति। इहेदानीं **पृष्ठैरुपतिष्ठते** इत्यस्यां चिन्त्यते। किं पुनरत्र युक्तम्? तत आह—

उनकी निष्पत्त्यर्थ उनका अनुष्ठान युक्त ही है। और जो कहा भवति यह वर्तमान काल का कथन है, यह भी ठीक नहीं। वर्तमानापदेश का भी पञ्चम लकार (लेट् लकार) की परिकल्पना से विधायकत्व होता है। जैसे आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति, ऐन्द्रमेकादशकपालं भवति इत्यादि में। इसलिये उपशय में भी धर्मों की प्रवृत्ति युक्त ही है (द्र० कात्या० श्रौत कर्कभाष्य ८।८।२३)॥३४॥

व्याख्या—अग्नि में सुना जाता है—पृष्ठैरुपतिष्ठते (=पृष्ठों से उपस्थान करता है)। इस विषय में विचार किया जाता है—क्या पृष्ठों के धर्म करने चाहिये या नहीं? वे [पृष्ठों के धर्म] कौन से हैं? सामान्य धर्म हिंकार आदि हैं। विशेष धर्म—रथन्तर का उच्चारण करते हुए पृथिवी का मन से ध्यान करे, बृहत् के उच्चारण करते हुए समुद्र का ध्यान करे इत्यादि। क्या प्राप्त होता है? उसके अनन्तर कहते हैं—पहले हमारे द्वारा यह परीक्ष्य (=परीक्षा करने योग्य) है। क्या यह पृष्ठ शब्द कर्म का वाचक है अथवा द्रव्य का? (आक्षेप) सिद्ध है कि यह पृष्ठ शब्द कर्म का नाम है—यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसंबन्धः (=जिस में गुणों का उपदेश है उस का प्रधान के साथ=धात्वर्थ के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये अर्थात् वह कर्म नामधेय है) इस सूत्र में। उन्हीं चोदनाओं में यह कहा है—सप्तदशानि पृष्ठानि (=सत्रह पृष्ठ हैं) वैरूपं पृष्ठम्, वैराजं पृष्ठम् (=वैरूपनाम का पृष्ठ है, वैराज नाम का पृष्ठ है)। अब पृष्ठैरुपतिष्ठते इस में विचार करते हैं। यहां क्या युक्त है? इस में कहते हैं—

---

१. तै० सं० ५।२।८।१॥
२. अनुपलब्धमूले। द्र०—तां० ब्रा० ७।७।१५; ७।७।१६॥
३. मी० १।४।३॥ ४. तां० ब्रा० २०।११।१; २१।६।१॥ ५. अनुपलब्धमूलम्।

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात तथाभूतोपदेशात् ॥३५॥ (पू०)

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात् तथाभूतोपदेशात् । कर्मणो वाचकः पृष्ठशब्दः स्यात्। कुतः ? **तथाभूतोपदेशात्** । यथाभूतः स उपदेशः, यत्रायं[1] पृष्ठशब्दः कर्मनामाधिगतस्तथाभूतोऽयमपि । किमस्य तथात्वम् ? पृष्ठशब्दसामान्यम् । पृष्ठशब्दस्तत्र कर्मवचनोऽधिगतः । स एवायम् । तस्मादिहापि तद्वचन एवावगन्तव्यः,[2] विशेषाभावात् । यद्यत्रान्यार्थः[3] कल्प्येत, एकः शब्दोऽनेकार्थः स्यात् । तत्र को दोषः ? शब्द उच्चरिते संशयः स्यान्नार्थप्रत्ययः । तत्र व्यवहारो न सिध्येत् । व्यवहारार्थश्च शब्दप्रयोगः । कारणान्तरं वा प्रकरणाद्यपेक्ष्यम् । एकार्थत्वे तु निरपेक्षोऽर्थप्रत्ययः । तस्मादनेकार्थत्वमन्याय्यम् । तस्मात् कर्मनाम पृष्ठशब्दः । यदा कर्मनाम, तदा यदि तावत् तानि कर्माणीहोपदिश्यन्ते, तत्रोत्पत्तिरेषामनर्थिका । अथ मा भूदेष दोष इत्येतदुपस्थानं तत्र विज्ञायते । तत इदं प्रकरणं बाध्येत । तस्मात् सादृश्यविधिरयम् । **पृष्ठैरुपतिष्ठते**—पृष्ठसदृशैः कर्मभिरुपतिष्ठत इति । तत् सादृश्यं च धर्मैर्भवति । तस्मात् कर्तव्या धर्मा इति ॥३५॥

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात् तथाभूतोपदेशात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(पृष्ठशब्दः) पृष्ठशब्द (कर्मणः) कर्म का नाम (स्यात्) होवे, जैसे पृष्ठ शब्द कर्म का नाम है (तथाभूतोपदेशात्) उसी प्रकार पृष्ठैरुपतिष्ठते का कथन होने से ।

व्याख्या—पृष्ठ शब्द कर्म का नाम होवे उसी प्रकार का कथन होने से । कर्म का वाचक पृष्ठ शब्द होवे । किस हेतु से ? तथाभूत उपदेश होने से । जिस प्रकार का वह उपदेश है जैसे यह पृष्ठ शब्द कर्म नाम जाना गया है, उसी प्रकार का यह (पृष्ठैः स्तुवते) भी है । इस (पृष्ठैः स्तुवते)का तथात्व (=उस जैसा होना) क्या है ? पृष्ठ शब्द सामान्य । पृष्ठ शब्द वहां कर्मवचन जाना गया है । वही यह [पृष्ठ शब्द] है । इसलिये यहां भी उस (=कर्म) को कहने वाला ही जानना चाहिये,विशेष न होने से। यदि यहां('पृष्ठैः स्तुवते' में पृष्ठ शब्द)अन्य अर्थवाला कल्पित होवे तो एक शब्द अनेकार्थक होवे । उसमें क्या दोष है ? पृष्ठ शब्द के उच्चरित होने पर संशय होवे, अर्थज्ञान न होवे । उस अवस्था में व्यवहार सिद्ध न होवे । व्यवहार के लिये ही शब्द प्रयोग होता है । अथवा प्रकरणादि अन्य कारण की अपेक्षा होवे । एकार्थक होने पर तो अर्थ का परिज्ञान निरपेक्ष होगा । इस लिये अनेकार्थत्व अन्याय्य है । इससे पृष्ठ शब्द कर्मनाम है । जब कर्मनाम है तब यदि वे कर्म यहां उपदिष्ट हैं, उस अवस्था में उनकी उत्पत्ति अनर्थक होवे । अथवा यह दोष न होवे इस से उपस्थान वहां जाना जाता है । उससे यह प्रकरण बाधित होता है। इससे तत्सदृश(उस पृष्ठ के सदृश)यह विधि है पृष्ठैः स्तुवते पृष्ठ सदृशों से=कर्मों से उपस्थान करता है और वह सादृश्य धर्मों से होता है। इससे[पृष्ठ कर्मों के]धर्म करने चाहियें।३५।

---

१. 'तथाभूतः स उपदेशः, यथाऽयं पृ'—पाठान्तरम् ।
२. 'अवगन्तुं न्याय्यः'—पाठान्तरम् । ३. 'यद्यन्यार्थः'—पाठान्तरम् ।

अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ॥३६॥ (उ०)

न चैतदेवं, कर्मणः पृष्ठशब्द इति। किं तर्हि? द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात्, ऋग्द्रव्येषु। **अभि त्वा शूर नोनुमः**[1] इत्येवमादीनामृचां वाचकः। कुतः? अभिधानोपदेशात्। अभिधानोपदेशोऽयम्—**पृष्ठैरुपतिष्ठते** इति। पृष्ठैरभिदधातीत्यर्थः। कथं पुनरयमुपस्थानवचनोऽभिधानार्थः शक्यो विज्ञातुम्? उच्यते। उपग्रहविशेषात्। मन्त्रकरण उपतिष्ठतेरात्मनेपदं भवति।[2] मन्त्रस्त्वभिधानस्य करणं नोपस्थानस्य।

विवरण—**यथायं पृष्ठशब्दः कर्मनामाधिगतः**— **यस्मिन् गुणोपदेशः स्यात्** इत्यादि (मी० १।४।३) सूत्र और उसका भाष्य देखें। **व्यवहारार्थश्च शब्दप्रयोगः**। यही बात पातञ्जल महाभाष्य (१।१।४४) में भी कही है—**अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते।** अर्थात् अर्थ की प्रतीति के लिये शब्द का प्रयोग होता है। अर्थ का ज्ञान कराऊंगा इस विचार से शब्द का प्रयोग किया जाता है। **अनेकार्थत्वमन्याय्यम्**—अन्यत्र भाष्यकार शबरस्वामी ने **अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्** (मी० भा० १।३।३२;२।१।१२; ३।२।१; ५।४।१४; ६।१।२२) इस प्रकार पढ़ा है। न्यायसुधाकार ने कहा है—**अन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम्** (मी० १।३।२६) इस सूत्र को भाष्यकार ने **अन्याय्यश्चानेकार्थत्व** के रूप में ऊहित करके पढ़ा है (न्यायसुधा १।३।३२) ॥३५॥

अभिधानोपदेशाद् वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(वा) पूर्वपक्ष को निवर्तित करता है—पृष्ठशब्द कर्म का नाम नहीं है। (द्रव्येषु) ऋक्रूपी द्रव्यों में (पृष्ठशब्दः) पृष्ठशब्द (स्यात्) होवे। (अभिधानोपदेशात्) आत्मनेपद अभिधान के उपदेश से (विप्रतिषेधात्) आत्मनेपदोपदेश के साथ विरोध होने से। **उपान्मन्त्रकरणे** (अष्टा० १।३।२५) से उपपूर्वक तिष्ठति से मन्त्र के करण होने पर आत्मनेपद होता है। इस आत्मनेपद विधान से मन्त्र के करण होने पर ही **पृष्ठैः स्तुवते** में आत्मनेपद होने से पृष्ठ पद वाच्य मन्त्र ही यहां अभिप्रेत है।

व्याख्या—यह ऐसा नहीं है कि कर्म का वाचक पृष्ठ शब्द है। तो क्या है? द्रव्यों में पृष्ठ शब्द होवे ऋग् द्रव्यों में। अभि त्वा शूर नोनुमः इत्यादि ऋचाओं का वाचक है। किस हेतु से? अभिधान के उपदेश से। अभिधान का उपदेश है यह—पृष्ठैरुपतिष्ठते। पृष्ठों से [क्रियमाण उपस्थान क्रिया का] कथन करता है। (आक्षेप) यह उपस्थान का वाचक [उपतिष्ठते] अभिधान अर्थ वाला कैसे जाना जा सकता है? (समाधान) उपग्रह=आत्मनेपद की विशेषता से। मन्त्र करण होने पर उपपूर्वक तिष्ठति से आमनेपद होता है। मन्त्र तो अभिधान

---

१. साम सं० उ० प्र० १, अर्धप्र० १, मं० १। संहृत्य सकलमन्त्रसंख्या ६८०।
२. उपान्मन्त्रकरणे (अ० १।३।२५) इत्यनेन।

उपस्थानं शरीरेण क्रियते, मनसा वा। तस्मादभिधानार्थः। स एष विप्रतिषेधः। यदि पृष्ठशब्दः कर्मसु कल्प्यते,आत्मनेपदं बाध्यते। न हि तदा मन्त्रः करणं भवति। अथाऽऽत्मनेपदमनुरुध्यते, उपस्थानविप्रतिषेधः। तदाऽभिधानार्थताऽऽपतति। तत्राऽऽत्मनेपदानुरोधो न्याय्यः। पृष्ठशब्दो हि लक्षणया पृष्ठसाधनं मन्त्रं ब्रुवन्नर्थवान्। आत्मनेपदं तु मन्त्रकरणेनैवोपपद्यते। अतः पृष्ठसाधनेषु मन्त्रेषु पृष्ठशब्दः।

आह नैतद्युक्तम्। उपस्थानार्थता हि श्रुत्योपतिष्ठतेः। आत्मनेपदाल्लिङ्गादभिधानार्थता। न च लिङ्गेन श्रुतिर्बाधितव्या। उच्यते—नैवात्र श्रुतिर्बाध्यते। स्वार्थमेवोपतिष्ठतिराह समीपस्थानम्। तत्त्वभिधानाय। अभिधानं निर्वर्तयितुम् अग्निसमीपे तिष्ठेदिति[1] तिष्ठतिराह, आत्मनेपदात्। ततोऽविरोधः। आह एवमप्यभिधानस्य मन्त्रः करणं, नोपतिष्ठतेः। तत्रासम्बन्ध एवोपस्थानस्य मन्त्रेण। तथा,

का करण है उपस्थान का करण नहीं है। उपस्थान शरीर से किया जाता है अथवा मन से। इसलिये पृष्ठ शब्द अभिधान अर्थवाला है। वह यह विप्रतिषेध(=विरोध) [भी होता है]—यदि पृष्ठ शब्द कर्म में कल्पित होवे तो आत्मनेपद बाधित होवे। उस समय (=पृष्ठ शब्द को कर्म वाचक मानने पर)मन्त्र करण नहीं होता। और यदि आत्मनेपद का अनुरोध होवे तो उपस्थान का विप्रतिषेध होवे। तब अभिधान अर्थ प्राप्त होता है। इस में आत्मनेपद का अनुरोध न्याय्य है। पृष्ठ शब्द लक्षणा से पृष्ठ साधन मन्त्र को कहता हुआ अर्थवान् है। आत्मनेपद तो मन्त्र के करण होने से ही उपपन्न होता है। अतः पृष्ठ साधन मन्त्रों में पृष्ठ शब्द है।

विवरण—अभिधानोपदेशात्—मन्त्र क्रियमाण कर्म को कहता है।(द्र० मी० २।१।३१)। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (मी० २।१।३२) अभिधान का कथन करने वाले की मन्त्र संज्ञा कही है। अभिधानस्योपदेशोऽयं पृष्ठैरुपतिष्ठते—किये जा रहे उपस्थान को मन्त्र कहने वाला होता है। की जा रही उपस्थान क्रिया को पृष्ठमन्त्रों से कहता है। आत्मनेपदं बाध्येत—पृष्ठ शब्द यदि कर्म का वाचक होवे तो मन्त्र के करण न होने पर उपामन्त्रकरणे से आत्मनेपद न होवे। इससे पृष्ठ की अभिधानार्थता प्राप्त होती है।

व्याख्या—(आक्षेप) यह युक्त नहीं है। 'उपतिष्ठते' की उपस्थानार्थता श्रुति से जानी जाती है और अभिधानार्थता आत्मनेपद लिङ्ग से। लिङ्ग से श्रुति बाधित करने योग्य नहीं है। (समाधान)यहां श्रुति बाधित नहीं होती है। उपतिष्ठति स्वार्थ समीपस्थान को ही कहता है। वह अभिधान के लिये अर्थात् अभिधान को उपपन्न करने के लिये अग्निसमीप स्थित होवे यह 'तिष्ठति' कहता है, आत्मनेपद श्रवण से। इस से विरोध नहीं है। (आक्षेप) इस प्रकार भी अभिधान का मन्त्र करण होता है, 'उपतिष्ठति(उपपूर्वक स्था धातु)का [मन्त्र करण] नहीं होता। उस अवस्था में उपस्थान का मन्त्र के साथ संबन्ध नहीं होगा। ऐसा होने पर पृष्ठैरुप-

१. 'तिष्ठेदित्यात्मनेपदाविरोधः। आह'—पाठान्तरम्।

पृष्ठैरुपतिष्ठते इति समुच्चारणमनर्थकं स्यात् । उच्यते—अभिधानमभिनिर्वर्तयन्मन्त्र उपस्थानस्य करणं भवति । यतोऽस्य प्रयोजनं निर्वर्तयति । न हि निष्प्रयोजनमनुष्ठीयते । तस्मान् मन्त्रेष्वेव पृष्ठशब्दः । मन्त्रेषु चेत्, नास्ति धर्माणां प्राप्तिः । न हि मन्त्राणां धर्माः, अधर्मकास्त इति ॥३६॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



तिष्ठते यह समुच्चारण अनर्थक होवे । (समाधान) [क्रियमाण अर्थ के] अभिधान को उपपन्न करता हुआ उपस्थान का करण होता है । इससे मन्त्रों में ही पृष्ठ शब्द है । मन्त्रों में होवे तो धर्मों की प्राप्ति नहीं होती । मन्त्रों के धर्म नहीं हैं, वे धर्म रहित हैं ॥३६॥

विवरण—इस अधिकरण का तात्पर्य यह है कि पृष्ठ मुख्य वृत्ति से साम का वाचक है । **पृष्ठैरुपतिष्ठते** में पृष्ठ शब्द से पृष्ठ संज्ञक साम की आधारभूत ऋचाओं का ग्रहण अभिप्रेत है । यह गान का आधारभूत मन्त्रों का पृष्ठ शब्द से कैसे ग्रहण हो सकता है, इस की ही मीमांसा की है । इस अधिरण का एक प्रयोजन यह है कि यदि पृष्ठ शब्द स्तोत्रवाचक होवे तो उपस्थान उद्गातृगण में से किसी के द्वारा होगा । ऋग्वाचक होने पर होतृगण में से किसी के द्वारा किया जायेगा ॥३६॥



सप्तमाध्याये चतुर्थः पादः

[अविहितेतिकर्तव्यताकेषु सौर्यादिष्वितिकर्तव्यताया अतिदेशाधिकरणम् ॥१॥]

इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ॥१॥ (उ०)

अनारभ्य किंचिच्छ्रूयते—**सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः**[1] इति। तत्रैषोऽर्थः समधिगतो यागोऽयं चोद्यत इति—**यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धाद्**[2] इति। तथेदमप्युक्तम्—कर्मफलयोः सम्बन्धे कर्म गुणतः, फलं प्रधानतः इति—**प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसंबन्धस्तस्मात् कर्मोपदेशः स्याद्**[3] इति। इदमपि चोक्तम्—यजिरपूर्वं साधयति। ततश्चापूर्वात् कालान्तरे फलं

इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ॥१॥

सूत्रार्थः—सौर्यादि याग में (इतिकर्तव्यताविधेः) इतिकर्तव्यता का विधान न होने से (यजतेः) सौर्यादियाग का (पूर्ववत्त्वम्) पूर्ववत्व दर्शपूर्णमास के समान जानना चाहिये।

विशेष—पूर्व 'नाम' के द्वारा धर्मों का अतिदेश कहा है। यहां आनुमानिक वचन से अतिदेश कहा जाता है।

व्याख्या—विना विशेष कर्म आरम्भ किये सुना जाता है—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः (=सूर्यदेवताक चरु का निर्वाप करे ब्रह्मवर्चः की कामना वाला)। इस विषय में यह अर्थ जाना गया कि यह याग की चोदना है—यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगाद् एतेषां कर्मसम्बन्धात् (=यजति=याग का विधान किया जाता है, द्रव्य फल भोक्ता के परस्पर संयोग से और कर्म संबन्ध के श्रवण से)। तथा यह भी कहा जा चुका है—कर्म और फल के सम्बन्ध होने पर कर्म गुणरूप से और फल प्रधानरूप से कहा गया है—प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसंबन्धस्तस्मात् कर्मोपदेशः स्यात् (=प्रत्येक अभिलषित स्वर्गादि अर्थ के साथ ही कर्म का संबन्ध=अन्वय होने से स्वर्गादि का कार्य से भावरूप से ही सम्बन्ध होता है अर्थात् स्वर्गादि कर्म से भाव्य है, साधन नहीं है। इस से कर्म का उपदेश=विधि होवे) सूत्र से। यह भी कहा जा चुका है कि याग 'अपूर्व' को सिद्ध करता है अर्थात् उत्पन्न करता है उस

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सौर्यं चरुं निरवपत……ब्रह्मवर्चस्कामः। तै० सं० २।३।२।२-३॥ २. मी० २।३।१४॥ ३. मी० ६।१।३॥

भवतीति **चोदना पुनरारम्भः**[1] इत्यत्र । एवमेतस्मिन् सति, सौर्यं चरुं **निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः** इत्यत्र सौर्ययागेनापूर्वं कृत्वा ब्रह्मवर्चसं साधयेद् ब्रह्मवर्चस्काम इत्येवं विज्ञायते ।

आह । यत्र तृतीयायुक्तो यजिस्तत्र युक्तो गुणभावाभ्युपगमः । यथा—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[2] इति । इह त्वसत्यां तृतीयायां कथं तृतीयार्थो गम्यत इति । उच्यते । किमत्र तृतीयानिर्दिष्टेन यजिना कार्यं, यदा स्वभावसिद्धः[3] कर्मणां फलं प्रति गुणभावः । यत्राप्यसौ श्रुतस्तत्राप्यकिंचित्कर एव, गतार्थत्वात् । तथा, यत्रापि द्वितीयाश्रुतिः । यथा—**अग्निहोत्रं जुहुयाद्**[4] इति । तत्रापि विभक्तिव्यत्ययो वा, ईप्सिततमत्वस्य[5] वाऽविवक्षा, कामं वाऽऽनर्थक्यं स्यान्न तु कथंचिदपि कर्मणः प्रति गुणभावः शक्योऽपह्नोतुम् । तस्माद् यागेनापूर्वसाधनमत्रोच्यते । तत्र[6] यागो विज्ञायते । लौकिकोऽसौ पदार्थः । तेन तु कथमपूर्वं साध्यत इत्येतन्न विज्ञायते । इह तु यागेनापूर्वं साधयेदित्येतावदेवोक्तम् । कथं साधयेदितीतिकर्तव्यता नोक्ता ।

से कालान्तर में फल होता है—चोदना पुनरारम्भः (=अपूर्व है जिस कारण स्वर्गादि फल के यागरूप साधन का उपदेश=विधान किया है) इस सूत्र में । इस प्रकार इस सब के होने पर सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः में 'सौर्ययाग से अपूर्व को उत्पन्न करके ब्रह्मवर्चः रूपी फल को सिद्ध करे ब्रह्मवर्चस् की कामनावाला' ऐसा अभिप्राय जाना जाता है ।

(आक्षेप) जहां याग तृतीया विभक्ति से युक्त है वहां [याग का] गुणभाव स्वीकार करना युक्त है । जैसे—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (= ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। यहां तृतीया के न होने पर कैसे तृतीया का अर्थ जाना जाता है । (समाधान) यहां तृतीयानिर्दिष्ट यजि (याग) से क्या कार्य है ? जब कि कर्मों का फल के प्रति गुणभाव स्वभावसिद्ध है अर्थात् स्वाभाविक है । जहां पर भी यह तृतीया श्रुत है वहां भी तृतीया अकिञ्चित्कर है (अर्थात् उस से कुछ विशेष नहीं जाना जाता है) अर्थ के ज्ञात होने से । तथा जहां भी द्वितीयाश्रुति है, जैसे—अग्निहोत्रं जुहुयात् वहां भी विभक्ति का व्यत्यय जानना चाहिये । अथवा ईप्सिततमत्व की अविवक्षा, अथवा [द्वितीया] चाहे अनर्थक होवे, परन्तु किसी भी तरह कर्म के प्रति गुणभाव नहीं छोड़ा जा सकता है । इससे याग से अपूर्व का साधन यहां कहा जाता है । वहां याग जाना जाता है । लौकिक यह पदार्थ है । उस से कैसे अपूर्व सिद्ध किया जाता है, यह नहीं जाना जाता है । यहां (= सौर्ययाग में) तो याग से अपूर्व सिद्ध करे, इतना ही कहा है ।

१. मी० २।१।५।।
२. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत १०।२।१।।
३. स्वाभाविकः' पाठान्तरम् ।
४. द्र०—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः । मै० आर० ६।३।।
५. 'ईप्सितत्वस्य' इति पाठान्तरम् ।
६. 'ननु' इति पाठान्तरम् ।

येषां चार्थानां ज्ञायत एवेतिकर्तव्यता, तेषां कर्तव्यत्वमात्रमुपदिश्यते। यथा—ओदनं पचेदिति। येषां तु न ज्ञायते ते सहेतिकर्तव्यतयैवोपदिश्यन्ते। यथा—दर्शपूर्णमासौ। एवं चेन्नूनं ज्ञायते यागेनापूर्वनिर्वृत्ताविति कर्तव्यता 'यस्मान्नोक्ता[1] तस्मान्नूनमसावस्तीति। आह। यद्यस्ति लोके ततो ज्ञायेतैव। अथ नास्त्येव, कथं शक्या ज्ञातुमिति? उच्यते। बाढमस्ति, लौकिकी वैदिकी च। लौकिकी तावत् पार्वणस्थालीपाकादिषु, वैदिकी दर्शपूर्णमासादिषु। यदि तत्पूर्वा एताश्चोदनास्तदपेक्षाः, सौर्ययागेनापूर्वं साधयेत्, यथाज्ञातयेतिकर्तव्यतयेति, ततो युक्त इतिकर्तव्यताया अविधिः। न च विधीयते। अत इतिकर्तव्यताया अविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वं, विहितेतिकर्तव्यताकत्वमिति।

कैसे सिद्ध करे यह इतिकर्तव्यता (=इस इस प्रकार करके) नहीं कही है। जिन अर्थों की इतिकर्तव्यता ज्ञात ही होती है उन की कर्तव्यता मात्र कही जाती है। जैसे—ओदनं पचेत् (=ओदन पकावे)। और जिन की [इतिकर्तव्यता] नहीं जानी जाती है वे इतिकर्तव्यता के साथ उपदिष्ट होते हैं। जैसे—दर्शपूर्णमास। यदि ऐसा है तो निश्चय ही जाना जाता है 'याग से अपूर्व की सिद्धि में इतिकर्तव्यता जिस कारण नहीं कही इस से निश्चय ही वह है। (आक्षेप) यदि लोक में [इतिकर्तव्यता] होवे तो अवश्य जानी जाये। यदि नहीं है तो उसे कैसे जाना जा सकता है? (समाधान) अवश्य है [इतिकर्तव्यता] लौकिकी और वैदिकी। लौकिकी पार्वणस्थालीपाकादि में है और वैदिकी दर्शपूर्णमास आदि में। यदि तत्पूर्वा ये चोदनाएं हैं तो उनकी अपेक्षा होती हैं। सौर्ययाग से अपूर्व को सिद्ध करे यथाज्ञात वैदिक इतिकर्तव्यता से। ऐसा होने पर इतिकर्तव्यता की विधि न होना युक्त है। इससे इतिकर्तव्यता की विधि न होने से यजि का पूर्ववत्त्व है अर्थात् विहित इतिकर्तव्यतात्व।

विवरण—विभक्तिव्यत्ययो वा—तृतीया च होश्छन्दसि (अष्टा० २।३।३) से पाणिनि ने द्वितीया तृतीया दोनों विभक्तियों का विधान किया है। इस सूत्र का महाभाष्य भी द्रष्टव्य है। उसके अनुसार अग्निहोत्रं जुहोति में अग्निहोत्र शब्द तदीय हवि में प्रयुक्त है और 'जुहोति' प्रक्षेपण में—हवि को अग्नि में डालता है। यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति में अग्निहोत्र शब्द अग्नि में वर्तमान है और जुहोति प्रीणन=तृप्ति अर्थ में—यवागू से अग्निहोत्र को तृप्त करता है। येषां चार्थानां ज्ञायते एवेतिकर्तव्यता—लोक में ओदनं पचति कहते हैं। पाक क्रिया की इतिकर्तव्यता लोक में विदित होने से वहां इतिकर्तव्यता का कथन नहीं किया जाता है। यथा दर्शपूर्णमासौ—दर्शपूर्णमास यागों की इतिकर्तव्यता लोक से विदित न होने से वेद में इनकी पूरी इतिकर्तव्यता कही है। पार्वणस्थालीपाकादिषु—गृह्यसूत्रों में आवसथ्य अग्नि (=गृह्याग्नि) में क्रियमाण दर्शपूर्णमास में स्थालीपाक के श्रपण का निर्देश है। यथा—पक्षादिषु स्थालीपाकं श्रपयित्वा दर्शपूर्ण-

१. 'यस्मादुक्ता' इति काशीमुद्रिते पाठः।

अथ य आहुः, यजेत—यागं कुर्यादिति। जुहुयात्—होमं कुर्यादिति। तेषां किं नैव धर्माकाङ्क्षा भवति। भवतीति ब्रूमः। यद्यपि प्रज्ञातेतिकर्तव्यताको यजिर्द्रव्यं देवतां प्रत्युत्सृज्यत इति। तथाऽपि यदा फलार्थः क्रियते तदा धर्मानाकाङ्क्षति। न ह्यधर्मकात् फलं भवति। कथं ज्ञायते ? यो ह्यमेध्यं द्रव्यमुच्छिष्टः, शयानो वा, प्रौढपादो, वामेन हस्तेन वा, पादेन वा यथाकथंचिद् देवताया उत्सृजति, तस्य फलं न भवतीति शिष्टाः स्मरन्ति। यस्तु मेध्यं द्रव्यं, शुचौ देशे, प्रयतः, प्राङ्मुखो, दक्षिणेन हस्तेन, समाहितमनाः, मन्त्रवन्नियमवच्च देवताया उत्सृजति, तस्य फलं भवतीति स्मरन्ति। तस्माद् यावान्यजतिः फलायाऽऽम्नायते स सर्वो धर्माना-काङ्क्षति। अतस्तेषामप्यस्ति धर्माकाङ्क्षा, सत्यामाकाङ्क्षायां संनिहितैर्धर्मैर-विप्रतिषिद्धः सम्बन्धः प्रकृतौ। विकृतौ त्वानुमानिकैः ॥१॥

———

[सौर्यचर्यादौ वैदिक्या एवेतिकर्तव्यताया अतिदेशाधिकरणम् ॥२॥]

अधुनैवं चिन्त्यते। किमनियमो लौकिकी वैदिकी वेतिकर्तव्यता, उत

मासदेवताभ्यो हुत्वा ---- (पारस्कर, कात्यायन गृह्य १।१२।)। यह पाक लौकिक है अर्थात् इसमें लौकिक पाक की इतिकर्तव्यता होती है। श्रौतकर्मों की अपेक्षा से गृह्य कर्म स्मार्त कर्म कहाते हैं। ये आवसथ्य अग्नि में किये जाते हैं।

व्याख्या—(आक्षेप) जो यह कहते हैं—यजेत—याग करे, जुहुयात्—होम करे। उनको धर्मों की आकाङ्क्षा नहीं होती। (समाधान) होती है ऐसा हम कहते हैं। यद्यपि ज्ञात हैं इतिकर्तव्यता जिसकी ऐसी यजि द्रव्य को देवता के प्रति छोड़ता है। तथापि जब फल के लिये [याग] किया जाता है तब धर्मों की आकाङ्क्षा करता है। धर्मरहित से फल नहीं होता। कैसे जाना जाता है ? जो अमेध्य (=अपवित्र) द्रव्य, उच्छिष्ट अथवा सोते हुए प्रौढ़ पाद अथवा बायें हाथ से अथवा पैर से जैसे तैसे देवता के लिये त्याग करता है, उस का फल नहीं होता है, ऐसा शिष्ट लोग स्मरण करते हैं। और जो मेध्य (=शुद्ध) द्रव्य, शुद्ध स्थान में, प्रयत, प्राङ्मुख होकर, दाहिने हाथ से, समाहित मन से, मन्त्र से युक्त और नियम के अनुकूल देवता के लिये त्याग करता है, उसका फल होता है, ऐसा [शिष्ट जन] स्मरण करते हैं। इसलिये जितनी 'यजति' फल के लिये पढ़ी गई हैं वे सब धर्मों की आकाङ्क्षा करती हैं। इस लिये उनकी भी धर्म के प्रति आकाङ्क्षा है और आकाङ्क्षा होने पर समीपस्थ धर्मों से अविरुद्ध संबन्ध प्रकृति में होता है। विकृतियों में आनुमानिक धर्मों के साथ [संबन्ध होता है] ॥१॥

———

व्याख्या—अब इस प्रकार विचार करते हैं—क्या अनियम है लौकिकी अथवा वैदिकी

लौकिक्येव, आहोस्विद् वैदिक्येवेति । अत्र विशेषाभावादनियमे प्राप्ते उच्यते—

स लौकिकः स्याद् दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥२॥ (पू०)

स लौकिकः स्यात् । स खलु कर्तव्यतोपायो लौकिकः स्यात् । कुतः ? दृष्टप्रवृत्तित्वात् । दृष्टा ह्यस्य तत्र तत्र प्रवृत्तिः । यथा—पार्वणस्थालीपाके[1], अष्टकाचरौ[2], आग्रहायणे[3] कर्मणि, इत्येवं यत्र यत्र यागेनापूर्वं साध्यते, तत्र तत्रास्य प्रवृत्तिर्दृष्टा । अतोऽन्वयाद् विज्ञायते यागस्यापूर्वं साधयतोऽयमभ्युपाय[4] इति । अयं चापि यागः । तस्मादस्यापि स एवाभ्युपायः ॥२॥

आह—किमेष एवोत्सर्गः, सर्वत्र लौकिकीतिकर्तव्यतेति । एवं खलु

इतिकर्तव्यता होवे अथवा लौकिकी ही, आहोस्वित् वैदिकी ही । इस में विशेष के अभाव से अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—

स लौकिकः स्याद् दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(सः) वह इतिकर्तव्यता रूप उपाय (लौकिकः) लौकिक=लोक में विज्ञात (स्यात्) होवे (दृष्टप्रवृत्तित्वात्) उसके दृष्ट प्रवृत्ति वाला होने से । अर्थात् लौकिक उपाय की प्रवृत्ति दृष्ट है, विज्ञात है ।

व्याख्या—वह लौकिक होवे । वह इतिकर्तव्यता रूप उपाय लौकिक होवे । किस हेतु से ? दृष्ट प्रवृत्तिवाला होने से । इस [लौकिक उपाय की] प्रवृत्ति बहुत्र देखी हुई है । जैसे—पार्वण स्थालीपाक में, अष्टकाविषयक चरु में, आग्रहायण कर्म में । इस प्रकार जहां-जहां याग से अपूर्व सिद्ध किया जाता है, वहां-वहां इस की (=लौकिकी इतिकर्तव्यता की) प्रवृत्ति देखी गई है । इस से अन्वय से जाना जाता है कि याग से अपूर्व की सिद्धि करते हुए यह उपाय है । यह (=सौर्य) भी याग है । इससे इसका भी वही उपाय है ॥२॥

विवरण—पार्वणस्थालीपाके—गृह्यसूत्रों के अनुसार प्रतिपर्व पूर्णिमा और अमावास्या को स्थालीपाक पका कर आहुति देनी है । स्थाली बटलोई या पतीले में पकाया गया ओदन स्थालीपाक कहाता है । अष्टकाचरौ—अष्टका कर्म में साक्षात् 'चरु' शब्द का प्रयोग हमें नहीं मिला । गृह्यसूत्रों में दूध में स्थालीपाक का विधान है। आग्रहायण कर्म में भी स्थालीपाक का ही निर्देश मिलता है ॥२॥

व्याख्या—(आक्षेप) क्या वही उत्सर्ग है कि सर्वत्र लौकिक इतिकर्तव्यता होवे ।

---

१. पार० गृह्य १।१२।।

२. आग्रहायणकर्मणि पयसि स्थालीपाक उक्तः । मानवगृह्य २।८।१॥

३. 'आग्रयणीये' पाठान्तरम् । आग्रहायणी कर्म, पार० गृह्य ३।२॥

४. 'अयमुपायः' इति पाठान्तरम् ।

प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

वचनात् तु ततोऽन्यत्वम् ॥३॥

वचनात् तु ततोऽन्यत्वमिति । यत्र प्रत्यक्षं वचनं वैदिक्यास्तत्र न लौकिकी स्यात् । वचनसामर्थ्याद् वैदिक्येव स्यात् । यथा—उपसत्सु, गृहमेधीये च ॥३॥

लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ॥४॥ (सि०)

लिङ्गेन वा इतिकर्तव्यता नियम्येत । कतरा ? यस्या लिङ्गम् । वैदिक्याश्च लिङ्गम् । तस्माद् वैदिकी । किं पुनर्लिङ्गम् ? सौर्ये तावच्चरौ श्रूयते- प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति[1] इति । तथा ऐन्द्राबार्हस्पत्ये—अर्धं बर्हिषो लुनाति, अर्धं

(समाधान) ऐसा ही प्राप्त है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

वचनात् तु ततोऽन्यत्वम् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचन सामर्थ्य से (तु) तो (ततः) लौकिकी इतिकर्तव्यता से (अन्यत्वम्) अन्यत्व होवे अर्थात् वैदिकी इतिकर्तव्यता होवे । [वचन भाष्यव्याख्या में देखें ।]

व्याख्या—वचन सामर्थ्य से तो उस से अन्यत्व होवे । जहां प्रत्यक्ष वचन है वहां वैदिकी इतिकर्तव्यता होवे लौकिकी न होवे । वचनसामर्थ्य से वैदिकी ही होवे । जैसे—उपसदों में, गृहमेधीय में ॥३॥

विवरण—उपसदों में जहां वैदिकी इतिकर्तव्यता प्रत्यक्ष विहित है । यथा—त्रिस्तनं प्रथमायां दोहयति, एकापचयेनोत्तरयोः (कात्या० श्रौत ८।३।१-२) अर्थात् प्रथम उपसद् में गौ के तीन स्तन दोहे, द्वितीय और तृतीय में क्रमशः दो स्तन और एक स्तन । गृहमेधीया इष्टि में आज्यभागौ यजति (मै० सं० १।१।१५) इस निर्देश से वैदिक इतिकर्तव्यतारूप आज्यभाग होते हैं ॥३॥

लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्व उक्त पक्षों की निवृत्ति के लिये है ।(लिङ्गेन) लिङ्ग से इतिकर्तव्यता नियमित होवे । (लिङ्गस्य) लिङ्ग के(तद्गुणत्वात्) उस इतिकर्तव्यता के पूर्ववत्व के प्रति गुणत्व अङ्गत्व होने से । [लिङ्गवचन भाष्यव्याख्या में देखें ।]

व्याख्या—अथवा लिङ्ग से इतिकर्तव्यता नियमित होवे । कौनसी इतिकर्तव्यता ? जिस का लिङ्ग है । लिंग वैदिकी इतिकर्तव्यता का है । इस से वैदिकी[इतिकर्तव्यता नियमित होवे]। लिङ्ग पुनः क्या है ? सौर्य चरु में श्रुत है—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति (=प्रति प्रयाज कृष्णल का होम करता है) । तथा ऐन्द्रबार्हस्पत्य कर्म में अर्धं बर्हिषो लुनाति, अर्धं

---

१. तै० सं० २।३।२।३॥

न, स्वयं दितमर्धं वेद्याः' करोत्यर्धं न' इति। तथा पितृयज्ञे—न होतारं वृणीते, नाऽऽर्षेयम्' इति। एतैर्लिङ्गैर्ज्ञायते वैदिकीतिकर्तव्यतेति। कथम्? लिङ्गस्य तद्गुणत्वात्। एते हि प्रयाजादयो वैदिकस्यापूर्वस्य गुणाः। यदि च तदीयेतिकर्तव्यता प्रवर्तिता, तत एतेषु कर्मस्वेते सन्ति। तत्रैतानि वचनान्युपपद्यन्ते, प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीत्येवमादीनि। तस्माद् वैदिकीतिकर्तव्यता नियम्येत ॥४॥

अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद् यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः ॥५॥(पू०)

न, स्वयं दितमर्धं वेद्याः करोति, अर्धं न (=बर्हि का आधा काटता है, आधा नहीं काटता, जो आधी स्वयं कटी हुई है, आधी वेदि बनाता है आधी नहीं बनाता)। तथा पिण्डपितृयज्ञ में —न होतारं वृणीते, नार्षेयम् (=होता का वरण नहीं करता न आर्षेय का)। इन लिङ्गों से ज्ञात होता है कि वैदिकी इतिकर्तव्यता है। कैसे? लिङ्ग के उस गुणवाला होने से। ये प्रयाजादि वैदिक अपूर्व के गुण (=अङ्ग) हैं और यदि उन की इतिकर्तव्यता प्रवर्तित होवे तो इन कर्मों में ये [प्रयाजादि] होते हैं। उस अवस्था में ये वचन उपपन्न होते हैं—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति इत्यादि। इस से वैदिक इतिकर्तव्यता नियमित होवे।

विवरण-सौर्यं तावच्चरौ-ब्रह्मवर्चस्कामवाले के लिये सौर्य चरु का विधान है (द्र०—तै० सं० २।३।२।३)। इसी में प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति वचन है। कृष्णल गुञ्जा (रत्ती) का वाचक है। उस परिमाण के सुवर्ण से बने गुञ्जा का होम इष्ट है (विशेष द्र०—मी० २।२।३ भाग २, पृष्ठ ४५४)। ऐन्द्राबार्हस्पत्ये—यह कर्म और आगे उद्धृत अर्धं बर्हिषो लुनाति हमें उपलब्ध नहीं हुआ। राजसूयप्रकरण में मानव श्रौत ९।१।२।५ में मैत्रा बार्हस्पत्य हवि का विधान है। आप० श्रौत १८।११।८ में भी मैत्रा बार्हस्पत्या दीक्षणीया का निर्देश है। इसी प्रकार काठक सं० १५।५ तथा मै० सं० २।६।६ में मैत्राबार्हस्पत्य हवि का ही विधान है। इन सब में यहीं आगे पीछे भाष्य में उद्धृत वाक्य से मिलता जुलता पाठ उपलब्ध होता है। अर्धं वेद्याः करोति—यहां मुद्रित में वेद्यां अपपाठ है, यह आपस्तम्बादि श्रौत के निर्दिष्ट तुलनात्मक पाठों से स्पष्ट है ॥४॥

अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद् यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः ॥५॥

---

१. 'वेद्याम्' इति मुद्रितः पाठो भ्रष्टः।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अर्धं वेद्याः कुर्वन्त्यर्धं स्वयंकृतमर्धं बर्हिषो दान्त्यर्धं स्वयंदिनमर्धमिध्मस्य कुर्वन्त्यर्धं स्वयंकृतम्। काठक सं० १५।५॥ अथैकेषाम्— अर्धं वेद्याः कुर्वन्ति। अर्धं स्वयंकृतम्। अर्धं बर्हिर्दाति। अर्धं स्वयंदिनमुपसंनह्यति। आप० श्रौत १८।११।१०॥ अर्धं बर्हिषो लुनात्यर्धं स्वयंलूनमर्धमिध्मस्य करोत्यर्धं स्वयंकृतमर्धं वेद्याः करोत्यर्धं स्वयंकृतम्। मानव श्रौत ९।१।२।६॥

३. द्र०—नार्षेयं वृणीते न होतारम्। तै० ब्रा० १।६।९।१॥

अपि वा नैवं स्यात्, वैदिकीतिकर्तव्यतेति । यत्कारणम् । एतैर्लिङ्गैर्न शक्यते वैदिकी नियन्तुम् । कुतः ? अन्यायपूर्वत्वात् । न्यायपूर्वकं हि वचनं तत् साधकं भवति । न चैतानि न्यायपूर्वाणि । न हि वैदिक्याः प्रवृत्तिर्युक्ता । निबद्धा हि सा प्रकरणादिभिः कारणैर्दर्शपूर्णमासादिषु । कथं तर्ह्येतानि लिङ्गानि ? उच्यते । यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः । इह तावत्, अर्धं बर्हिषो लुनाति, अर्धं नेति, यत्र बर्हिस्तत्रैव भविष्यति । यत्कारणम् । सतो बर्हिष एतद् उच्यते । न चेहास्ति बर्हिः । न होतारं वृणीते, नाऽऽर्षेयमिति नित्यानुवादो भविष्यति । ननु नित्यानुवादः सन्ननर्थको भवति । किं क्रियतां, यस्यार्थो नास्ति । प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीति वचनं प्रयाजानां भविष्यति । कथं पुनरत्र प्रयाजाश्च कृष्णलहोमश्च[1] युगपच्छक्या वक्तुम् ? भिद्यते हि तथा वाक्यम् । एवं तर्हि न प्रयाजान् वक्ष्यति, प्रयाजे कृष्णलहोमं विधास्यति । न चासत्सु प्रयाजेषु कृष्णलहोमः शक्यते कर्तुमित्यर्थात् प्रायाजान् करिष्यति । तस्मान्न लिंगेन वैदिक्या नियमः । यथोक्तेन न्यायेन लौकिक्येवेतिकर्तव्यतेति ॥५॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' शब्द पूर्व उक्त वैदिकी इतिकर्तव्यता के प्रतिषेध के लिये हैं (अन्यायपूर्वत्वात्) न्यायपूर्वत्व न होने से । (यत्र) जहां प्रयाज कहे हैं वहां कृष्णलविधि होवे । न होतारं वृणीते आदि(नित्यानुवादवचनानि) नित्यानुवाद वचन (स्युः) होवें ।

व्याख्या— अथवा ऐसा नहीं होवे—वैदिकी इतिकर्तव्यता है । जो कारण है इन लिङ्गों से वैदिकी इतिकर्तव्यता नियन्त्रित नहीं की जा सकती । किस हेतु से ? अन्यायपूर्वत्व होने से । न्यायपूर्वक जो वचन वह साधक होता है । ये न्यायपूर्व नहीं हैं । वैदिकी इतिकर्तव्यता की प्रवृत्ति युक्त नहीं है । वह प्रकरणादि कारणों से दर्शपूर्णमासादि में निबद्ध है । (आक्षेप) तो ये लिङ्ग कैसे हैं ? (समाधान) जहां हैं वहां नित्यानुवाद कथन होवें । यहां 'अर्धं बर्हिषो लुनाति अर्धं न' वचन जहां बर्हि है वहीं यह होगा । जो कारण है बर्हि के होने पर यह (अर्धं लुनाति अर्धं न) कहा जाता है । यहां बर्हि नहीं है । न होतारं वृणीते नार्षेयम् यह नित्यानुवाद होगा । (आक्षेप) नित्यानुवाद होता हुआ अनर्थक होता है । (समाधान) क्या करें जिसका अर्थ नहीं है [वह अनर्थक होवे] । प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति यह वचन प्रयाजों का होगा । (आक्षेप) यहां प्रयाज और कृष्णल होम दोनों एक साथ कैसे कहे जा सकते हैं ? ऐसा होने पर (=दो अर्थों के कहने पर) वाक्यभेद होगा । (समाधान) अच्छा तो प्रयाजों को नहीं कहेगा । प्रयाज में कृष्णल होम का विधान करेगा । प्रयाजों के न होने पर कृष्णल होम किया नहीं जा सकता है, इससे अर्थापत्ति से प्रयाजों का विधान करेगा । इससे लिङ्ग से वैदिक इतिकर्तव्यता का नियमन नहीं हो सकता । यथोक्त न्याय से लौकिक इतिकर्तव्यता होगी ॥५॥

---

१. 'कृष्णलहोमश्च शक्यो वक्तुं' पाठान्तरम् ।

तत्राऽऽह[1]। अथ कस्मान्नौभे अपीतिकर्तव्यते सह प्रवर्तेते इति ? किमेवं भविष्यति? एवं तुल्यापेक्षा कर्मणामन्यतरतो न बाधिता भवति । उच्यते –

मिथो विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥६॥ (पू०)

सह प्रवृत्तावेकया चेत्कर्म निरपेक्षं कृतं, द्वितीयस्याः प्रवृत्तिर्विप्रतिषिद्धा । अतो मिथः प्रवृत्तेर्विप्रतिषेधाद् यथार्थकल्पना स्यात् । एकस्याः प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । कथमेकस्याः प्रवृत्तेर्धर्माणां यथार्थकल्पना भवति । ये धर्मा येषु कार्येषु प्रकृतावुत्पन्नास्त इहापि तेष्वेव भवन्ति । इतरथा द्वितीयस्या धर्मा अयथार्था भवेयुः पूर्वधर्मैः । तेषां कार्याणां निर्वर्तितत्वात् । एवमेकस्याः प्रवृत्तेर्यथार्थकल्पना भवति । अतो यथार्थकल्पना स्यादित्यनेनैकस्याः प्रवृत्तिरित्युक्तं भवेत् । एकस्याः प्रवृत्तौ यथोक्तेन न्यायेन लौकिक्याः प्रवृत्तिरिति ॥६॥

भागित्वात् तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात् सम्बन्धादभिधानवद् यथा धेनुः किशोरेण ॥७॥ (उ०)

व्याख्या—उक्त विषय में कहते हैं—क्यों नहीं दोनों ही इतिकर्तव्यताएं साथ साथ प्रवृत्त होवें ? ऐसा होने से क्या होगा ? इस प्रकार कर्मों की तुल्यापेक्षा (=बराबरी) अन्यतर से बाधित नहीं होती है अर्थात् दोनों लौकिक और वैदिक कर्म बराबर होंगे । इस विषय में कहते हैं—

मिथो विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(मिथः) परस्पर (विप्रतिषेधात्) विरोध से (च) भी (गुणानाम्) अङ्गों की (यथार्थकल्पना) उचित कल्पना अर्थात् लौकिक इतिकर्तव्यता की कल्पना (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—[दोनों इतिकर्तव्यताओं की] सह प्रवृत्ति होने पर यदि एक से कर्म निरपेक्ष होता है तो दूसरी की प्रवृत्ति विप्रतिषिद्ध होवे । अतः दोनों की सह प्रवृत्ति के विप्रतिषेध (=विरोध) होने से यथार्थ कल्पना होवे । अर्थात् एक की प्रवृत्ति होवे । (आक्षेप) एक की प्रवृत्ति से धर्मों की यथार्थ कल्पना कैसे होती है ? (समाधान) जो धर्म जिन कार्यों में प्रकृति में उत्पन्न हुए हैं वे यहां भी उन्हीं में होते हैं । अन्यथा दूसरी के धर्म पूर्वधर्मों के साथ अयथार्थ होवें, उन कार्यों के निर्वर्तित (=सम्पन्न) हो जाने से । इस प्रकार एक की प्रवृत्ति होने से यथार्थ कल्पना होती है । इसलिये यथार्थ कल्पना होवे, इससे एक [इतिकर्तव्यता] की प्रवृत्ति होती है यह कहा जाता है । एक की प्रवृत्ति होने पर यथोक्त न्याय से लौकिकी प्रवृत्ति होती है ॥६॥

भागित्वात् तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात् सम्बन्धादभिधानवद् यथा धेनुः किशोरेण ॥७॥

---

१. 'अत्राऽऽह' पाठान्तरम् ।

तु शब्दः पक्षनिवृत्तौ । न त्वेवं स्यात् । लौकिकीतिकर्तव्यतेति । किं तर्हि ? वैदिकी नियम्येत । कुतः ? भागित्वात् । वैदिक्यपि भागिनी प्रवृत्तेः । साऽपि ह्यपूर्वस्येतिकर्तव्यता । समाने च भागित्व उभयोर्वैदिक्येव स्यात् । गुणानामभिधानत्वात् । गुणा एते प्रयाजादयः सौर्यादिषु दृश्यमाना अभिधायका भवन्त्येतस्यार्थस्य । यथा वैदिक्यत्रेतिकर्तव्येतेति बोधका भवन्तीत्यर्थः ।

कस्मात् ? सम्बन्धात् । एते हि तयेतिकर्तव्यतया सम्बद्धाः । अतः साहचर्यात्तां गमयन्ति । अभिधानवत् । यथा कौण्डपायिनामयने, अग्निहोत्रमित्यभिधानं कर्मणो वाचकम्[1] । तत्, कर्मसहचरितान् धर्मानानयति । तेष्वसत्स्वेतदभिधानमिह न युज्यत इति तेषां धर्माणां तत्र भावो विज्ञायते । एवमिहापि प्रयाजादीनां दर्शनमसत्यां वैदिक्यां न युज्यत इति तस्या अपीह भावो विज्ञास्यते । नन्वसति न्याये

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् लौकिक इतिकर्तव्यता नहीं है । (भागित्वात्) वैदिकी इतिकर्तव्यता के भागिनी होने से, अर्थात् वह भी अपूर्व की उत्पादिका है । (गुणानाम्) सौर्यादि में प्रयाजादि अङ्गों के (अभिधानत्वात्) अभिधायक होने से, (सम्बन्धात्) प्रयाजादि के वैदिकी इतिकर्तव्यता के साथ सम्बद्ध होने से । (यथा) जैसे (किशोरेण) अश्व के वत्स के वाचक किशोर शब्द के साथ सम्बद्ध होने से (धेनुः) घोड़ी का ग्रहण होता है । कृष्णकिशोरा धेनुः=काले अश्व वत्स से युक्त घोड़ी ।

व्याख्या—'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । ऐसा नहीं होवे कि लौकिकी इतिकर्तव्यता नियमित होवे । तो क्या जाना जाता है ? वैदिकी ही नियमित होवे । किस हेतु से ? भागी होने से । वैदिकी प्रवृत्ति भी भागिनी है । वह भी अपूर्व की इतिकर्तव्यता है । [लौकिकी वैदिकी के] समान रूप से भागिनी होने पर दोनों में वैदिकी ही होवे । गुणों के अभिधानत्व से । ये प्रयाजादि गुण सौर्यादि में दिखाई पड़ते हुए वैदिकी इतिकर्तव्या के अभिधायक होते हैं । जिस प्रकार वैदिकी इतिकर्तव्यता होवे उसके बोधक होते हैं यह तात्पर्य है ।

क्या कारण है ? सम्बन्ध से । ये [प्रयाजादि] तादृश इतिकर्तव्यता से सम्बद्ध हैं । अतः साहचर्य से उस [इतिकर्तव्यता] का बोध कराते हैं । अभिधान से । जैसे कौण्डपायिनामयन में अग्निहोत्र इत्यादि अभिधान कर्म के वाचक हैं । वह कर्म सहचरित धर्मों को प्राप्त कराते हैं । उन [धर्मों] के न होने पर यहां अभिधान युक्त नहीं होता इससे उनके धर्मों की सत्ता जानी जाती है । इसी प्रकार यहां [सौर्यादि में] भी प्रयाजादि का दर्शन वैदिकी इतिकर्तव्यता के न होने पर उपपन्न नहीं होता इससे उस [वैदिकी इतिकर्तव्यता] का भाव (=विद्यमानता) भी जाना जाता है । (आक्षेप) न्याय न होने पर लिङ्ग [किसी के निर्णय का] कारण नहीं

---

1. द्र०—मी० भाष्य अ० २, पा० ३, अधि० ११ (सूत्र २४) ।

लिङ्गमकारणम् । सत्यमेवम् । उक्तस्तु न्यायो भागित्वादिति ।

यत् तु दृष्टप्रवृत्तिर्लौकिकीति । तत्र ब्रूमः । यद्यपि दृष्टप्रवृत्तिः स्यात्, तथाऽपि वैदिक्येव नियम्येत । कथम्? यथा धेनुः किशोरेण । तद्यथा, कृष्णकिशोरा धेनुरिति । यद्यपि धेनुशब्दो गोधेन्वां दृष्टप्रवृत्तिस्तथाऽप्यभिधानसामान्यादश्वधेन्वामपि भागीति किशोरेण लिङ्गेनाश्वधेन्वां विज्ञायते । एवमिहापि यद्यपि लौकिकी दृष्टप्रवृत्तिः, तथाऽपीतिकर्तव्यतासामान्येन भागित्वाल्लिङ्गेन वैदिकी विज्ञेया ॥७॥

होता है । (समाधान) यह सत्य है । न्याय कह चुके भागित्व से ।

विवरण—कुण्डपायिनामयन नाम के सत्र में मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते (द्र०—कात्या० श्रौत २४।४।२४,२५; आप० श्रौत २३।१०।६) । इनमें अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि अभिधान कर्म के वाचक हैं । मीमांसा २।३। अधि० ११। सूत्र २४ में कुण्डपायिनों के अयन में श्रूयमाण अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास को कर्मान्तर कहा है ।

व्याख्या—और जो यह कहा—लौकिकी इतिकर्तव्यता दृष्ट प्रवृत्ति वाली है । इस विषय में कहते हैं—यद्यपि [लौकिकी इतिकर्तव्यता] दृष्ट प्रवृत्ति वाली होवे तथापि वैदिकी इतिकर्तव्यता ही नियमित होवे । किस हेतु से ? जैसे धेनु [नियमित होवे] किशोर से । जैसे कृष्णकिशोरा धेनुः (=काले अश्ववत्स वाली धेनु) यहां । यद्यपि धेनु शब्द गोधेनु में दृष्ट-प्रवृत्ति वाला है तथापि [धेनु] अभिधान सामान्य से अश्वधेनु में भी भागी है, यह किशोर लिङ्ग से अश्वधेनु में भी जाना जाता है । इसी प्रकार यहां भी यद्यपि लौकिकी इतिकर्तव्यता दृष्ट-प्रवृत्ति वाली है तथापि इतिकर्तव्यता सामान्य से भागित्वलिङ्ग से वैदिकी इतिकर्तव्यता जाननी चाहिये ॥७॥

विवरण—धेनुः किशोरेण—किशोर शब्द के अश्ववत्स का ही वाचक होने से धेनु से यहां घोड़ी अभिप्रेत है । अभिधानसामान्यात्—धेनु शब्द का अर्थ है—धयति वत्सं या सा धेनुः=जो वत्स को दूध पिलावे वह धेनु कहाती है । इस सामान्य अभिधान (=यौगिक नाम होने) से प्राणिमात्र की मादाएं जो अपने अपने वत्सों को दूध पिलाती हैं धेनु कही जाती हैं । परन्तु लोक में यह गो विषय ही दृष्ट है ।

वैदिक शब्द यौगिक अभिधान से लोकविज्ञात अर्थों से अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त होते हैं । नानार्थार्णवसंक्षेप कोषकार केशवस्वामी ने लिखा है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः ।
माधवाचार्यसूरिस्तु को अद्धेत्यृचि भाषते ।। भाग १, पृष्ठ ८ ।।

अर्थात् स्कन्दस्वामी ने दोनों लिङ्गों में वर्तमान गो शब्द का ऋचाओं में बहुशः अश्व

उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ॥८॥ (पू०)

अथवा नैव लिङ्गेन नियम इति। कुतः? उत्पत्तीनां समत्वात्। धर्माणां प्रयाजादीनामुत्पत्तयः समाः सर्वेषामाग्नेयाद्यङ्गभावेन, न परस्पराङ्गत्वेन। किमतः? यदि प्रयाजादीनामनुयाजादयोऽङ्गानि स्युस्ततो यत्र प्रधानं तत्राङ्गानीति प्रयाजदर्शनेनानुयाजादयोऽनुमीयेरन्, यदा तु समप्रधाना एते तदा प्रयाजदर्शनेन कामं प्रयाजा अनुमीयेरन्। प्रयाजधर्मा वा। न त्वनुयाजादयः। तस्माल्लिङ्गम् अनियामकम्।

अर्थ किया है। वेङ्कटमाधव ने भी को अद्य (ऋ० १।८४।१६) में गो शब्द का अश्व अर्थ किया है[1] ॥७॥

उत्पत्तीनां समत्वाद् वा यथाधिकारं भावः स्यात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त लिङ्ग से वैदिकी इतिकर्तव्यता का नियमन होवे, पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (उत्पत्तीनाम्) प्रयाजादि धर्मों की उत्पत्ति (समाः) सब आग्नेयादि यागों के अङ्गभाव से है, न कि परस्पर प्रधान अङ्गभाव से। अतः (यथाधिकारम्) यथाधिकार जहां जिनका धर्म श्रुत है वहां (भावः) सत्ता (स्यात्) होवे।

व्याख्या—अथवा लिंग से नियमन होवे, यह नहीं है। किस हेतु से? उत्पत्तियों के समान होने से। प्रयाजादि धर्मों की उत्पत्तियां सब आग्नेयादियों के अङ्गभाव से सम हैं, परस्पर अङ्गभाव से उत्पत्तियां नहीं हैं। यदि प्रयाजादियों के अनुयाजादि अंग होवें तो जहां प्रधान है वहां अंग होवें, इससे प्रयाजदर्शन से अनुयाजादि का अनुमान होवे। जब ये सम प्रधान (= एक जैसे) हैं तब प्रयाजदर्शन से यथेच्छ प्रयाजों का अनुमान होवे अथवा प्रयाज के धर्मों का। [प्रयाजदर्शन से] अनुयाज आदि का अनुमान न होवे। इसलिये लिंग नियामक नहीं है।

विवरण—सर्वेषामाग्नेयाद्यंगभावेन- पौर्णमास के आग्नेययाग उपांशुयाग और अग्नीषोमीययाग तीनों के अङ्गभाव से प्रयाजादि की उत्पत्ति है। परस्पर प्रयाजादि और अनुयाज आदि की अङ्गभाव से उत्पत्ति नहीं है। तस्माल्लिङ्गमनियामकम्—सौर्यादि में प्रयाजादि का लिङ्ग वैदिक इतिकर्तव्यता का नियामक नहीं है।

---

१. मद्रास से माधव के नाम से ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का जो विस्तृत भाष्य छपा है वह वेङ्कटमाधव का ही है। निघण्टुटीकाकार देवराजयज्वा ने १।१४।१८ की व्याख्या में माधवस्य प्रथमं भाष्यम् लिखकर माधव के दो भाष्यों में विद्यमानता दर्शाई है। को अद्य (ऋ० १।८४।१६) के दोनों भाष्यों में गो शब्द का अश्व अर्थ किया है। देवराज उद्धृत अनेक वेङ्कटमाधव के उद्धरण बृहद् भाष्य में मिलते हैं। हमने तुलना करके निश्चय किया है।

यत् तु, अभिधानवदिति । अत्र ब्रूमः । युक्तं तत्र । यत्र हि परशब्दः परत्र प्रयुक्तः संस्तद्धर्माननितिदिशतीत्युक्तम् । अपि च, विधिरसौ अग्निहोत्रवद्धोतव्यमिति । अयं पुनरनुवादः । तेनात्र प्रयाजादीनामेव नास्ति प्राप्तिः, कुतोऽनुयाजादीनाम् ? तस्माद् विषम उपन्यासः, अभिधानवदिति । अतो यथाधिकारं भावः स्यात् । ये धर्मा यस्यापूर्वस्याधिकार आम्नातास्ते तत्रैव भवेयुः ॥८॥

एवं तर्हि, **सौर्यं चरुं निर्वपेद्** इत्यनेनाऽऽख्यातेन प्रधानस्य विधानोत्पत्तिः, शेषाणां च वचनं भवतु । कथं कृत्वा? नानङ्गं प्रधानमुच्यमानं कस्मैचित्प्रयोजनाय कल्पत इति । तेन च प्रापितानामङ्गानामेतेभ्यो लिङ्गेभ्यो विशेषावधारणं भविष्यति । तत्रेदमुच्यते—

उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ॥९॥ (पू०)

व्याख्या—और जो कहा अभिधान के समान । इसमें कहते हैं—वहां युक्त है जहां पर शब्द अन्यार्थ में प्रयुक्त होता हुआ उसके धर्मों का अतिदेश करता है यह कह चुके । अपि च—यह विधि है—अग्निहोत्र होम करना चाहिये । यह पुनः अनुवाद है । इससे यहां प्रयाज आदि की ही प्राप्ति नहीं है, अनुयाजादि की कहां से होवे । इससे [अभिधानवत्] दृष्टान्त विषम है । इससे यथाधिकार (=इतिकर्तव्यता की) विद्यमानता होवे । जो धर्म जिसके अपूर्व अधिकार में पठित हैं वे वहीं होवें ॥८॥

विवरण—अतिदिशतीत्युक्तम्—यह भाष्यकार ने पूर्वत्र कहां कहा है, यह स्मरण नहीं पड़ता । विधिरसौ अग्निहोत्रं होतव्यम्—यह कुण्डपायिनामयन में श्रूयमाण मासमग्निहोत्रं जुहोति की ओर संकेत है । अयं पुनरनुवादः–सौर्येष्टि में श्रुत प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति ।८।

व्याख्या—अच्छा तो सौर्यं चरुं निर्वपेद् इस आख्यात से प्रधान के विधान की उत्पत्ति, शेषों [अंगों] का वचन होवे । किस प्रकार ? अंग रहित प्रधान कहा हुआ किसी प्रयोजन के लिये उपपन्न नहीं होता । और उससे प्रापित अंगों का इन लिंगों से विशेष का अवधारण होगा । इस विषय में कहते हैं—

उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ॥९॥

सूत्रार्थः—(एकस्मिन्) एक वचन में (उत्पत्तिशेषवचनं च) प्रधान की उत्पत्ति और शेष अङ्गों का वचन (विप्रतिषिद्धम्) परस्पर विरुद्ध है ।

विशेष—सूत्र में उत्पत्तिशेषवचनं च पाठ है । सूत्र में चकार होने से तथा भाष्य से प्रतीत होता है कि सूत्रपाठ कदाचित् उत्पत्तिः शेषवचनं च रहा हो । यथोपलब्ध पाठ में चकार असमर्थित रहता है । कुतूहलवृत्ति में यह सूत्र नहीं है ।

एकस्मिञ्छब्दे प्रधानस्योत्पत्तिरङ्गानां च वचनं न सम्भवति। किं कारणम्? उत्पन्नं हि प्रधानमङ्गान्यपेक्षते। अपेक्षया च तानि गृह्यन्ते। तस्मान्नैतदपि युक्तम्। यदि च निर्वपेदित्यनेन शब्देनाङ्गान्यपि विधीयेरंस्ततस्तेषामपि फलसम्बन्धः स्यात्। तथा, अङ्गत्वमेव व्याहन्येत। ततोऽयमपि वादो न घटते। तस्माद् यथोक्तो लौकिक एवाभ्युपायः ॥९॥

विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥१०॥ (उ०)

विध्यन्तो वा सौर्यादिकायां चोदनायां प्रवर्तेत, न धर्मा लौकिकाः। कः पुनरयं विध्यन्तो नाम? विधेरन्तो विध्यन्तः। अथ विधिः कः? यद्वाक्यमुपलभ्य पुरुषः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तते, कुतश्चिद्वा निवर्तते, स विधिः। विधीयते ह्यनेनार्थः। यथा लोके—**देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्**—इति तस्याभ्याजेतिविध्यादिः, इतरोऽन्तः। वेदेऽपि—**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजत**[1] इति विध्यादिः। विध्यन्तोऽपि प्रधानविधिवर्जितं कृत्स्नं पौरोडाशिकं ब्राह्मणम्। तेन समेतोऽयं विध्यादिर्विशिष्टापूर्व-

---

व्याख्या – एक शब्द में प्रधान की उत्पत्ति और अंगों का वचन सम्भव नहीं है। क्या कारण है? उत्पन्न हुआ प्रधान अंगों की अपेक्षा करता है और अपेक्षा से वे गृहीत होते हैं। इस से यह भी युक्त नहीं है। यदि 'निर्वपेत्' इस शब्द से अंगों का भी विधान किया जाये तो उन [अंगों] का भी फल के साथ सम्बन्ध होवे। ऐसा होने पर (अंगों का फल के साथ संबंध होने पर) उनका अंगत्व ही नष्ट हो जायें। इस से यह वाद भी घटित नहीं होता है। इससे यथोक्त लौकिक ही अभ्युपाय जानना चाहिये ॥९॥

विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' सब्द पूर्व उक्त लौकिकी इतिकर्तव्यता की निवृत्ति के लिये है। (चोदनायाम्) सौर्यादि यागों के विधान करने पर (प्रकृतिवत्) प्रकृति दर्शपूर्णमास आदि के समान (विध्यन्तः) विधि के अवयव=अङ्गरूप से कहे गये कार्य (प्रवर्तेत) प्रवृत्त होवें। (तथा हि) उसी प्रकार का (लिङ्गदर्शनम्) प्रयाजादि का दर्शन उपपन्न होता है।

व्याख्या - सौर्यादि की चोदना (=विधान) में विध्यन्त (=विधि के अंगरूप से कहे कार्य) प्रवृत्त होवे, लौकिक धर्म प्रवृत्त न होवे। यह विध्यन्त क्या है? विधि का अन्त विध्यन्त। विधि क्या है? जिस वाक्य को उपलब्ध (=सुनकर) कर के पुरुष किसी अर्थ में प्रवृत्त होता है अथवा किसी से निवृत्त होता है वह विधि कहाती है। जिससे अर्थ का विधान किया जाये। जैसे लोक में—देवदत्त सफेद गौ को हांक। उस का अभ्याज विधि का आदि है अन्य भाग अन्त है। वेद में भी-दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत यह विध्यादि है विध्यन्त भी प्रधान की विधि को छोड़कर सम्पूर्ण पुरोडाशसंबन्धी ब्राह्मण [विध्यन्त है]। उस (=विध्यन्त) से युक्त हुआ यह

---

१. द्र०—यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। ऐ० ब्रा० १।१; श० ब्रा० २।४।२।११॥

निर्वृत्ति प्रति पुरुषं प्रवर्तयति। तस्मात् सोऽस्यान्तः। तथा—**सोमेन यजेत**[1] इति विध्यादिः। सौमिकमपि ब्राह्मणं विध्यन्तः। एष विध्यन्तो नाम।

एतेषु च सौर्यादिषु विध्यादिरस्ति विध्यन्तो नास्ति। एतेष्वपि स विध्यन्तः कल्प्येत। कथं कृत्वा? अपरिपूर्णं यद्वाक्यं तदध्याहारेण वा पूर्येत[2], व्यवहित-कल्पनया वा। तत्राध्याहाराद् व्यवहितकल्पना ज्यायसी अध्याहारे ह्यश्रुतः शब्दः[3] कल्प्येत। इतरत्र श्रुतेन सम्बन्धः। तस्माद् व्यवहितो ब्राह्मणावयवोऽस्य परिपूरकः कल्प्यते। यथा—**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते**[4], **ग्रीष्माय कलविङ्कानालभत** इति। तेन वैदिकीतिकर्तव्यता प्राप्यते।

विध्यादि विशिष्ट अपूर्व के उत्पन्न करने के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है। इससे वह इसका अन्त है। तथा सोमेन यजेत यह विध्यादि है, सौमिक ब्राह्मण विध्यन्त है। यही विध्यन्त है।

विवरण—**विधेरन्तो विध्यन्तः**—यहां अन्त शब्द अवयव—भाग—अङ्ग का वाचक है। **देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्**—महाभाष्य में **देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन** (१।१।१) इस रूप में बहुत्र उद्धृत है। **इतरोऽन्तः**—'अभ्याज' विधि से इतर वाक्यभाग 'अभ्याज' क्रिया के साथ समवेत होने से उस के 'अन्त' अङ्गरूप हैं। **पौरोडाशिकं ब्राह्मणम्**—'पुरोडाशस्य व्याख्यानं पौरोडाशिकम्' यहां **पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन्** (अष्टा० ४।३।७०) से ष्ठन् (=इक) प्रत्यय होता है। **पुरोडाशब्राह्मणम्** इस नाम से मै० सं० ४ के चतुर्थ काण्ड का प्रपाठक प्रसिद्ध है। **सौमिकं ब्राह्मणम्**—यथा तै० सं० में सम्पूर्ण षष्ठ काण्ड।

व्याख्या—इन सौर्यादि इष्टियों में विध्यादि है, विध्यन्त नहीं है। इनमें भी वह विध्यन्त की कल्पना की जाये। कैसे? अपरिपूर्ण जो वाक्य होता है वह अध्याहार से पूरा किया जाये अथवा व्यवहित कल्पना से। उन में अध्याहार से व्यवहित कल्पना ज्यायसी (=श्रेष्ठ) है, अध्याहार में तो अश्रुत शब्द की कल्पना होवे। इतरत्र (=व्यवहित कल्पना में) [अन्यत्र] श्रुत से सम्बन्ध होता है। इस से व्यवहित ब्राह्मण का अवयव इसका पूरक होता है। जैसे—वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, ग्रीष्माय कलविङ्कानालभते। इससे वैदिक इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है।

विवरण—**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कानालभते**—मन्त्रपाठ में प्रथम मन्त्र के साथ आलभते क्रिया पठित है, परन्तु दूसरे का **गीष्माय कलविङ्कान्** इतना ही पाठ है। दूसरे मन्त्र की पूर्ति के लिये व्यवहित पूर्वमन्त्रस्थ आलभते व्यवहित क्रिया का सम्बन्ध जोड़कर मन्त्र निराकाङ्क्ष किया जाता है। इस प्रकार के साकाङ्क्ष मन्त्र इस प्रकरण में बहुत से हैं

---

१. द्र०—य एवं विद्वान् सोमेन यजते। तै० सं० ३।२।२।३॥

२. 'पुर्यंते' पाठान्तरम्। ३. शब्द इति क्वचिन्नास्ति। ४. यजुः २४।२०॥

ननु यदि तद् ब्राह्मणमस्यान्तः कल्प्यते, तत्र न भवति। तदेतन्मयूरनृत्यमापद्यते। तद्यथा, मयूरस्य नृत्यतोऽन्यदपाव्रियतेऽन्यत्संव्रियते। एवमिहापीदं संव्रियते तदपाव्रियते। नैष दोषः। प्रत्यक्षस्तस्य तत्र भावः। इह पुनरानुमानिकः। न चाऽऽनुमानिकं प्रत्यक्षं बाधते। इह तर्हि न प्राप्नोति। प्रत्यक्षविरोधात्। स्यादेवं, यदि विरोधः स्यात्। न त्वस्ति विरोधः। तत्रापि भविष्यतीहापि। तदेतदुक्तम्—**विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत** इति। उच्यते। प्रकृतिवदिति किम्? आह। अष्टमे प्रकृतिनियमं करिष्यति। इयमस्य प्रकृतिरिति। तदुच्यते—विध्यन्तो वा प्रकृतिरिव[1] प्रवर्तेत। यो यस्य[2] कर्मणः प्रकृतिरिति, यस्याऽऽग्नेयः प्रकृतिस्तस्याऽऽग्नेयादेव। यस्याग्नीषोमीयस्तस्याग्नीषोमीयादिति। एवं सर्वत्र।

जिनमें प्रथममन्त्रस्थ व्यवहित आलभते क्रिया को जोड़कर मन्त्र निराकाङ्क्ष होता है।

व्याख्या—(आक्षेप) यदि उस ब्राह्मण का अन्त कल्पित (=सम्बद्ध) होता है, [तो यह] वहां नहीं होता है। यह मयूरनृत्य हो जाता है, जैसे मयूर के नाचते हुए वह एक को खोलता है अन्य को ढकता है। इसी प्रकार यहां भी यह (=दृष्ट लौकिक इतिकर्तव्यता) आच्छादित करदी जाती है अर्थात् उसे स्वीकार नहीं करते, किन्तु वह (=अज्ञात वैदिक इतिकर्तव्यता) उद्घाटित की जाती है। (समाधान) यह कोई दोष नहीं है उस की वहां (=दर्शपौर्णमासादि में) प्रत्यक्ष सत्ता है। यहां (=सौर्यादि में) पुनः आनुमानिक है। आनुमानिक प्रत्यक्ष को बाधित नहीं करता। (आक्षेप) अच्छा तो यहां (=सौर्यादि में वैदिक इतिकर्तव्यता) प्राप्त नहीं होगी प्रत्यक्ष विरोध होने से। (समाधान) ऐसा होवे यदि विरोध होवे। यहां कोई विरोध नहीं है। [लौकिक इतिकर्तव्यता] वहां (=दर्शपौर्णमास में) भी होगी और यहां (=सौर्यादि में) भी। यह जो कहा है विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत (=चोदना=कर्म की विधि होने पर प्रकृति के समान [सौर्यादि में भी] विध्यन्त होवे)। (आक्षेप) प्रकृतिवत् यह क्या है? (समाधान) अष्टम अध्याय में प्रकृति का नियम करेंगे—यह इस की प्रकृति है। उसे [स्वीकार करके] कहते हैं—प्रकृति के समान विध्यन्त प्रवृत्त होवे। जो जिस कर्म की प्रकृति है। जिस की आग्नेय याग प्रकृति है उस की आग्नेयवत् ही [प्रवृत्ति होगी], जिस की अग्नीषोमीय [याग प्रकृति] है उस की अग्नीषोमीयवत्। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

विवरण—मयूरस्य नृत्यतोऽन्यदपाव्रियतेऽन्यत् संव्रियते—मोर जब नाचता है तो अपने पङ्खों को फैलाकर ऊपर उठाकर नाचता है और नाचते हुए कभी कभी उन्हें पीठ की ओर झुकाता है। इस प्रकार नाचने से पूंछ से ढका हुआ अन्त्य मलमूत्र आदि का भाग उद्घाटित हो जाता है और खड़े हुए पङ्खों को पीठपर झुकाने से खुला हुआ पीठ का भाग ढक जाता है।

---

१. 'प्रकृतेरिव' पाठान्तरम्। २. 'या या यस्य कर्मणः' पाठान्तरम्।

अथ कस्मान्न लौकिको विध्यन्तः कल्प्यते। उच्यते। लौकिकस्य विधेरभावाद् विध्यन्त एव नास्ति। कुतस्तत्कल्पनेति? आह। लौकिकीतिकर्तव्यता प्राप्यतां, किं विध्यन्तकल्पनयेति? उच्यते। वैदिकी ह्यत्रेतिकर्तव्यता न लौकिकी। कस्मात्? तथा हि लिङ्गदर्शनं प्रयाजादि समर्थितं भवति ॥१०॥

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥११॥ (पू०)

यदि लिंगाद् वैदिकोऽभ्युपायो भवति, तेन तर्हि, अलिंगे लौकिकं स्यात्। यत्र कर्मणि किंचिल्लिंगं नास्ति, तत्र लौकिकं स्याद् विधानम्। यथा—**ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाता वीयुः**[1] इति ॥११॥

अत्रोच्यते—

यही मयूरनृत्य न्याय है। प्रत्यक्षविरोधात्—वैदिक इतिकर्तव्यता का प्रत्यक्ष भाव तो दर्शपौर्णमास में है। सौर्यादि में उसकी सत्ता आनुमानिक होने से जहां प्रत्यक्ष वैदिकी इतिकर्तव्यता कही है वहीं होगी सौर्यादि में प्रत्यक्ष न होने से नहीं होगी। अथवा सौर्यादि में प्रत्यक्षदृष्ट लौकिक इतिकर्तव्यता होने से आनुमानिक वैदिक इतिकर्तव्यता सौर्यादि में नहीं होगी।

व्याख्या—(आक्षेप) सौर्यादि में लौकिक विध्यन्त क्यों नहीं कल्पित किया जाता। (समाधान) लौकिक [ओदनपाकादि] की विधि का अभाव होने से विध्यन्त (=विधि के अङ्ग) ही नहीं है, फिर किस प्रकार उसकी कल्पना होवे। (आक्षेप) लौकिक इतिकर्तव्यता प्राप्त कराई जाये, विध्यन्त कल्पना से क्या लाभ? (समाधान) यहां वैदिक इतिकर्तव्यता ही है. लौकिकी नहीं है। किस हेतु से? उसी अवस्था में प्रयाजादि लिङ्गदर्शन समर्थित होता है ॥१०॥

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गहेतुत्वात्) लिङ्गदर्शन के हेतु से यदि सौर्यादि में वैदिक विधान होवे तो (अलिङ्गे) जिस कर्म में कोई वैदिक कर्म का लिङ्ग नहीं है, वहां (लौकिकम्) लौकिक विधान (स्यात्) होवे। [उदाहरण भाष्यव्याख्या में देखें।]

व्याख्या—यदि लिंग के कारण [सौर्यादि में] वैदिक अभ्युपाय (=विध्यन्त) होता है तो लिंगरहित कर्म में लौकिक [अभ्युपाय] होवे। जिस कर्म में कोई लिंग नहीं है वहां लौकिक विधान होवे। जैसे—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाता वीयुः (=इन्द्राग्नी देवता वाले एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप करे जिस के सजातीय मरें)। [इस कर्म में किसी वैदिक विधान का लिंग नहीं देखा जाता है।] ॥११॥

इस विषय में कहते हैं—

---

१. द्र०—मै० सं० २।१।१॥ तत्र मी० ३।२।१९ भाष्ये च 'वीयायुः' पाठः।

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन ॥१२॥

स्यादेवं, यदि लिंगहेतुको वैदिक उपायः स्यात्। न त्वसौ लिंगहेतुकः। किंहेतुकस्तु? विध्यन्तहेतुकः। विध्यन्तोऽपि न्यायपूर्वः। स च न्यायस्तुल्यः सर्वेषां कर्मणां वैकृतानां लिंगवतामलिंगवतां च। कुतः? चोदनाशब्दसामान्यात्। कर्मचोदनायां शब्दः समानः। सर्वत्र विध्यादिरस्ति, न विध्यन्तः। तुल्यश्चापेक्षयाऽन्यत्र श्रुतेन विध्यन्तेन सम्बन्धः। तदेतन्न्यायपूर्वकं लिंगमेकत्रापि दृश्यमानं तुल्यन्यायानां सर्वेषां धर्मवत्तां ज्ञापयति। यथा स्थाल्यां तुल्यपाकानां पुलाकानामेकमुपमृद्यान्येषामपि सिद्धतां जानाति। तुल्यो हेतुरस्य चान्येषां च सिद्धत्वस्येति। तस्मात् सर्वत्र वैदिकीतिकर्तव्यता।

अथ यदुक्तं, दृष्टप्रवृत्तिर्लौकिकीतिकर्तव्यतेति। अत्र ब्रूमः—सामान्यतो

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन ॥१२॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गस्य) प्रयाजादि लिङ्ग के (पूर्ववत्त्वात्) न्यायपूर्वक होने से (चोदनासामान्यात्) जहां लिङ्ग दर्शन है और जहां नहीं है वहां सर्वत्र (चोदनासामान्यात्) चोदना के, विध्यादि के समान होने से (एकेन) एकत्र लिङ्गदर्शन से (अपि) भी (निरूप्येत) सर्वत्र विध्यन्त की अपेक्षा होने से वैदिक विधान निरूपित होवे। (यथा) जैसे (स्थालीपाकेन) स्थाली में तुल्यकाल में पाक होने वाले ओदनादि से एक दाने की पक्वता से सबके पाक का परिज्ञान होता है तद्वत् एक कर्म में लिङ्गदर्शन से जहां जहां तुल्य चोदना=विध्यादि है वहां सर्वत्र वैदिक विध्यन्त होवे।

व्याख्या—ऐसा होवे [कि जहां लिंगदर्शन नहीं है वहां लौकिक विधान होवे] यदि लिंगहेतुक वैदिक उपाय होवे। यह लिंगहेतुक नहीं है। विध्यन्तहेतुक है और विध्यन्त भी न्यायपूर्वक है। और वह न्याय तुल्य है सब वैकृत लिंगवाले वा विना लिंगवाले कर्मों का। किस हेतु से? चोदनाशब्द के सामान्य होने से। कर्मचोदना में शब्द समान है। सर्वत्र विध्यादि है, विध्यन्त नहीं है। और अपेक्षा से अन्यत्रश्रुत विध्यन्त के साथ सम्बन्ध तुल्य है। वह न्यायपूर्वक लिंग एक याग में भी दिखाई देता हुआ तुल्यन्याय वाले सब की धर्मवत्ता को ज्ञापित करता है। जैसे स्थाली में समान पाकवाले पुलाकों में से एक का उपमृद्य (=मसलकर) अन्यों के पाक की सिद्धता को जानता है। तुल्य हेतु है इस के (=मसले गये एक चावल के) और अन्यों के सिद्धत्व का। इससे सर्वत्र वैदिकी इतिकर्तव्यता जाननी चाहिये।

और जो यह कहा—दृष्ट प्रवृत्तिवाली लौकिक इतिकर्तव्यता करनी चाहिये। इस विषय में कहते हैं—सामान्यतो दृष्ट यह उपदेश किया जाता है अर्थात् कहा जाता है। और

दृष्टमेतदुपदिश्यते। सामान्यतो दृष्टं च यदव्यभिचारि तत्प्रमाणम्। सव्यभिचारं चैतत्। दृष्टा हि 'गणयागादयोऽनेवमितिकर्तव्यताकाः। तस्माद् दृष्टप्रवृत्तित्वादित्यहेतुः। यत् तु, वैदिक्या भागित्वात् तत्पूर्वकाणि लिगानि भविष्यन्तीति'। अत्र ब्रूमः—भागित्वस्यापूर्वेतिकर्त्तव्यतात्वं किल हेतुः। तद् भावश्च तस्याः शब्दपूर्वः। शब्देन च दर्शपूर्णमासयोरसाविति ज्ञायते, न सर्वत्रेति। तस्मान्न भागित्वम्। अतो विध्यन्तेनवेतिकर्तव्यता प्राप्यते नान्यथा।

अथ कस्मादेतानि वैकृतानि वाक्यानि न्यूनान्येव नानुमन्यन्ते, किमेभिः पूरितैः? न्यूनान्यनर्थकानि भवन्तीति। भवन्तु, को दोषः? शिष्टैरेषां संपरिग्रहो न युज्यते, प्रमादाद् भविष्यतीति। नास्त्यक्षरे मात्रायां वा प्रमादः। कुत एतावति ग्रन्थे भविष्यति? कथम्? तुल्यं च सांप्रदायिकम्' इत्युक्तम्। व्यामोहोऽपि विदुषां युगसहस्राणि बहूनि नानुवर्तेत। युज्यते चैषामपेक्षया पूरणम्। तस्मादूनानि नानु-

---

सामान्यतो दृष्ट जो अव्यभिचारि हो वह प्रमाण है। यह सव्यभिचार (=व्यभिचारी) है। गणयागादि इस प्रकार की इतिकर्तव्यता वाले नहीं हैं। इससे 'दृष्टप्रवृत्तिहेतुत्व से' यह अहेतु है। और जो कहा—वैदिकी के भागित्व से तत्पूर्वक लिंग हो जायेंगे। इस विषय में कहते हैं—भागित्व का अपूर्व इतिकर्तव्यत्व हेतु है, उसका भाव उस [इतिकर्तव्यता] का शब्दपूर्व होता है। और शब्द से वह [इतिकर्तव्यता] दर्शपूर्णमास में है। ऐसा जाना जाता है, सर्वत्र नहीं। इससे भागी नहीं है। इससे विध्यन्त से ही इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है, अन्यथा प्राप्त नहीं होती।

विवरण—गणयागादयोऽनेवमितिकर्तव्यताकाः—गणयाग से यहां अहर्गण याग अभिप्रेत हैं। 'अनेवमितिकर्तव्यता' का अभिप्राय है 'वे लौकिक इतिकर्तव्यता वाले नहीं हैं।' भाष्यव्याख्याता क्षीरसमुद्रवासिमिश्र ने व्यभिचारात्र प्रवर्तते—शास्त्रार्थे तस्य न प्रभुता चेति भावः ऐसा व्याख्यान किया है।

व्याख्या—ये वैकृत [सौर्यादि] वाक्य न्यून ही (=इतिकर्तव्यता से रहित ही) किस लिये स्वीकार नहीं करते, इनको पूरित करने से क्या प्रयोजन? न्यून अनर्थक होते हैं। [अनर्थक] होवें, क्या दोष है? शिष्ट पुरुषों के द्वारा इनका अच्छे प्रकार से संग्रहण युक्त नहीं होता। प्रमाद से संपरिग्रह होगा? अक्षर और मात्रा में भी प्रमाद नहीं है। फिर किस प्रकार इतने बड़े ग्रन्थ में [प्रमाद] होगा? कैसे? तुल्यं च साम्प्रदायिकम् (मी० १।२।८) यह कह चुके हैं। व्यामोह (=भ्रान्ति) भी विद्वानों में बहुत युगसहस्रपर्यन्त अनुवर्त्तित न होवे।

---

१. 'गणयागा अनेव' पाठान्तरम्। २. द्र०—मी० भाष्य ७।४।७।।
३. मी० अ० १, पा० २, अधि० १, सूत्र ८।।

मन्यन्ते। अतो वैदिकीतिकर्तव्यतेति सिद्धम् ॥१२॥

अतः अपेक्षा से इनका पूरण करना युक्त है। इस कारण [विध्यन्त से रहित वैकृत वाक्य] न्यून हैं ऐसा शिष्ट स्वीकार नहीं करते। इससे वैदिक इतिकर्तव्यता इष्ट है यह सिद्ध है ॥१२॥

विवरण—शिष्टैरेषां संपरिग्रहो न युज्यते—शिष्टपुरुषों द्वारा इनका यत्नपूर्वक स्मरण आदि उपपन्न नहीं होता। एतावति ग्रन्थे—इसका तात्पर्य विकृति यागों के निर्देशात्मक भाग से है। तुल्यं च साम्प्रदायिकम्—शिष्ट लोग जिन शुचौ देशेऽध्येतव्यं नाशुचौ आदि धर्मों का उभयवादीसंमत ग्रन्थ के अध्ययन में परिपालन करते हैं उन धर्मों का परिपालन उन ग्रंथों के अध्ययन में भी किया जाता है जो वादी के मत में अनर्थक वा प्रमादपाठ होवे। युगसहस्राणि बहूनि नानुवर्तेत अर्थात् कभी न कभी तो वह व्यामोह=अज्ञान प्रकट होगा ही।

शबरस्वामी आदि मीमांसक वेद की शाखाओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों को भी अपौरुषेय अनादि मानते हैं। परन्तु यह ऐतिह्य प्रमाण और तर्क के विरुद्ध है। महाभारत एवं आधुनिक पुराणों से भी यह प्रमाणित होता है कि वर्तमान में उपलब्ध वेद की शाखाएं एवं ब्राह्मणग्रन्थ भारतयुद्ध से कुछ पूर्व २८वें व्यास कृष्णद्वैपायन तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा तथा तात्कालिक अन्य ऋषियों द्वारा प्रोक्त हैं। महाभाष्य एवं चरणव्यूह ग्रन्थ में इन्हीं शाखोपशाखाओं का उल्लेख है। इसके लिये पं० भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के वेद की शाखाएं और ब्राह्मण आरण्यकों से सम्बद्ध भाग देखें। ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो कृष्ण द्वैपायन से प्राचीन ऐतरेय द्वारा प्रोक्त है, परन्तु इसका जो वर्तमान स्वरूप है वह भारतयुद्धकालीन शौनक द्वारा संस्कृत है। कृष्णद्वैपायन से पूर्व जिन २७ व्यासों का उल्लेख वर्तमान पुराणों में मिलता है उनके द्वारा प्रोक्त कोई भी शाखा वा ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है। हां उनमें से कतिपय वाल्मीकि आदि के द्वारा प्रोक्त शाखाओं के शब्द प्रयोग सम्बन्धी नियम तैत्तिरीय आदि प्रातिशाख्यों में अवश्य स्मृत हैं।

कतिपय मूढमति एवं ऐतिह्यज्ञान से शून्य व्यक्ति रामायण अयोध्याकाण्ड (३२।१५-८) में कठ तैत्तिरीय आदि शाखाओं के अध्येताओं का उल्लेख देखकर इनका रामायण काल में भी सद्भाव का प्रतिपादन करते हैं (द्र०—वेदार्थपारिजात, भाग १, प्रस्तावना, पृष्ठ ७)। परन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों को अपौरुषेय अनादि मानने वाले शबरस्वामी आदि के मत में इनकी तैत्तिरीय कठ आदि समाख्या आख्या प्रवचनात् (मी० १।१। ३०) के अनुसार द्वैपायन व्यास के प्रशिष्य तित्तिरि और कठ के प्रवचन के कारण है तब रामायण में इन नामों का निर्देश कैसे हो सकता है? इसके सम्बन्ध में मीमांसाभाष्य व्याख्या भाग ३ के आदि में पृष्ठ २३-२४ पर भी देखें। इतिहास ज्ञान न होने से बड़ोदा से प्रकाशित रामायण के विशिष्ट संस्करण के सम्पादक ने भी इन प्रक्षिप्त श्लोकों को अपने प्रामाणिक पाठ में संकलित कर लिया ॥१२॥

[गावामयनिकज्योतिरादिष्वेकाहकाण्डपठितज्योतिरादिधर्मानुष्ठा-
नाधिकरणम् ॥३॥]

प्रजाकामा गवामयनमुपेयुः इति सत्रं विधायाऽऽम्नायते—**ज्योतिर्गौ रायुः** इति। गवामयने द्वादशाहिको विध्यन्त इति वक्ष्यति—**गणेषु द्वादशाहस्य**[1] इति। तत्र चोदकेन द्वादशाहिका धर्माः प्राप्यन्ते, एकाहानामपि यथास्वं नामभिः प्रातिस्विकाः। ये तत्र द्वादशाहिका ऐकाहिकैरविरुद्धास्ते यथाप्राप्तं क्रियन्ते। विरुद्धेषु संशयः—किं द्वादशाहिको धर्मः कर्तव्य उतैकाहिक इति? किं प्राप्तम्? तत्र सूत्रेणैवोपक्रमः—

द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकमधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥१३॥ (पू०)

व्याख्या—प्रजाकामा गवामयनमुपेयुः (=प्रजा की कामनावाले गवामयन सत्र को करें) इस प्रकार सत्र का विधान करके पढ़ा जाता है—ज्योतिर्गौ रायुः (=ज्योति गौ और आयु नाम के तीन अहः होते हैं)। गवामयन में द्वादशाहिक (=द्वादशाह कर्म विहित) विध्यन्त होता है यह आगे कहेंगे—गणेषु द्वादशाहस्य (=अहर्गणों में द्वादशाह विध्यन्त होता है)। वहां (ज्योतिः गौः आयुः) में चोदक से द्वादशाहिक धर्म प्राप्त होते हैं। एकाहों के भी यथास्व नामों से अपने-अपने नाम वाले धर्म प्राप्त होते हैं। वहां जो द्वादशाह के ऐकाहिक धर्मों से अविरुद्ध धर्म हैं वे यथाप्राप्त किये जाते हैं। जो [द्वादशाहिक और ऐकाहिक] विरुद्ध धर्म हैं उन में संशय होता है—क्या द्वादशाहिक धर्म करे अथवा ऐकाहिक? क्या प्राप्त होता है? इस विषय में सूत्र से ही विचार का उपक्रम करते हैं—

विवरण—विकृति यागों में चोदना और नाम से आनुमानिक अतिदेश पूर्व कहा है। अब यह विचारते हैं कि चोदना और नामधेय तुल्यबल हैं अथवा इन में कोई प्रबल और कोई दुर्बल है।

ज्योतिर्गौरायुः—ज्योतिः गौः और आयुः में स्तोत्रविशेष हैं। गवामयन में जिन दिनों में ये स्तोत्र प्रयुक्त होते हैं वे दिन भी ज्योतिः गौः आयुः नाम से कहे जाते हैं (द्र० तां० ब्रा० ४।१।७, सायणभाष्य सहित)। **गणेषु द्वादशाहस्य**—द्वादशाह दो प्रकार का है। सत्रात्मक और अहीनात्मक। यहां अहीनरूप द्वादशाह अभिप्रेत है। **एकाहानामपि यथास्वं नामभिः**—एकाहों में ज्योतिः गौः आयुः ये स्वतन्त्र अहर्विशेषों के नामधेय हैं। अतः गवामयन में जो ज्योतिः गौः आयुः कहे गये हैं उनमें चोदना विशेष द्वादशाहिक धर्म प्राप्त होते हैं और एकाहों में ये नामधेय होने से एकाहों के धर्म भी वहां प्राप्त होते हैं।

द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वाद् ऐकाहिकमधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥१३॥

---

१. मी० अ० ८ पा० १ सू० १७॥

द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वात् । द्वादशाहप्रकृतित्वाद् विध्यन्तेनैव प्राप्यन्ते । नन्वेवं नामधेयं बाध्यते । न बाधिष्यते नामधेयं ज्योतिरादि । अधिकागमाद् भविष्यति । ये ज्यौतिष्टोमिकेभ्योऽधिकाः स्तोत्रशस्त्रविकारास्तदागमात् । एकाहवत् । यथा तस्मिन्नेव ज्योतिष्येकाहे ज्योतिःशब्दोऽधिकागमाद् भवति । सत्सु ज्यौतिष्टोमिकेषु ज्योतिष्टोमेऽभावात् । अधिकधर्मार्थोऽयं शब्दः । न चाधिकानां द्वादशाहिकैर्विरोधोऽस्ति । तस्माद् द्वादशाहिकं धर्मजातं विरुद्धं कर्तव्यमिति ।

'अधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवद्' इत्येतस्यापरा व्याख्या—ये द्वादशाहेऽधिका ऐकाहिकेभ्यः केचिद्धर्मा उच्यन्ते—**अभिप्लवोऽन्वहं भवति,**[1] **गौरिवीतमन्वहं भवति**[2] इति । तेषामधिकानामागमात् तदाख्यं स्यात् । एतद् द्वादशाहिकमहर्ज्योति-

---

सूत्रार्थः—(अहर्गणे) उक्त ज्योतिः गौः आयुः में (द्वाद्रशाहिकम्) द्वादशाह के धर्म होवें (तत्प्रकृतित्वात्) अहर्गणों की प्रकृति द्वादशाह होने से । (ऐकाहिकम्) एकाहों में ज्योतिः गौः आयुः नामधेय होने से तत्सम्बन्धी धर्म (अधिकागमात्) ज्योतिष्टोम की अपेक्षा अधिक स्तोत्र शास्त्रों का विधान होने से (तदाख्यम्) ज्योतिः आदि नामधेय से विहित कर्म (एकाहवत्) एकाह के समान (स्यात्) होवें ।

व्याख्या—अहर्गण में द्वादशाहिक धर्म होवे तत्प्रकृति (=अहर्गणों की द्वादशाह प्रकृति) होने से । द्वादशाह प्रकृति होने से [द्वादशाहिक धर्म] विध्यन्त से ही प्राप्त होते हैं । (आक्षेप) इस प्रकार नामधेय बाधित होता है अर्थात् एकाहों में ज्योति आदि नामधेय होने से नामधेय के कारण प्राप्त उस के धर्म बाधित हैं । बाधित नहीं होंगे ज्योति नामधेय हैं [उनके धर्म] अधिक धर्मों के आगम (=उपसंहार) से हो जायेंगे । जो ज्योतिष्टोम से अधिक स्तोत्र शस्त्र विकार हैं उनके आगम से । एकाह के समान । जिस प्रकार उस ज्योति एकाह में ज्योति शब्द अधिकों के आगम से होता है । ज्योतिष्टोम के धर्मों के होने पर ज्योतिष्टोम में [एकाह धर्मों के] अभाव होने से अधिक धर्मों की प्राप्ति के लिये ही यह [गवामयन में ज्योतिः आदि] शब्द है । अधिक प्राप्त हुए धर्मों का द्वादशाहिक धर्मों के साथ विरोध नहीं है । इससे द्वादशाहिक धर्मजात जो [एकाह के धर्म से] विरुद्ध है करना चाहिये ।

विवरण—द्वादशाहिकं धर्मजातं विरुद्धं कर्तव्यम् का तात्पर्य है—एकाह का धर्म है तीन उपसत् होना । उसके विरुद्ध द्वादशाह की १२ उपसत् करने चाहिये । द्र० ७।४।१४ का भाष्य ।

व्याख्या—'अधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवद्' इस की दूसरी व्याख्या—जो **एकाहिक धर्मों से द्वादशाह में कुछ अधिक धर्म कहे जाते हैं—अभिप्लव प्रतिदिन होता है, गौरिवीत प्रतिदिन होता है । उन अधिकों के आगम से उस आख्यावाला होगा—यह द्वादशाहिक अह**

---

१. द्र०—तां० ब्रा० ४।१।७,९।। २. द्र०—यद् गौरीवीतेनान्वहं स्तुवते । तां०ब्रा० ५।७।२।।

राख्यमायुराख्यं वा। कथम्? एकाहवत्। यथा तस्मिन्नेवैकाहेऽयं ज्योतिरादिशब्दो ज्यौतिष्टोमिकेभ्योऽधिकेषु वैशेषिकेषु धर्मेष्वागतेषु भवति, एवमिहाप्यधिकागमसामान्याद् गौणो भविष्यति। यथा, षाडहिकानां भावादेकाहो विश्वजित् षडह इत्युक्तम्, तमेकाहं षडह इत्याचक्षत इति। एवमिहापि। गौणश्चेन्न प्रापकः। तस्मान्नास्ति नामधेयाद्धर्मप्राप्तिरिति ॥१३॥

लिङ्गाच्च ॥१४॥ (पू०)

लिङ्गाच्चैतज्ज्ञायते, यथा द्वादशाहिकं कर्तव्यमिति। किं लिङ्गं भवति? द्वाभ्यां लोमावद्यति, द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्, द्वाभ्यां मांसम्[1] इत्येवं[2] षड्द्विका-

---

ज्योति अथवा आयु नामवाला। कैसे? एकाह के समान। जैसे उसी एकाह में यह ज्योति आदि शब्द ज्योतिष्टोमसम्बन्धी धर्मों से अधिक आगत विशिष्ट धर्मों में होता है। इसी प्रकार यहां भी अधिक के आगम सामान्य से [ज्योति शब्द] गौण होगा। जैसे षडहसम्बन्धी पृष्ठों के होने से एकाह (=एक दिन में होने वाला) विश्वजित् षडह कहा गया है—तमेकाहं षडह इत्याचक्षते (=उस एकाह विश्वजित् को षडह ऐसा कहते हैं)। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। यदि [ज्योति आदि नाम] गौण होवें तो प्रापक नही होंगे। इससे नामधेय से धर्म की प्राप्ति नहीं होती ॥१३॥

विवरण—अभिप्लवोऽन्वहं भवति—अभिप्लव स्तोत्र प्रतिदिन होता है। ज्योतिः गौः, आयुः आयुः ज्योतिः गौः ये अभिप्लव षडह कहाते हैं। गौरिवीतमन्वहं भवति—'अभिप्र गोपतिं' 'गिरः' इस योनि ऋचा में उत्पन्न साम गौरिवीति कहाता है ॥१३॥

लिङ्गाच्च ॥१४॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी ज्ञात होता है कि द्वादशह के धर्म करने चाहियें। [लिङ्ग भाष्यव्याख्या में देखें।]

व्याख्या—लिङ्ग से यह जाना जाता है कि द्वादशाहिक धर्म करने चाहियें। क्या लिङ्ग होता है? द्वाभ्यां लोमावद्यति, द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्, द्वाभ्यां मांसम् (=दो से लोमों को काटता है, दो से त्वचा को, दो से रुधिर को, दो से मांस को) इस प्रकार ६ द्विकों

---

१. क्वचित् 'द्वाभ्यामस्थि, द्वाभ्यामज्जनम्' इति द्विकद्वयमधिकं पठ्यते। अत्रोत्तरा टिप्पणी द्रष्टव्या।

२. अनुपलब्धमूलम्। पूर्वमीमांसोद्धरणकोशकारस्तु तै० सं० ७।४।६ इत्याकरग्रन्थस्य संकेतं ददाति परन्तु न तत्रोत्तरत्रोद्धृतं यद् द्वादशोपसदो भवन्ति······ इति पाठ उपलभ्यते। मीमांसोद्धरणकोशकारस्य त्वाकरस्थाननिर्देशाः प्रायेण भ्रान्तिं जनयन्ति, तत्र तत्र तादृक्पाठस्यानुपलम्भात्।

ननुक्रम्याऽऽह—**यद् द्वादशोपसदो भवन्ति, आत्मानमेतन्निरवदयते**[1] इति, द्वादशाहिकं धर्मं द्वादशोपसत्त्वं दर्शयति। तदुपपद्यते, यदि द्वादशाहिकं धर्मजातं विरोधि कर्तव्यम्। इतरथा चैकाहिकं षडुपसत्त्वं[2] स्यात्। तस्मात् पश्यामो द्वादशाहिकं कर्तव्यमिति।

तथेदमपरं लिङ्गम्—**यस्यातिरिक्तमेकादशिनीमालभेरन्, अप्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्येत। अथ यद् द्वौ द्वौ पशू समस्येयुः, कनीय आयुः कुर्वीरन्। यद्येते ब्राह्मणवन्तः पशव आलभ्यन्ते, नाप्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्येत, न कनीय आयुः कुर्वते**[3] इति, एकादशिन्यां विहारं द्वादशाहिकं धर्मं दर्शयति। कथम्? विहारे सति, अतिरेकः पशूनामापद्यते। अतिरेकभयाच्च द्वयोर्द्वयोः समासः। एकाहधर्मप्राप्तौ विहारो

का अनुक्रमण करके कहा है—यद् द्वादशोपसदो भवन्ति आत्मानमेतन्निरवदयते (=जो द्वादश उपसद् होती हैं, आत्मा की यह रक्षा करता है)। इससे द्वादशाह के [एकाह] धर्म द्वादशोपसत्त्व को दर्शाता है। वह उपपन्न होता है, यदि द्वादशाहविरोधी धर्मजात को करें। अन्यथा ऐकाहिक धर्म षडुपसत्त्व होवे। इससे हम जानते हैं कि द्वादशाहिक धर्म करने चाहियें।

विवरण—ऐकाहिकं षडुपसत्त्वं स्यात्—एकाह में तीन उपसद् होते हैं। परन्तु वह एकाह जब साह्न क्रतु हो तो उसमें षडुपसद होते हैं। यहां ज्योति आदि साह्न (=एक दिन में किये जाने वाले क्रतु) सोमयाग हैं। अतः यहां एकाह धर्म प्राप्त होने पर भी षडुपसत्कत्व होगा। द्र०—त्र्युपसत्के षट्कृत्वः षडुपसत्के द्वादशकृत्वः द्वादशोपसत्के चतुर्विंशतिकृत्वः (आप० श्रौत १५।१२।५)। इसकी रुद्रदत्तटीका द्रष्टव्य—त्र्युपसत्के साह्ने क्रतौ षट्कृत्वः आदि।

व्याख्या—तथा यह दूसरा लिंग है—यस्यातिरिक्तमेकादशिनीमालभेरन्, अप्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्येत। अथ यद् द्वौ द्वौ पशू समस्येयुः कनीय आयुः कुर्वीरन्। यद्येते ब्राह्मणवन्तः पशव आलभ्यन्ते, नाप्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्येत, न कनीय आयुः कुर्वते (=जिसके मत में अतिरिक्त एकादशिनी का आलभन करे अप्रिय भ्रातृव्य (=शत्रु) बचावे और जो दस बार दो पशुओं को इकट्ठा समापन करे छोटी आयु करें। इसलिये ब्राह्मण वाले=ब्राह्मणोक्त पशु आलब्ध किये जाते है [ऐसा करने से अप्रिय भ्रातृव्य भी नहीं बचता है और आयु भी कम नहीं करते])। इस वचन से एकादशिनी में विहार (=विहरण=एकादशिनी का पुनरालभन) द्वादशाहिक धर्म को दर्शाता है। कैसे? विहार होने पर ही पशुओं का अतिरेक प्राप्त होता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. 'षडुपसत्वम्' इति=सार्वत्रिके शुद्धपाठेऽपि पुणेसंस्करणसम्पादकेन 'त्र्युपसत्वं' इत्येवं पाठः परिवर्तितः। उत्तरत्र १६ तमस्य सूत्रस्य भाष्ये षडुपसत्वमेव पठ्यते। न तत्र परिवर्तनं कृतम्।

३. स्वल्पपाठभेदेन तै० ब्रा० १।२।५।३ इत्यत्रोपलभ्यते। मुद्रितभाष्ये 'एकादशिन्यामालभेरन्' इत्यपपाठः। ब्राह्मणश्रौतादिग्रन्थदर्शनात् 'एकादशिनीमालभेरन्' इत्येव शुद्धः पाठः।

न स्यात् । तत्रैतद् दर्शनं न युज्यते । तस्माद् द्वादशाहिकं कार्यम् ॥१४॥

न वा ¹क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ॥१५॥ (उ०)

अतिरेक के भय से दो-दो का कथन है । एकाहधर्म की प्राप्ति में विहार न होवे, अतः वहां यह दर्शन उपपन्न नहीं होता है । इससे द्वादशाहिक धर्म करने चाहियें ॥१४॥

विवरण—गवामयन में पूर्वपक्ष में १८० दिन और उत्तरपक्ष में १८० दिन, दोनों के मध्य विषुवान् १ दिन होता है । इस प्रकार गवामयन ३६१ दिनों में पूर्ण होता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ २१२०-२१२३) । प्रत्येक दिन में एक एक पशु का आलभन करने पर ३६१ दिनों में ३२ एकादशिनियों का आलभन (३२×११=३५२ दिनों में ३५२ पशुओं का आलभन) होता है । ९ दिन बच जाते हैं । इसलिये जो इन नौ दिनों में भी एकादशिनी के आलभन को साधन-रूप से स्वीकार करता है उसके मत में शेष नौ दिनों में ९ पशुओं का आलभन होने पर २ पशु बच जाते हैं वे उसके अप्रिय शत्रु के समान होते हैं । और जो ९ दिनों में ही ११ पशुओं का आलभन पूर्ण करने के लिये अन्तिम दो दिनों में दो दो पशुओं का इकट्ठा आलभन करे तो वह एकादशिनी का जो ११ दिन का समय (आयु) है उसे छोटा करता है । (द्र०—तै० ब्रा० १।२।५।१-४, भट्टभास्करभाष्य, सायणभाष्य) ।

एकादशिनीमालभेरन्—भाष्य में सार्वत्रिक पाठ एकादशिन्यामालभेरन् है, वह अशुद्ध है । ब्राह्मण श्रौतसूत्रादि को देखकर पाठशोधन किया है । भ्रातृव्यमितिरिच्येत—इसका तात्पर्य है भ्रातृव्य की वृद्धि करे । तस्माद् ब्राह्मणवन्तः पशवः—तै० ब्रा० १।२।३।५।१-३ में जो वैष्णवं वामनमालभन्ते इत्यादि में जो ९ पशु कहे गये हैं उनकी ओर संकेत है । एकादशिन्यां विहारम्—विहरण अर्थात् अवशिष्ट ९ दिनों में पुनः एकादशिनी की प्राप्ति द्वादशाहिक धर्म को व्यक्त करता है । द्वादशाह में ही एकादशिनी होती है । एकाहप्राप्तौ विहारो न स्यात्—एकाह में एकादशिनी के अभाव से अवशिष्ट दिनों में एकादशिनी की प्राप्ति ही नहीं होगी ॥१४॥

न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(न वा) 'न वा' ये पूर्व उक्त 'द्वादशाह धर्म की प्राप्ति' पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं । द्वादशाहिक धर्म की प्राप्ति नहीं होती (क्रत्वभिधानात्) ज्योतिः गौः आयुः के क्रतु के कहने वाले होने से (अधिकानाम्) अधिक स्तोत्र शस्त्रादि धर्मों का (अशब्दत्वम्) शब्द से कथन नहीं है अर्थात् ज्योति आदि पद अधिक धर्मों के वाचक नहीं हैं ।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में इस सूत्र के पाठ में 'प्रत्यक्षत्वात्' पद अधिक है—न वा प्रत्यक्षत्वात् क्रत्वभिधानाद् ……। भाष्य में भी प्रत्यक्षत्व को हेतुरूप से उपस्थित किया है । परन्तु उससे स्पष्ट नहीं होता कि भाष्यकार सूत्र में 'प्रत्यक्षत्वात्' पाठ स्वीकार करते हैं या नहीं ।

---

१. 'न वा प्रत्यक्षत्वात् क्रत्वभिधानाद्' इति सुबोधिन्यां सूत्रपाठः ॥

न वा द्वादशाहिकं कार्यम् । किं तर्हि ? ऐकाहिकम् । किं कारणम्? चोदकेन द्वादशाहिकं प्राप्नोति, नामधेयेनैकाहिकम् । नामधेयं च चोदकाद् बलीयः । कुतः ? प्रत्यक्षत्वात् । प्रत्यक्षं नामधेयं, चोदकं त्वानुमानिकम् । ननु विध्यन्तोऽपि प्रत्यक्षः । सत्यं प्रकृतौ प्रत्यक्षो विध्यन्तो, विकृतौ त्वानुमानिकः । नामधेयं पुनर्विकृतावपि प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्षं चानुमानाद् बलीयः । तस्मादैकाहिकं कार्यम् । नन्वधिकार्थं नामधेयमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—अधिकानामशब्दत्वम् । अधिकानां शब्दो नास्ति । इमे ज्योतिरादयः शब्दाः कर्मनामधेयानीत्युक्तम्—**अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वाद्**' इति ।

यत् तु '**अधिकागमात्तदाख्यं स्याद्** इति । तत्र ब्रूमः । वचनादधिकागमो न नामधेयेन । यत् तु, तेष्वसत्सु शब्दस्याभावादिति । नैते कदाचिदायुरादिषु न

व्याख्या—द्वादशाहिक [धर्म] नहीं करना चाहिये । तो क्या करने चाहियें ? एकाह के । क्या कारण है ? चोदक वचन से द्वादश के धर्म प्राप्त होते हैं, नामधेय से ऐकाहिक । नामधेय चोदक से बलवान् है । किस हेतु से ? प्रत्यक्ष होने से । नामधेय प्रत्यक्ष है, चोदक आनुमानिक है । (आक्षेप) विध्यन्त भी प्रत्यक्ष है । (समाधान) सत्य है, प्रकृति में विध्यन्त प्रत्यक्ष है, विकृति में तो आनुमानिक है । नामधेय तो विकृति में भी प्रत्यक्ष है । और प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् है इस लिये [गवामयनस्थ ज्योतिः आदि में] एकाह के धर्म करने चाहियें । (आक्षेप) अधिक के लिये नामधेय होता है यह कहा है । (समाधान) अधिकों का शब्दत्व नहीं है । अधिक कार्यों का विधायक शब्द नहीं है। ये ज्योति आदि शब्द कर्मों के नामधेय हैं यह कह चुके—अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् (=उद्भिदादि गुण विधियां नहीं हैं । जिन के विधान में अपूर्व कर्म का विधान वे कर्मों के नाम होवें । नामधेय होने पर गुणविधायकत्व न होवे । मी० १।४।२) से ।

विवरण—चोदकेन—गुणयागों की प्रकृति द्वादशाह होने (मी० ८।१।१७) से प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस चोदक वचन से गवामयनस्थ ज्योतिः में द्वादशाहिक धर्मों की प्राप्ति होती है । नामधेयेनैकाहिकम्—एकाह अन्तर्गत ज्योतिः आदि के नामधेय होने से उसके धर्म प्राप्त होते हैं । प्रकृतौ प्रत्यक्षः – द्वादशाह में विध्यन्त प्रत्यक्ष पठित है ।

व्याख्या— जो यह कहा अधिक के आगम से तदाख्य (= ज्योतिः नामों से कहे गये) कर्म होवें । इस विषय में कहते हैं-वचन से अधिक का आगम नामधेय से नहीं होता है । और जो कहा – उन के न होने पर शब्द का अभाव होने से । ये कभी आयुः आदि में नहीं हैं ऐसा

---

१. मी० अ० १ पा० ४ सू० २ ॥

२. मी० अ० ७ पा० ४ सू० १३ ॥

सन्ति । कथं ? तेषामभावे शब्दस्याभावो दृष्टः । यत् तु, ज्योतिष्टोमे नास्ति ज्योतिरादिः शब्द इति । कर्मान्तरत्वात् । ज्योतिष्टोम आयुरादिः शब्दो नास्ति, न धर्माभावात् । तस्मादैकाहिकं विरुद्धं धर्मजातं कर्तव्यमिति ।

अधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवदित्येतस्य द्वितीयव्याख्यापरिहारः । गौणः सन्ननुवादमात्रमनर्थकं स्यात् । तस्मात् पूर्वोक्तेन न्यायेन नामधेयं धर्माणां प्रापकमिति ।।१५।।

अथ यल्लिङ्गमुपदिष्टं द्वादशोपसत्त्वदर्शनं, तस्य कः परिहारः ? उच्यते—

लिङ्गं संघातधर्मः स्यात् तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ।।१६।। (उ०)

लिङ्गं सङ्घातधर्मः स्यात् । लिङ्गमेतत् सङ्घातधर्मः स्यात् । द्वादशाहोऽहः-

---

नहीं है । कैसे ? उन के न होने पर शब्द (= ज्योतिः आदि) का अभाव देखा गया है । और जो यह कहा कि ज्योतिष्टोम में ज्योतिः आदि शब्द नहीं हैं । कर्मान्तर होने से ज्योतिष्टोम में आयुः आदि शब्द नहीं हैं, धर्म के अभाव से नहीं । इस से ऐकाहिक [ज्योतिष्टोम से] विरुद्ध धर्म करने चाहियें ।

अधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत् इसकी द्वितीया व्याख्या का परिहार—गौण होता हुआ अनुवादमात्र अनर्थक होवे । इससे पूर्वोक्त न्याय से नामधेय धर्मों का प्रापक होता है ।।१५।।

विवरण—यत्तु अधिकागमात्—मी० ७।४।१३ सूत्र के भाष्य में उक्त हेतुओं का प्रत्याख्यान किया है, ऐसा जानना चाहिये ।।१५।।

व्याख्या—जो लिङ्ग कहा गया द्वादश उपसत्त्व के दर्शन का, उसका क्या परिहार है ? कहते हैं—

लिङ्गं संघातधर्मः स्यात् तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ।।१६।।

सूत्रार्थः—(लिङ्गम्) लिङ्ग (सघातधर्मः) द्वादशाहः १२ दिनों का सघात है उस सङ्घात का धर्म (स्यात्) होवे । (तदर्थापत्तेः) उस द्वादशाह का गवामयन में अर्थापत्ति= कार्यवश से प्राप्ति होने से [द्वादशाह का द्वादश उपसत्त्व प्राप्त होता है] (द्रव्यवत्) द्रव्य के समान [जैसे व्रीहि आदि द्रव्य के नाश होने पर प्रतिनिधिरूप से विहित नीवार आदि में कार्यवश व्रीहि के अवहननादि धर्म प्राप्त होते हैं, चोदक वचन से प्राप्त नहीं होते] ।

व्याख्या—लिङ्ग संघात का धर्म होवे । यह [द्वाभ्यां स्तोममवच्यति आदि] लिङ्ग सङ्घात का धर्म होवे । द्वादशाह दिनों का सङ्घात है । वह फल के लिये कहा गया है—

सङ्घातः । स फलाय चोद्यते—द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः[1] इति । गवामयनमपि अहःसङ्घातान्तरम् । तस्मिन्नेव कार्ये फलसिद्धौ विधीयते । तस्य तत् कार्यापत्त्या द्वादशाहधर्मान् गृह्णाति, न चोदकेन । द्रव्यवत् । यथा द्रव्ये व्रीहौ धर्माः श्रुतास्ते तत्कार्यापन्नेषु नीवारेषु प्रतिनिधिभूतेषु प्राप्यन्ते, न चोदकेन, तद्वत् ॥१६॥

न वाऽर्थधर्मत्वात् संघातस्य गुणत्वात् ॥१७॥ (पू०)

नैतद्युक्तम् । कुतः ? अर्थधर्मत्वात् । अपूर्वधर्मत्वादित्यर्थः । अपूर्वधर्मो द्वादशोपसत्त्वं न सङ्घातधर्मः । कस्मात् ? सङ्घातस्य गुणत्वात् । अहान्यत्र प्रधा-

---

द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः (=ऋद्धि की कामनावाले द्वादशाह से आरम्भ करें) । गवामयन भी [३६१] दिनों का अन्य सङ्घात है । उस गवामयन सङ्घात के कार्य में ही फल की सिद्धि के लिये [द्वादशाह का] विधान किया जाता है । उस [द्वादशाह] के कार्यवश प्राप्ति होने से वह द्वादशाह के धर्मों को ग्रहण करता है, चोदक वचन से ग्रहण नहीं करता । द्रव्य के समान । जैसे व्रीहि द्रव्य में जो धर्म श्रुत हैं वे उस कार्य के वश से प्राप्त प्रतिनिधिभूत नीवारादि में प्राप्त होते हैं, चोदकवचन प्राप्त नहीं होते, तद्वत् यहां जानना चाहिये ॥१६॥

विवरण—भाष्य का तात्पर्य यह है—गवामयन जो ३६१ दिनों का सङ्घात है उसमें द्वादशाह जो १२ दिनों का सङ्घात है उसका ऋद्धिरूप फल के लिये विधान किया है । अतः गवामयन में द्वादशाह का जो द्वादश उपसत्त्व धर्म है, वह द्वादशाहः के कार्यवश (=कार्यसिद्धि के लिये) प्राप्त होता है चोदक वचन से प्राप्त नहीं होता । जैसे किसी ने व्रीहि का निर्वाप करके पौर्णमासादि कर्म आरम्भ किया । निर्वाप के अनन्तर व्रीहि कथंचित् नष्ट हो गये । उस के स्थान पर प्रतिनिधिभूत नीवार आदि को ग्रहण किया । व्रीहि में जो अवहनन आदि धर्म कार्यसिद्धि के लिये विहित हैं वे कार्यसिद्धि के लिये स्वतः नीवारादि में प्रवृत्त होते हैं किसी चोदक वचन से प्राप्त नहीं होते ॥१६॥

न वाऽर्थधर्मत्वात् सङ्घातस्य गुणत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(न वा) 'न वा' पदों से सिद्धान्ती द्वारा उक्त 'द्वादश उपसत् द्वादश दिनों के सङ्घात का धर्म है' की निवृत्ति के लिये है । (अर्थधर्मत्वात्) द्वादश उपसद् अर्थ अपूर्वजनक द्वादशाह प्रधान का धर्म होने से, (सङ्घातस्य) सङ्घात के (गुणत्वात्) गौण होने से ।

व्याख्या—यह युक्त नहीं है [कि द्वादश उपसत् द्वादश अहों के सङ्घात का धर्म है] । किस हेतु से ? अर्थधर्म होने से, अपूर्व के धर्म ही से यह तात्पर्य है । अपूर्व का धर्म है द्वादश उपसत्, सङ्घात का धर्म नहीं है । किस हेतु से ? सङ्घात के गुणत्व (=गौण होने) से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तां० ब्रा० १०।३।१॥

नानि। द्वादशाहेनेति द्वादशत्वं तेषां गुणः। विशेषणमित्यर्थः। विशेष्य एव कार्यं प्रतीयते, न विशेषणे। यथा—राजपुरुष आनीयतामित्युक्ते पुरुष आनीयते, न राजा। यथा च—मष्टं भुङ्क्ते देवदत्त इत्युक्ते, न शाकं सूपो वा प्रतीयते। यदेव प्रधानं, तत् प्रतीयते। किमतः? अतोऽहानि फलवन्ति, न सङ्घातः। फलवतश्च धर्माः। तस्मान्न द्वादशोपसत्त्वं सङ्घातधर्मः। एवं चेन्न गवामयने कार्यापत्तितो धर्माः प्राप्यन्ते। अतोऽपरिहारोऽयम् ॥१७॥

अर्थापत्तेर्द्रव्येषु [1]धर्मलाभः स्यात् ॥१८॥ (पू०)

यच्चोक्तं द्रव्यवदिति। युक्तं द्रव्येषु। तत्र हि व्रीहिकार्यापन्ना नीवाराः कार्यापत्तितस्तद् धर्माल्लँभन्ते। इह पुनर्द्वादशोपसत्त्वं नैव सङ्घातधर्म इत्यपदिष्टो[2] हेतुः। तस्माददृष्टान्तो द्रव्यवदिति ॥१८॥

आह। कथं तर्हीदं लिङ्गदर्शनम्? अत्रोच्यते—

प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ॥१९॥(उ०)

अहः प्रधान हैं। द्वादशाहेन यहां द्वादशत्व उन अहों का गुण है अर्थात् विशेषण है। विशेष्य में ही कार्य की प्रतीति होती है, विशेषण में नहीं होती। जैसे—राजपुरुष आनीयताम् ऐसा कहने पर पुरुष ही लाया जाता है न कि राजा। और जैसे मृष्टं भुङ्क्ते देवदत्तः ऐसा कहने पर शाक वा दाल की प्रतीति नहीं होती। जो प्रधान है [मिष्ट गुणवाला जो खीर लड्डू या बरफी है] उसकी प्रतीति होती है। इससे क्या? इससे दिन ही फलवाले हैं, सङ्घात फलवाला नहीं है। फलवाले का ही धर्म होता है। इसलिये द्वादश उपसत्त्व सङ्घात का धर्म नहीं है। ऐसा होवे तो गवामयन में कार्य की प्राप्ति होने से धर्म प्राप्त होते हैं। इसलिये यह [उक्त] परिहार नहीं है ॥१७॥

अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(अर्थापत्तेः) व्रीहि द्वारा पुरोडाश निर्माणरूप कार्य की प्राप्ति से (द्रव्येषु) प्रतिनिधिभूत नीवारादि में (धर्मलाभः) धर्म की प्राप्ति (स्यात्) होवे।

व्याख्या—और जो कहा द्रव्यवत्, वह द्रव्यों में यु .. है। वहां व्रीहि के कार्य को प्राप्त हुए नीवार कार्य की प्राप्ति (=सिद्धि) के लिये उस (= व्रीहि) के धर्मों को प्राप्त होते हैं। यहां पुनः द्वादश उपसत्त्व सङ्घात का धर्म नहीं है, यह हेतु [हमने] दिया है। इससे द्रव्यवत् यह दृष्टान्त युक्त नहीं है ॥१८॥

व्याख्या—तो यह लिङ्गदर्शन कैसे है? इस विषय में कहते हैं—

प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ॥१९॥

---

१. 'द्वादशाहत्वं'—पाठान्तरम्। २. 'इत्ययमपदिष्टः'—पाठान्तरम्।

गवामयने द्वादशाहिकं प्रथममहः, प्रायणीयोऽतिरात्रः। तस्य धर्मो द्वादशोपसत्त्वम्। तदुपादाने मुख्यस्यानुग्रहः। षडुपसत्त्वोपादाने जघन्यानां ज्योतिरादीनाम्। मुख्यस्य प्राप्तकालमनुग्रहमतिक्रमितुं किंचित्कारणं[1] नास्ति। अतस्तदनुग्रहार्थं द्वादशोपसत्त्वं भवति। 'तस्मान् मुख्यया प्रवृत्त्या नियतस्यैतद् दर्शनं, न चोदकप्राप्त्या। यस्माच्चोदको नामधेयाद् दुर्बलः[3]। वक्ष्यति च—**विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्[4]। मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवद्[5]** इति ॥१६॥

सूत्रार्थः—(प्रवृत्त्या) मुख्य की प्रवृत्ति से गवामयन में (नियतस्य) नियत द्वादश उपसत्त्व का (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्ग दर्शन होता है।

व्याख्या—गवामयन में द्वादशाह में होनेवाला प्रथम अहः प्रायणीय अतिरात्र है अर्थात् अतिरात्र संस्थावाला है। उसका धर्म द्वादश उपसत्ता है। उसका उपादान होने पर मुख्य का अनुग्रह होता है। षड् उपसत्त्व के उपादान में जघन्य ज्योति आदि का। प्राप्त है काल जिसका ऐसे मुख्य का अनुग्रह का अतिक्रमण (= परित्याग) करने में कोई कारण नहीं है। अतः उसके अनुग्रह के लिये द्वादश उपसत्त्व होता है। इससे मुख्य प्रवृत्ति से नियत [द्वादश उपसत्त्व] यह दर्शन है, चोदक की प्राप्ति से नहीं। जिस कारण चोदक नामधेय से दुर्बल है। आगे सूत्रकार कहेंगे—विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्** (=परस्पर विरुद्ध धर्मों की प्राप्ति में बहुतों के समान धर्मवाला होवे। मी० १२।२।२२)। **मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्** (=जहां विप्रतिषिद्ध वाले बराबर होवें उनमें मुख्य का धर्म होवे, पूर्वविधान होने से लोक के समान। मी० १२।२।२३) ॥१६॥**

विवरण—मुख्यप्राप्तकालस्य·········गवामयन में मुख्य द्वादशाह के द्वादश उपसत्त्व और जघन्य ज्योतिरादि के षड् उपसत्त्व की प्राप्ति में मुख्य का धर्म होगा क्योंकि उसके अतिक्रमण में कोई कारण नहीं है। द्वादश उपसत्त्व चोदक वचन से प्राप्त नहीं है। लोकवत्—जैसे लोक में प्रथम आगत का प्रथम कार्य किया जाता है तदनन्तर द्वितीय का।

भट्टकुमारिल ने इस सूत्र के सम्पूर्ण भाष्य को अयुक्त कहा है। वे लिखते हैं—'प्रायणीय शब्द यौगिक होने से यह अतिदेशक नहीं हो सकता। इससे यहां द्वादश उपसत्त्व की प्राप्ति कैसे होगी। अतः प्रायणीय अतिरात्र दोनों में ज्योतिष्टोमसम्बन्धी विध्यन्त होगा। भूयसां स्यात् स्वधर्मत्वम् यह पूर्वपक्ष सूत्र नहीं है। तो क्या है? जहां बहुतों का और अल्पों का धर्म-विरोध होवे वहां बहुतों का अनुग्रह युक्त है। जहां [विरोधी धर्मवाले] बराबर होवें वहां मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत् से। न्यूनसंख्य मुख्यत्व कारण से बहुतों के धर्मों को बांधने में

१. 'कार्यम्'—पाठान्तरम्। २. 'तथा'—पाठान्तरम्।
३. 'अबलः'—पाठान्तरम्। ४. मी० अ० १२ पा० २ अ० ७ सू० २२ ॥
५. मी० अ० १२ पा० २ अ० ८ सू० २३ ॥

अथ यद् द्वितीयं लिङ्गदर्शनमुक्तम्, एकादशिन्यां विहारदर्शनम्। तत्रोच्यते—

विहारदर्शनं [च] शिष्टस्यानारम्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ॥२०॥

अनारभ्यैकादशिन्यां विहारः शिष्टः। 'तदादिप्रभवाः पशवः स्युस्तथा—'तानेवानूचीनानहरहरालभेरन्, आग्नेयमेव प्रथमेऽहन्यालभेरन्, सारस्वतीं मेषीं द्वितीये, सौम्यं बभ्रुं तृतीये, वारुणमन्ततः। अथ पुनर्ज्योतिरादीनां पर्यावर्तेष्वाग्नेयमेव प्रथमेऽहन्यालभेरन्, सारस्वतीं मेषीं द्वितीये, सौम्यं बभ्रुं तृतीये, वारुण-

---

समर्थ नहीं है [यहां भाष्यकार के मतानुसार मुख्य प्रायणीय अतिरात्र एक है और ज्योतिः गौः आयुः तीन हैं।] इसलिये इस सूत्र का अन्यथा वर्णन किया जाता है। यहां बहुतों का द्वादशाहिक विध्यन्त प्राप्त होता है अल्पों का ऐकाहिक। ऐसी स्थिति में बहुतों का अनुग्रह होवे इस अधिक प्रवृत्ति से नियत [द्वादश उपसत्त्व] का लिङ्ग दर्शन होता है यह सिद्ध होता है ॥१९॥

व्याख्या—जो दूसरा लिङ्गदर्शन कहा है—एकादशिनी में विहार का दर्शन होता है, उसके विषय में कहते हैं—

विहारदर्शनं [च] शिष्टस्यानारम्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(विहारदर्शनम्) एकादशिनी में विहार=पशुप्रचार का गवामयन में दर्शन (च) भी वहीं (शिष्टस्य) उक्त का है। [द्वादशाहगत का अतिदेश नहीं है] (अनारम्यवादानाम्) किसी कर्मविशेष को आरम्भ न करके कहे गये वादों=विधियों के (प्रकृत्यर्थत्वात्) प्रकृति के लिये होने से। अनारम्य पठित विधियां प्रकृतिगामी होती हैं। इस नियम से अनारम्य पठित एकादशिनी के विहार का गवामयन में दर्शन होता है।

विशेष—मुद्रित शाबरभाष्य के सूत्र पाठ में 'शिष्टस्य' के स्थान में 'विशिष्टस्य' पाठ मिलता है। परन्तु भाष्य में 'शिष्टस्य' का ही निर्देश है। सुबोधिनी वृत्ति में 'विहारदर्शनं च शिष्टस्य' पाठ है। हमें यही पाठ युक्त प्रतीत होता है।

व्याख्या—एकादशिनी में विहार (=पशु प्रचार) अनारम्य (=किसी कर्मविशेष को आरम्भ न करके) कहा है। जिस प्रकार उसके आदि प्रभववाले पशु होवें वैसा निर्देश किया है—तानेवानूचीनान् अहरहरालभेरन् आग्नेयमेव प्रथमेऽहन्यालभेरन्, सारस्वतीं मेषीं द्वितीये, सौम्यं बभ्रुं तृतीये, वारुणमन्ततः। (=उन पशुओं का अनूचीन=एक दूसरे के पश्चात्=यथाक्रम ही आलभन करें। आग्नेय का ही प्रथम दिन आलभन करें, सारस्वती मेषी=भेड का द्वितीय दिन, सौम्य=सोम देवतावाले बभ्रु=धूसर पशु का तृतीय दिन, अन्त में वारुण पशु का आलभन करें)। अथ पुनर्ज्योतीरादीनां पर्यावर्तेष्वाग्नेयमेव प्रथमेऽहन्यालभेरन् सारस्वतीं मेषीं द्वितीये, सौम्यं बभ्रुं तृतीये, वारुणमन्ततः (=

---

१. 'ते यदि प्रभवः'—पाठान्तरम्। २. 'स्युः तानेव'—पाठान्तरम्।

मन्तत:[1] इति। तदनारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वाज्ज्योतिष्टोमं प्रविष्टम्। तत्राह्नां बहुत्वस्याभावादसम्भवादपरां प्रकृतिं द्वादशाहमागतम्। तत्रापि, पुनर्ज्योतिरादीनां पर्यावर्तेष्वित्येतन्न युज्यत इति तृतीयां प्रकृतिं गवामयनमापन्नम्[2]। एवमागतस्यैतद् दर्शनमिति ॥२०॥

ज्योति आदि के पर्यावर्तों पर्यायों में आग्नेय का ही प्रथम दिन आलभन करें, सारस्वती मेषी का द्वितीय दिन, सौम्य बभ्रु का तृतीय दिन, अन्त में वारुण पशु का आलभन करें)। उन अनारभ्य वादों के प्रकृति के लिये होने से अर्थात् प्रकृतिगामी होने से [यह क्रम] ज्योतिष्टोम में प्रविष्ट हुआ [ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम सोम यागों की प्रकृति है]। वहां दिनों का बहुत्व न होने से अर्थात् उसके एक दिन साध्य होने से [उक्त वाद के] असम्भव अन्य प्रकृति द्वादशाह को प्राप्त हुआ। वहां भी [ज्योति आदि के पर्यावर्तों के न होने से] 'ज्योतिरादीनां पर्यावर्तेषु' यह युक्त नहीं होता है, इससे तीसरी प्रकृति गवामयन को प्राप्त हुआ। इस प्रकार [गवामयन को] प्राप्त हुए का यह [विहार] दर्शन है ॥२०॥

विवरण—इस सूत्र के भाष्य का तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी ने पश्वैकादशिनी सम्बन्धी विहार दर्शन को ज्योति आदि यागों में द्वादशाह धर्म की प्राप्ति में लिङ्गदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया था। सिद्धान्तवादी ने प्रस्तुत पश्वैकादशिनी को द्वादशाहोक्त से भिन्न अनारभ्यवाद की स्वीकार किया है। अनारभ्य विधियां प्रकृतिगामी होती हैं इस नियम से यह ज्योतिष्टोम (=अग्निष्टोम) जो सोमयागों की प्रकृति है उसमें प्रविष्ट हुआ। ज्योतिष्टोम एकाहसाध्य है अतः उसमें अहरहरालभेरन् विधि के उपपन्न न होने से द्वादशाह जो अहर्गणों की प्रकृति है, उसको प्राप्त हुआ। द्वादशाह से ज्योति आदि की पर्यावृत्ति के अभाव के कारण वह गवामयन, जो अन्य विभिन्नसंस्थाक वर्षसाध्य सत्रों की प्रकृति है, को प्राप्त हुआ। गवाममन में इस प्रकार एकादशिनी सम्बन्धी विहारदर्शन द्वादशाह में निर्दिष्ट पश्वैकादशिनी चोदक वचन से प्राप्त नहीं होती है अपितु अनारभ्याधीत जो पश्वैकादशिनी है, उसके प्रकृतिगामी होने से ज्योतिष्टोम और द्वादशाह में उसका प्रवेश असम्भव होने से गवामयन में प्रविष्ट हुई अर्थात् गवामयनस्थ पश्वैकादशिनी विहार दर्शन अनारम्भवादरूप में प्राप्त हुआ उसका अपना विहार-दर्शन है न कि द्वादशाहस्थ पश्वैकादशिनी का चोदकप्राप्त विहार ॥२०॥

विशेष—इस भाष्य में उद्धृत वैदिक वचन के अनुपलब्ध होने से तथा तत्सदृश वचन के उपलब्ध न होने से इस वचन की स्पष्ट व्याख्या हम नहीं कर सके।

धन्नालाल जवाहरलाल अग्रवाल विरचित 'पूर्वमीमांसा-उद्धरणकोश' पृष्ठ ८६ पर शतपथ ब्राह्मण का पता दिया है उस पर यह वाक्य वा एतत् सदृश कोई वाक्य नहीं है।

१. अनुपलब्धमूलम्।   २. 'गवामयनं प्रविष्टम्'—पाठान्तरम्।

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य
चतुर्थः पादः



सम्पूर्णः सप्तमोऽध्यायः ॥

पूर्वमीमांसा-उद्धरणकोश में निर्दिष्ट आकरस्थान प्रायः चिन्त्य हैं। उनका मूल ग्रन्थ से मिलाये विना उपयोग करना स्वयं को तथा पाठकों को भ्रम में डालने वाला है। इससे इस ग्रन्थ का उपयोग वहुत सावधानता से करना चाहिये। हमारी दृष्टि में तो यह ग्रन्थ जिस रूप में और जिस प्रतिष्ठित संस्था से प्रकाशित हुआ है वह उसके अनुरूप नहीं है ॥२०॥

इति अजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा)-
भिजनेन सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः श्री सूर्यरामस्य प्रपौत्रेण
श्री रघुनाथस्य पौत्रेण श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुदभाजाम्
श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्य-शास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचितायां
मीमांसा-शाबरभाष्यस्य वैदिकतत्त्व-प्रकाशिन्यां 'यशोदा'ख्यायां हिन्दी-व्याख्यायां
सप्तमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

२०४७ वैक्रमाब्दे आषाढकृष्णायां नवम्यां
रविवासरे (=जूनमासे सप्तदशतारिकायाम्) १९९० खैस्ताब्दे
सप्तमाध्यायस्य शाबरभाष्य-व्याख्या पूर्तिमगात् ॥



मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

(हिन्दी-व्याख्या-सहितम्)

अष्टमाध्याये प्रथमः पादः

[विशेषातिदेशप्रतिज्ञाधिकरणम् ॥१॥]

एवं तावत् सप्तमेनाध्यायेन सामान्यतोऽतिदेशलक्षणमुक्तम्—'अविहितधर्मकेष्वैन्द्राग्नादिषु कर्मसु विहितधर्मकेभ्यो दर्शपूर्णमासादिभ्यो धर्मा अतिदिश्यन्ते' इति। तत्र चिन्ता भवति—किमेकस्मिन् कर्मणि सर्वकर्मभ्यो[1] धर्मातिदेश उतैकस्मादिति। अविशेषात् सर्वेभ्य इति प्राप्तम्। एकेन तु निराकाङ्क्षीकृते कर्मणि द्वितीयधर्मप्राप्तौ किंचित् कारणं नास्ति। सत्यम्। तदेव तु न ज्ञायते। कस्मिन् कस्येति? तदर्थं विशेषलक्षणं वक्तव्यमस्मिन्नस्येति। तदिदमध्यायादौ प्रतिज्ञायते—

अथ विशेषलक्षणम् ॥१॥ (प्रतिज्ञा)

व्याख्या—इस प्रकार सप्तमाध्याय से सामान्य रूप से अतिदेश लक्षण कहा है—'जिनका धर्म विहित नहीं है ऐसे ऐन्द्राग्नादि कर्मों में विहितधर्मवाले दर्शपूर्णमासादि से धर्म अतिदिष्ट होते हैं।' इससे विचार होता है—क्या एक कर्म में सब [विहितधर्मवाले] कर्मों से धर्म का अतिदेश होता है अथवा एक कर्म से। अविशेष (=विशेष न कहने) से सबसे [धर्म अतिदिष्ट होते हैं] ऐसा प्राप्त होता है। एक [विहितधर्मवाले कर्म] से [अविहितधर्मवाले] कर्म के निराकाङ्क्ष कर देने पर द्वितीय कर्म के धर्म की प्राप्ति में कुछ प्रयोजन नहीं है। यह सत्य है। परन्तु यही तो ज्ञात नहीं होता है कि किस कर्म में किसके धर्म का अतिदेश होवे? इसलिये विशेष लक्षण कहना चाहिये—इस कर्म में इस कर्म का धर्म अतिदिष्ट होवे। यह अध्याय के आरम्भ में प्रतिज्ञात किया जाता है—

अथ विशेषलक्षणम् ॥१॥

सूत्रार्थः—(अथ) सामान्य अतिदेश के सप्तम अध्याय से निरूपण करने के अनन्तर (विशेषलक्षणम्) विशेष अतिदेश के लक्षण का निरूपण करते हैं।

---

१. 'सर्वकर्मसु'—पाठान्तरम्।

अथ विशेषलक्षणमिति । अथेदानीं वृत्तात् सामान्यातिदेशलक्षणादनन्तरं विशेषलक्षणं वक्ष्यामः । तदुच्यमानं यथाकालं बोद्धव्यमिति ॥१॥

———

[सादृश्यविशेषेण नियतप्रकृतितो धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥२॥]

तदेतत् संक्षेपेणैवोच्यते—

यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ॥२॥ (उ०)

यस्य वैदिकस्य विध्यन्तरस्य लिङ्गं किंचित्, शब्दगतमर्थगतं वा वैकृत्यां कर्मचोदनायां, तद्गुणवाक्ये वा दृश्यते, तत्र स विध्यन्तः स्यात्। कुतः ? अर्थसंयोगात्। तस्यार्थस्य लिङ्गस्य तेन विध्यन्तविशेषणेन संयोगोऽनुभूतपूर्वः। संयोगिनोश्चान्यतरो दृश्यमान इतरमदृश्यमानमप्यनुमानाद् बुद्धौ संनिधापयति। अभिधानवत्। यथा-अग्निहोत्रमित्यभिधानं कौण्डपायिनामयने श्रूयमाणं नैयमिका-

---

व्याख्या—अब कहे गये सामान्यातिदेश के लक्षण के अनन्तर विशेष अतिदेश का लक्षण कहते हैं। पूर्व निरूपित सामान्यातिदेश के लक्षण के अनन्तर विशेष अतिदेश का लक्षण कहेंगे। उसे यथाकाल कहे गये को जानना चाहिये ॥१॥

———

व्याख्या—वह (=विशेषातिदेश लक्षण) संक्षेप से ही कहा जाता है—

यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ॥२॥

सूत्रार्थः—(यस्य) जिस आग्नेयादि विध्यन्त का (लिङ्गम्) कोई शब्दगत अथवा अर्थगत लिङ्ग विकृति कर्म की चोदना अथवा उसके गुण वाक्यों में दिखाई देता है, वह वहां =सौर्यादि विध्यन्त होवे (अर्थसंयोगात्) उस अर्थलिङ्ग के उस विध्यन्त के साथ संयोग होने से, (अभिधानवत्) अग्निहोत्र आदि नाम के समान।

व्याख्या—जिस वैदिक विध्यन्त का शब्दगत अथवा अर्थगत कोई लिङ्ग विकृति यागों की चोदना में अथवा उसके गुण वाक्य में देखा जाता है, वहां वह विध्यन्त होवे। किस हेतु से ? अर्थ के संयोग से। उस अर्थ=लिङ्ग का उस विध्यन्त विशेष के साथ पूर्व अनुभव किया गया संयोग है। दो संयोगियों में एक दृश्यमान (=दिखाई देता हुआ) इतर (=दूसरे) अदृश्यमान का भी अनुमान से बुद्धि में उपस्थित कराता है अभिधान के समान। जैसे अग्निहोत्र यह नाम कौण्डपायियों के अयन में श्रूयमाण नियम से किये जानेवाले (=नित्य)

ग्निहोत्रधर्मान् बुद्धौ संनिधापयति। किमतोऽत्र ? एतदतो भवति, अपूर्णं यद्वाक्यं तत्पूरणसमर्थेनावयवेन बुद्धौ संनिहितेनैकवाक्यतां याति। यथा **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत**[1] इति विध्यादिः, कथमिति विध्यन्तापेक्षः, अग्न्यन्वाधानादिविधानकाण्डेन पाठाद् बुद्धौ संनिहितेनैकवाक्यतां याति। दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्थमिति। एवं विध्यन्तापेक्षो यो वैकृतो विध्यादिः, सोऽपि वैदिकेन विध्यन्तेनानुमानाद् बुद्धौ संनिहितेनैकवाक्यतां यास्यति। यथा—**सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः**[2] इति। तत्र कथमिति विध्यन्तापेक्षायामनेकविध्यन्तसंनिपातेऽसाधारणेन निर्वपतिशब्देन दार्शपौर्णमासिकविध्यन्तसंयोगिना लिङ्गेन तदीयो विध्यन्तः प्रसज्यते। तत्राप्याग्नेयाद्यनेकापूर्वविध्यन्तप्रसङ्गे, एकदेवतात्वेन वौषधिना वाऽसाधारणेन लिङ्गेनाऽऽग्नेयविध्यन्तो नियम्यते। तदेतदेवं विज्ञायते, सौर्यं चरुं निर्वपेदाग्नेयवत्। **आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्**[3] अग्नीषोमीयवत्। सर्वत्रैवम्।

अग्निहोत्र के धर्मों को बुद्धि में उपस्थित कराता है। (आक्षेप) इससे यहां पर क्या [सिद्ध होता है] ? (समाधान) इससे यह होता है कि अपूर्ण जो वाक्य है वह पूरण समर्थ अवयव वाले बुद्धि में सन्निहित के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होता है। जैसे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत यह विध्यादि वाक्य, 'कैसे इस' इस आकाङ्क्षा से विध्यन्त की अपेक्षा रखता हुआ अग्न्यन्वाधान आदि विधान समुदाय के साथ पाठ से बुद्धि में समीपस्थ के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होता है—दर्शपूर्णमासों से इस प्रकार यजन करे। इसी प्रकार विध्यन्त की अपेक्षा वाला जो विकृतियागस्थ विध्यादि है, वह भी बुद्धि में सन्निहित वैदिक विध्यन्त के साथ अनुमान से एकवाक्यता को प्राप्त होवेगा। जैसे सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (= ब्रह्मवर्चस की कामनावाला सौर्य चरु का निर्वाप करे) यह। वहां कैसे इस आकाङ्क्षा से विध्यन्त की अपेक्षा होने पर अनेक विध्यन्तों के सन्निपात में (=एक साथ उपस्थित होने पर) असाधारण (=विशेष) 'निर्वाप'शब्द से दर्शपूर्णमास के विध्यन्त संयोगी लिङ्ग से उस (= दर्शपूर्णमास) का विध्यन्त प्राप्त होता है। वहां भी आग्नेयादि अनेक [याग होने से अनेक] अपूर्व विध्यन्तों की प्राप्ति में एकदेवतात्व से अथवा औषधि के असाधारण लिङ्ग से आग्नेय विध्यन्त नियमित होता है। इससे इस प्रकार जाना जाता है—सूर्य देवतावाले चरु द्रव्यवाले याग को आग्नेय याग के समान करे। आग्नावैष्णव एकादशकपाल का निर्वाप करे अग्नीषोमीय के समान करे। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते। ऐ० ब्रा० १।१॥ शत० ब्रा० २।४।२।११॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सौर्यं चरुं निरवपन् ... ब्रह्मवर्चसकामः। तै० सं० २।३। २।२-३॥

३. तै० सं० २ २।९, अस्मिन् अनुवाके बहुधावचनं श्रूयते किञ्चिद् भेदेन।

प्रतिपदाख्याने तु गौरवं परिहरद्भिर्वृत्तिकारैः सर्वसामान्यः शब्दः परिगृहीतः प्रकृतिवदिति। एवं यत्र सूक्ष्ममपि किंचित् सामान्यं, शब्दो वाऽर्थो वा, हविर्देवतादि तद्गुणा वा रूपादय उपलभ्येरन्, तत्र तदीयो विध्यन्तः कल्प्यः। तदेतत् संक्षेपेणात्रैव सर्वमुक्तम्। शिष्यहितार्थमुत्तरः प्रपञ्चः। श्लोकमप्युदाहरन्ति—

वितीर्य हि महज्जालमृषिः[1] संक्षिप्य चाब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्[2]॥ इति ॥२॥

विवरण—स विध्यन्तः स्यात्—विध्यन्त=विधि के अवयव अर्थात् अङ्ग। **तस्यार्थस्य लिङ्गस्य ...अनुमानाद् बुद्धौ सन्निधापयति**—इस भाग का कुमारिल ने 'अनुमान से बुद्धि में उपस्थिति कराता है' तात्पर्य का खण्डन करके 'उपमान से बुद्धि में उपस्थित कराता है' अभिप्राय की स्थापना की है। यह सब विस्तार से टुप्टीका में देखें। **आग्नेयाद्यनेकापूर्वविध्यन्ते प्रसक्ते**—पूर्णमास में आग्नेय अष्टाकपाल, अग्नीषोमीय एकादशकपाल, अग्नीषोमीय उपांशुयाग आज्य से, तीन यागों की विध्यन्तता है। दर्श में आग्नेय अष्टाकपाल, ऐन्द्रदधि, ऐन्द्रपयः, तीन यागों का विध्यन्त है। उनकी प्राप्ति होने पर। **एकदेवताप्रसङ्गेन**—विकृति याग सौर्य में सूर्य एक देवता होने से पूर्णमासस्थ एकदेवतावाले आग्नेय याग की विध्यन्तता को, **अथवा ओषधिना** विकृति यागस्थ चरु व्रीहि ओषधिवाला होने से अष्टाकपाल पुरोडाश के भी ओषधि द्रव्यवान् होने से सौर्य विकृतियाग पूर्णमासस्थ आग्नेय याग की विध्यन्तता को प्राप्त होता है। **आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्** यह विकृति याग दो देवतावाला होने से पूर्णमासस्थ अग्नीषोमीय दो देवता वाले एकादेश कपाल याग की विध्यन्तता को प्राप्त होता है। ऊपर जो सौर्य याग और आग्नावैष्णव याग में देवता वा हव्य द्रव्य में से एक की समानता से आग्नेय वा अग्नीषोमीय याग की विध्यन्तता प्राप्त हो सकती है। पुनः **एकदेवतात्वेन वौषधिना वा** दो का निर्देश क्यों किया। इसका उत्तर है देवतागत एकत्वादि के भेद होने पर जहां आज्य द्रव्य होगा वहां अग्नीषोमीय उपांशुयाग की विध्यन्तता होगी।

व्याख्या—प्रतिपद कथन (=प्रत्येक विकृति याग के विषय) में गौरव का परिहार करते हुए वृत्तिकारों ने सर्वसामान्य शब्द 'प्रकृतिवत्' को ग्रहण किया है। इस प्रकार जहां सूक्ष्म भी किञ्चित् सामान्य शब्द वा अर्थ तथा हवि और देवतादि उसके गुणभूत रूपादि उपलब्ध होवें, वहां उसके विध्यन्त की कल्पना करनी चाहिये। यह संक्षेप से ही यहां सब कहा है। शिष्यों के हित के लिये उत्तर प्रपञ्च है। [इस विषय में] श्लोक भी उदाहृत करते हैं—

महान् जाला=बन्धन कारण का विस्तार करके ऋषि ने संक्षेप से भी कहा है। लोक में विद्वानों को समास (=संक्षेप) और व्यास (=विस्तार) से धारण करना इष्ट है ॥२॥

---

१. 'महज्जालमृषिः' इत्यपपाठः। न चास्य पाठस्यास्ति काचित् सङ्गतिः।
२. 'महज्ज्ञानमृषिः' इति शुद्धपाठेन युक्तः महाभारते आदिपर्वणि (१।५१) पठ्यते।

[सोमे ऐष्टिकधर्मानतिदेशाधिकरणम् ॥३॥]

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति श्रूयते। तत्र विध्यन्तं प्रति चिन्ता। कुतोऽस्मिन् विध्यन्तः स्यादिति। तदुच्यते—

विवरण—वृत्तिकारैः—भाष्यकार शबर स्वामी ने जहां भी वृत्तिकार को उद्धृत किया है वहां एकवचनान्त शब्द का ही प्रयोग किया है। यहां वृत्तिकारैः बहुवचनान्त का प्रयोग होने से सब वृत्तिकारों=व्याख्याकारों का ग्रहण इष्ट है। शाबरभाष्य के व्याख्याता क्षीर-समुद्रवासिमिश्र ने 'व्याख्यातृभिः' रूप में निर्देश किया है। शिष्यहितार्थमुत्तरः प्रपञ्चः—जो 'इसके साथ इस कर्म की चोदनाविषयक लिङ्ग सामान्य है' इसकी विवेचना नहीं कर सकता उसके प्रति प्रतिनियत कर्म से चोदनालिङ्गसामान्य का ज्ञान कराने के लिये उत्तर प्रपञ्च है। प्राय: प्रत्येक आर्ष ग्रन्थ के प्रवक्ता महर्षि वृन्द शिष्यों के हित के लिये अपने प्रवचन में संक्षेप और प्रपञ्च का आश्रयण करते हैं। पाणिनि मुनि द्वारा अष्टाध्यायी में संक्षेप और प्रपञ्च से किये गये प्रवचन के विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—ते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति। (महाभाष्य २।१।५, ६।३।१४)।

अर्थात् वे ही विधियां अध्येताओं के द्वारा अच्छे प्रकार परिगृहीत होती हैं, जिनके लक्षण=संक्षिप्त वचन और प्रपञ्च=विस्तार होता है। जिन विधियों का केवल लक्षण अथवा प्रपञ्च ही होता है वे उस प्रकार उपकारक नहीं होती हैं।

उदाहरन्ति—वृत्तिकारा इति शेषः। अर्थात् वृत्तिकार अगले श्लोक को उदाहृत करते हैं। विस्तीर्य हि महज्जालम्—इसका तात्पर्य है ममत्व रूप महज्जाल बन्धन है उसको। द्र०—महदर्थजालं ममत्वबन्धनमिव क्षीरसमुद्रवासी मिश्र की व्याख्या। वस्तुतः महज्जालम् अपपाठ है। इस पाठ की सङ्गति भी नहीं लगती। शुद्धपाठ महज्ज्ञानम् होना चाहिये। यह श्लोक महाभारत आदिपर्व अ० १ के ५१ संख्या पर है। इसका अर्थ है—इतिहासरूपी महद्ज्ञान का विस्तार करके ऋषि (=कृष्णद्वैपायन व्यास) ने संक्षिप्त करके भी कहा है। महाभारत की उभयविध रचना उपलब्ध होती है। आरम्भ में संक्षिप्त रूप से समस्त ऐतिह्य का कथन है। उत्तरत्र १८ पर्वों में अति विस्तार से ॥२॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे) ऐसा सुना जाता है। उसमें विध्यन्त के प्रति चिन्ता है। इसमें विध्यन्त कहां (=किस याग) से होवे। वह कहते हैं—

प्रवृत्तत्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ॥३॥ (पू०)

प्रवृत्तत्वादिष्टेः[1] सोमे प्रवृत्तिः स्यात्। दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तः सोमे स्यात्। कुतः? प्रवृत्तत्वात्[1]। दीक्षणीयादिष्विष्टिषु दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तः प्रवृत्तः दीक्षणीयायाम्, आतिथ्यायां,प्रायणीयायां,पशौ च। तदनन्तरं सोमः। तत्रापि स एव प्रवृत्त्या विज्ञायते। यथा, देवदत्तो भोजयितव्यः, विष्णुमित्रो भोजयितव्यः, माठरः कौण्डिन्यो भारद्वाज इत्युत्तरेष्वपि भोजयितव्य इति प्रवृत्त्याऽनुबध्यते। तस्माद् ऐष्टिकः सोमे विध्यन्तः ॥३॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥ (पू०)

तस्यैकशतं प्रयाजानुयाजाः[2], इति च ऐष्टिका धर्माः सोमे दृश्यन्ते। तस्माच्च अस्मिन् ऐष्टिको विध्यन्तः ॥४॥

प्रवृत्तत्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(सोमे) सोमयाग में (इष्टेः) इष्टि के धर्मों की प्रवृत्ति होवे (प्रवृत्तत्वात्) सोमाङ्गभूत दीक्षणीयादि में ऐष्टिक धर्मों के प्रवृत्त होने से।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में सोमेऽपि पाठान्तर है।

व्याख्या—सोमयाग में [सोमाङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों की] प्रवृत्ति होने से इष्टि के धर्मों की प्रवृत्ति होवे। सोम में दार्शपौर्णमासिक विध्यन्त होवे। किस हेतु से? प्रवृत्त होने से। दीक्षणीयादि इष्टियों में दार्शपौर्णमासिक विध्यन्त प्रवृत्त है—दीक्षणीया, आतिथ्या, प्रायणीया और पशु में। तदनन्तर सोम [होता है]। वहां भी वह (=दार्शपौर्णमासिक विध्यन्त) ही प्रवृत्ति से जाना जाता है। जैसे देवदत्त भोजयितव्य है, विष्णुमित्र भोजयितव्य है, माठर कौण्डिन्य भारद्वाज [ऐसा कहने पर] उत्तरों में भी भोजयितव्य यह प्रवृत्ति से अनुबन्धित होता है। इसलिये सोम में ऐष्टिक विध्यन्त होवे ॥३॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

सूत्रार्थः—प्रयाजादि (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग दर्शन से (च) भी सोम में ऐष्टिक धर्म होवें। [लिङ्गदर्शन भाष्य में देखें।]

व्याख्या—तस्यैकशतं प्रयाजानुयाजाः (=उस सोम के एक सौ एक प्रयाज और अनुयाज होते हैं) ये (=प्रयाज अनुयाज) ऐष्टिक धर्म सोम में देखे जाते हैं। उससे भी इस (=सोम) में ऐष्टिक विध्यन्त प्राप्त होता है ॥४॥

---

१. 'प्रवृत्तित्वात्'—पाठान्तरम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—त एकशतं प्रयाजानुयाजा भवन्ति। शाङ्खा०ब्रा० १८।१०॥

कृत्स्नविधानाद् वाऽपूर्वत्वम् ॥५॥ (उ०)

अपूर्वत्वमेव हि सोमे । स न कुतश्चिद् धर्मान् गृह्णाति । कुतः ? कृत्स्न-विधानात् । इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्[1] उक्तम् । विहितेतिकर्तव्यताकश्चायम् । तस्मादपूर्वः ॥५॥

स्रुगभिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ॥६॥

विवरण—शाङ्खायन ब्राह्मण १८।१० में एकशत (१०१) प्रयाज और अनुयाज की जो उपपत्ति दर्शाई है, वह हमारी समझ में पूरी तरह न आने से हम गणना का विवरण देने में असमर्थ हैं । **एकशतं प्रयाजानुयाजाः**—एकशतम् एकोत्तरशतम् अर्थात् १०१ । महाभाष्य के **एकशतमध्वर्युशाखाः** (पस्पशाह्निक) का कई लोग '१०० यजुर्वेद की शाखा' अर्थ करते हैं वह अशुद्ध है । संस्कृत भाषा के वाग्व्यवहारानुसार 'एकशतम्' का अर्थ १०१ ही होता है । चरण-व्यूह में भी शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखाएं और कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखाएं (१५+८६=१०१) कही हैं । प्रकृत शाङ्खायन ब्राह्मण (१८।१०) में भी १०१ की उपपत्ति में कहा है—**शतायुर्वै पुरुषः शतपर्वा शतवीर्यः शतेन्द्रियः, उप य एकशततम स आत्मा** । पुरुष शरीर को शतायु शतपर्व शतवीर्य शतेन्द्रिय कहकर एकशततम एक सौ एकवां आत्मा को गिनाया है ॥४॥

कृत्स्नविधानाद् वाऽपूर्वत्वम् ॥५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष के निराकरण के लिये है सोम में ऐष्टिक धर्म प्रवृत्त नहीं होते । (कृत्स्नविधानात्) सोम के प्रकरण में सकल अङ्गकलाप का विधान होने से उसका अपूर्वत्व है ।

व्याख्या—सोम में अपूर्वत्व ही है । वह कहीं से भी धर्मों को ग्रहण नहीं करता । किस हेतु से ? कृत्स्न का विधान होने से । इतिकर्तव्याविधेर्यजतेः पूर्वत्वम् (=जिस यजति की इतिकर्तव्यता की विधि नहीं कही है वह पूर्ववान् होता है अर्थात् वहां अतिदेश से धर्मों की प्राप्ति होती है) ऐसा कह चुके [मी० ७।४।१] । यह सोम विहित कर्तव्यतावाला है अर्थात् इसकी कृत्स्न इतिकर्तव्यता [प्रकरण में] विहित है । इससे यह अपूर्व है ॥५॥

स्रुगभिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(स्रुगभिघारणाभावस्य) स्रुक् के अभिघारण के अभाव का निर्देश (नित्या-नुवादात्) नित्यानुवाद होने से (च) भी सोमयाग में ऐष्टिक धर्मों की प्रवृत्ति नहीं है ।

विशेष—न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि में अन्तरिक्ष और द्युलोक में

---

१. मी० अ० ७ पा० ४ अ० १ सू० १ ॥

स्रुगभिघारणस्य चाभावानुवादः सोमे भवति—घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्, स्रुचौ बाहू । तस्मात् स्रुचि सोमहविर्नाऽऽसाद्यते । न सोममाज्येनाभिघारयति' इति । तदुपपद्यते, यद्यपूर्वः सोमः । अथ दर्शपूर्णमासप्रकृतिः स्यात् आज्येनाभिघार्य स्रुग्भ्यां हूयते । तत्रैतद् दर्शनं नोपपद्यते । तस्मादपूर्वः ॥६॥

विधिरिति चेत् ॥७॥ (पू०)

इति चेत् पश्यसि, स्रुगभिघारणाभावानुवाददर्शनादपूर्वः सोम इति । अथ

अग्निचयन प्राप्त ही नहीं अतः यह प्रतिषेध नित्यानुवाद है । असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः । द्र०—मी० भाष्य १।२।१८॥

व्याख्या—स्रुगभिघारण के अभाव का अनुवाद भी सोम में होता है । घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन् स्रुचौ बाहू । तस्मात् स्रुचि सोमहविर्नाऽऽसाद्यते । न सोममाज्येनाभिघारयति (=देवों ने घृत को वज्र बनाकर सोम को नष्ट किया दोनों स्रुच् दो बाहू हैं । इससे स्रुच् में सोम हवि का आसादन नहीं होता और न सोम हवि का घृत से अभिघारण करते हैं) । वह उपपन्न होता है यदि सोम अपूर्व है । यदि सोम दर्शपूर्णमास प्रकृति वाला होवे तो [सोम का] आज्य से अभिघारण करके दो स्रुचों से [उसका] होम होवे । उस अवस्था में यह उपपन्न नहीं होता । इससे सोम अपूर्व है ॥६॥

विवरण—स्रुगभिघारणस्य—दर्शपूर्णमासादि में पुरोडाश के जुहू नाम्नी स्रुक् में स्थापन से पूर्व स्रुवा से उपस्तरण किया जाता है । तत्पश्चात् पुरोडाश के अंगुष्ठपर्वमात्र दो भाग जुहू में रखकर स्रुक् का स्रुवा से अभिघारण किया जाता है । अभावानुवादः—सूत्र में नित्यानुवाद शब्द है । नित्यानुवाद का लक्षण मी० १।२।१८ के भाष्य में इस प्रकार दर्शाया है—असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः । स्रुचौ बाहू—आहुति देते समय जुहू स्रुक् के नीचे उपभृत् संज्ञक स्रुक् धारण की जाती है । इनको ही बाहू कहा है । स्रुचि सोमहविर्नाऽऽसाद्यते—जैसे जुहू स्रुक् में आहुति के लिये पुरोडाशादि हवि रखी जाती है तद्वत् सोम का जुहू में आसादन नहीं होता और न सोम हवि का स्रुवा से अभिघारण होता है ॥६॥

विधिरिति चेत् ॥७॥

सूत्रार्थः—दर्शपूर्णमास से स्रुगभिघारण की प्राप्ति होने पर (विधिः) प्रतिषेध विधि (इति चेत्) मानी जाये तो ।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि स्रुक् के अभिघारण के अभाव के अनुवाददर्शन से

---

१. अनुपलब्धमूलम् । मै० संहितायां (३।८।२) तु 'घृत वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन् स्रुचौ बाहू' एतावानेव पाठ उपलभ्यते ।

कस्माद् दर्शपूर्णमासप्रकृतित्वेन प्राप्तस्य स्रुगभिघारणस्य प्रतिषेधकोऽयं विधिर्न भवति ? ॥७॥

इति स्थितायां प्रतिज्ञायां सूत्रेण परिचोदयति—

न वाक्यशेषत्वात् ॥८॥ (उ०)

नायं विधिः। कस्मात् ? वाक्यशेषत्वात्। अन्योऽत्र विधिराम्नातः। यदाह-**अंशुरंशुस्ते देव सोमाऽऽप्यायताम्'** इति। तस्य वाक्यशेषोऽयम्। कथं ज्ञायते? तेनाऽऽकाङ्क्षितत्वात्। **अवधिषुर्वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति। यदस्य स्रुचौ बाहू कुर्वन्ति। यच्चाऽऽज्यमन्तिकमकार्षुः। यदाह—अंशुरंशुस्ते देव सोमाऽऽप्यायताम्** इति। **यदेवास्याघ्नन्तः क्रूरमकुर्वंस्तदाप्याययन्ति**[2] इति। यद्ययमपि विधिः स्याद्

सोम अपूर्व है तो किस हेतु से दर्शपूर्णमास के प्रकृतित्व के कारण प्राप्त स्रुगभिघारण की प्रतिषेधक यह विधि नहीं होती है ? ॥७॥

व्याख्या—ऐसी प्रतिज्ञा के स्थित होने पर सूत्र से उत्तर देते हैं—

न वाक्यशेषत्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(न) प्रतिषेध विधि नहीं है। (वाक्यशेषत्वात्) वाक्यशेष होने से। अर्थात् स्रुगभिघारण के अभावरूप अनुवाद अंशुरंशुस्ते देव सोम आप्यायताम् विधि का वाक्यशेष है। इस कारण यह प्रतिषेध विधि नहीं हो सकती।

व्याख्या—यह [प्रतिषेध] विधि नहीं है। किस हेतु से ? वाक्यशेष होने से। यहां अन्य विधि पढ़ी है—अंशुरंशुस्ते देव सोमाऽऽप्यायताम् (=हे देव सोम तुम्हारा अवयव अवयव आप्यायित होवे=बढ़े)। इस विधि का वाक्यशेष है। कैसे जाना जाता है ? उससे आकाङ्क्षित होने से अर्थात् उसकी आकाङ्क्षा रखने से। अवधिषुर्वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति। यदस्य स्रुचौ बाहू कुर्वन्ति। यच्चाऽऽज्यमन्तिकमकार्षुः। यदाह—अंशुरंशुस्ते देव सोमाऽऽप्यायताम् इति। यदेवास्याघ्नन्तः क्रूरमकुर्वंस्तदाप्याययन्ति (=मारते हैं जो यह सोम का अभिषव करते हैं। जो इसके दोनों स्रुचों को बाहू बनाते हैं और जो आज्य को समीप में रखते हैं। जो यह कहा है—हे देव सोम तुम्हारा अवयव अवयव बढ़े। जो ही इसको मारते हुए क्रूर कर्म किया है उसे आप्यायित करते हैं)। यदि यह (स्रुग-

---

१. मै० सं० ३।८।२॥

२. मै० संहितायां (३।८।२) त्वित्थं पठ्यते—अवधिषुर्वा एतत् सोमं यदस्य स्रुचं चाज्यं चान्तिकमकार्षुर्यदाह अंशुरंशुस्ते देव सोमाप्यायतामिति। यदेवास्य घ्नन्तं क्रूरमक्रस्तदक्रूरमक्रंस्तदाप्यायति। (भाष्यपाठे योऽपपाठ आसीत् तस्य मै० सहितापाठाधारेण शोधनं कृतम्।)

वाक्यं भिद्येत । तस्मान्न विधिः ॥८॥

शङ्कते चानुपोषणात् ॥९॥ (उ०)

सोमे शङ्कते—यदनुपोष्य प्रयायाद् ग्रीवबद्धमेनममुष्मिँल्लोके नेनीयेरन्'[1] इति । दार्शपौर्णमासिके विध्यन्ते सति नियतमुपोषणं स्यात् । तानुपोषणाशङ्का न युज्यते ।[2] तस्मादपूर्वः ॥९॥

भिधारण का अनुवाददर्शन) भी विधि होवे तो वाक्य भेद होवे । इससे [यह प्रतिषेध] विधि नहीं है ॥८॥

विवरण—भाष्यकार ने जो सूत्र ६ तथा इस ८वें सूत्र के भाष्य में वैदिक वचन उद्धृत किये हैं उनका कुछ भाग मै० सं० ३।८।२ में मिलता है कुछ भाग नहीं मिलता । सम्भव है वह मैत्रायणी की किसी अवान्तर शाखा का पाठ हो ॥८॥

शङ्कते चानुपोषणात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(च) और (अनुपोषणात्) वेदि के अनुपोषण से (शङ्कते) शङ्का करता है उससे भी सोम अपूर्व कर्म है ।

विशेष—अनुपोषण तथा तद्विषयक शङ्का भाष्य में देखें ।

व्याख्या—सोम में शङ्का करता है—यदनुपोष्य प्रयायाद् ग्रीवबद्धमेनममुष्मिँल्लोके नेनीयेरन् (=यदि वेदि का प्रदाह विना किये यजमान मर जाये तो ग्रीवा से बन्धे हुए इस यजमान को परलोक में यमभृत्य ले जायें) । दार्शपौर्णमासिक विध्यन्त होने पर [बर्हि का] उपोषण नियमित रूप से होवे । उस स्थिति में अनुपोषण की शङ्का युक्त नहीं होती । इससे सोम अपूर्व है ॥९॥

विवरण—यदनुपोष्य—'न उप ओष्य' उष दाहे ण्यन्त से ल्यप् । एङि पररूपम्(अष्टा० ६।१।९४) इत्यनेन पररूपम् । तै० सं० ३।३।८ में 'यदनुपोष्य' पाठ है । उसमें 'वृद्धिरेचि' (अष्टा० ६।१।८८) से छान्दस वृद्धि जाननी चाहिये । अथवा 'ओकारौकारपर औकारम्' इस तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-वचन से वृद्धि होती है । ग्रीवबद्धम् यहां ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्(अष्टा० ६।३।६३) से पूर्वपद को ह्रस्व हुआ है । नियतमुपोषणम्—दर्शपूर्णमास में कर्म के अन्त में वेदि में आस्तृत बर्हि का अग्नि में प्रक्षेप होता है । दार्शपौर्णमासिक धर्म की सोम में प्रवृत्ति होने पर बर्हि का उपोषण नियमित रूप से होवे उस अवस्था में अनुपोष्य यायात् शङ्का ही उपपन्न नहीं

---

१. तै० सं० ३।३।८।३-४॥ तै० सं० तु 'अनुपोष्य' पाठः ।

२. इतोऽग्रे 'अपूर्वत्वे तु प्रागुपोषणविधानाद् उपोष्यानुपोष्य वा प्रयायात् । तत्रानुपोषणशङ्का युज्यते' इत्यधिकः पाठः । अत्र 'प्रागुपोषणविधानात्' पाठेन भाव्यम् ।

दर्शनम् ऐष्टिकानां स्यात् ॥१०॥ (उ०)

यच्च प्रयाजानुयाजानां दर्शनं लिङ्गत्वेनापदिष्टं[1], तस्यैकशतं प्रयाजानुयाजा इति। तद् दीक्षणीयादीनां सोमाङ्गभूतानां कर्मणां ये प्रयाजानुयाजास्तेषां समुच्चयवचनम्। किं कारणम्? सोमस्यापूर्वत्वात्। तेषां च तावतां तत्राभावात्। अङ्गाङ्गमपि च तस्येति शक्यते वक्तुम्। यथा वाजपेयस्य यूप इति। तस्मादपूर्वः सोमः ॥१०॥

———

होती है। न युज्यते—इससे आगे पूना संस्करण में 'अपूर्वत्वे तु प्रागुपोषणविधानाद् उपोष्यानुपोष्य वा प्रयायात्। तत्रानुपोषणशङ्का युज्यते पाठ अधिक है। इसका भाव है—सोम के अपूर्व होने पर पहले उपोषण के विधान होने से उपोष्य अनुपोष्य वा मरे। इसमें अनुपोषण शङ्का युक्त है। उस पाठ में 'प्रागुपोषणविधानात्' (=पूर्व उपोषण के विधान होने से) पाठ अशुद्ध है। उपोषण का पूर्व विधान होने पर अनुपोषण की शङ्का हो ही नहीं सकती। तथा तै० सं० में पूर्व उपोषण का विधान है ही नहीं। अतः पूना पाठ को स्वीकार करने पर भी प्रागुपोषणाविधानात् पाठ होना चाहिये ॥९॥

दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—जो प्रयाज अनुयाजों का (दर्शनम्) दर्शन कहा है वह (ऐष्टिकानाम्) सोमाङ्गभूत दीक्षणीयादि कर्मों का (स्यात्) होवे।

व्याख्या—और जो प्रयाजों और अनुयाजों का दर्शन लिङ्ग रूप कहा है - तस्यैकशतं प्रयाजानुयाजाः (=उसके एक सौ एक प्रयाज और अनुयाज हैं) वह सोमाङ्गभूत दीक्षणीयादि कर्मों के जो प्रयाज और अनुयाज हैं उनका समुच्चय वचन है। क्या कारण है? सोम के अपूर्व होने से। और उन [प्रयाजानुयाजों] के उतने वहां न होने से। उस [सोम] के अङ्ग [दक्षिणीयादि] के अङ्ग भी कह सकते हैं। जैसे वाजपेय का यूप [व्यवहार होता है]। इससे सोम अपूर्व है ॥१०॥

विवरण—वाजपेयस्य यूपः—यूप वाजपेय के पशुयाग में है, परन्तु उसे जिस प्रकार 'वाजपेय का यूप' कहा जाता है इसी प्रकार सोम के अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों के अङ्गभूत प्रयाज अनुयाज सोम के भी कहे जा सकते हैं ॥१०॥

———

१. 'लिङ्गत्वेनोपदिष्टम्' पाठान्तरम्।

[ऐन्द्राग्नादिषु दार्शपूर्णमासिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥४॥]

इष्टय उदाहरणम्—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः[1] इत्येवमाद्याः। तत्र सन्देहः—किं दार्शपौर्णमासिको वा, सौमिको वा विध्यन्त उत दार्शपौर्णमासिक एवेति ? किं प्राप्तम् ? अनियमः। दर्शपूर्णमासयोरपि विध्यन्तोऽस्ति सोमेऽपि। इमाश्चेष्टयो विध्यन्तापेक्षाः। एकेन च विध्यन्तेन भवितव्यमित्युक्तम्। न च गृह्यतेऽन्यतरनियमे विशेषः। तस्मादनियमः। एवं प्राप्ते उच्यते—

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ॥११॥ (उ०)

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः। हेतुर्नोक्तः प्रज्ञात इति। कः पुनरसौ ? चोदनायां प्रकृतिलिङ्गसंयोगः। किं पुनस्तत् प्रकृतिलिङ्गम् ? तद्धितेन देवतोपदेशः, कपालवत्ता, निर्वपतिशब्दश्च, ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद्[2] इति। इतरत्रापि

व्याख्या—इष्टियां उदाहरण हैं—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः (=प्रजा की कामना वाला इन्द्राग्नीदेवता वाले एकादशकपाल का निर्वाप करे) इत्यादि। उनमें सन्देह होता है—क्या इनमें दर्शपूर्णमास का विध्यन्त होवे वा सोम का विध्यन्त अथवा दर्शपूर्णमास का ही विध्यन्त होवे ? क्या प्राप्त होता है ? अनियम प्राप्त होता है [क्योंकि] दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विध्यन्त भी है और सोमसम्बन्धी भी। ये इष्टियां विध्यन्त की अपेक्षा रखने वाली हैं। एक विध्यन्त को होना चाहिये यह कह चुके। दोनों में से किसी एक के नियम में विशेष नहीं जाना जाता है। इससे अनियम होवे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(इष्टिषु) इष्टियों में (दर्शपूर्णमासयोः) दर्शपूर्णमास के विध्यन्त की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (स्यात्) होवे।

विशेष—इष्टि शब्द से वे कर्म कहे जाते हैं जो अध्वर्यु आग्नीध्र, होता एवं ब्रह्मा चार ऋत्विजों से सम्पाद्यमान तथा सपत्नीक यजमानकर्तृक होते हैं। द्र०—श्रौतपदार्थनिर्वचन, ऐष्टिक पदार्थ, संख्या १।

व्याख्या—इष्टियों में दर्शपूर्णमास [के विध्यन्त] की प्रवृत्ति होवे। हेतु नहीं कहा गया है यतः वह प्रज्ञात (=विज्ञात) है। वह कौनसा है ? चोदना में प्रकृति के लिङ्ग का संयोग। वह प्रकृति का लिङ्ग क्या है ? तद्धित से देवता का उपदेश (=कथन), कपालवत्ता और निर्वपति शब्द—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् (=इन्द्र और अग्निदेवतावाले एकादश-

---

१. तै० सं० २।२।१।१॥ २. द्र०—तै० सं० २।२।१।१॥

तथैव, ऐन्द्राग्नो द्वादशकपाल:[1] इति। निर्वपतिरपि—अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति[2] इति। प्रकृतिलिङ्गेन च विध्यन्तविशेष उक्त:—यस्य लिङ्गमर्थसंयोगाद्[3] इति। तस्माद् दार्शपौर्णमासिकस्तासु विध्यन्त:। तच्च दर्शयति—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति[4] इति। अलिङ्गास्वपि स्थालीपुलाकवत्सिद्धि: ॥११॥

———

[अग्नीषोमीये पशौ दार्शपूर्णमासिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥५॥]

पशावग्नीषोमीये चिन्त्यते—किं दार्शपौर्णमासिको विध्यन्त उत सौमिक इति? किं प्राप्तम्? तथैव पूर्वपक्ष:[5]। तत्रोत्तरमभिधीयते—

कपाल का निर्वाप करे)। अन्यत्र भी वैसे ही है—ऐन्द्राग्नो द्वादशकपाल: (=ऐन्द्राग्न देवतावाला द्वादशकपाल)। 'निर्वपति' भी—अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति (=अग्निहोत्रहवणी से हवियों का निर्वाप करता है। प्रकृति के लिङ्ग से भी विध्यन्त विशेष कहा है—यस्य लिङ्गमर्थसंयोगात् (=जिस आग्नेयादि विध्यन्त का कोई शब्दगत वा अर्थगत विकृति में दिखाई पड़े उसका वह विध्यन्त होवे अर्थ के संयोग से)। इससे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विध्यन्त उन इष्टियों में होता है। और उसे दर्शाता है—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति (=प्रतिप्रयाज एक एक कृष्णल का अग्नि में होम करता है)। जिन विकृतियों में कोई लिङ्ग नहीं है उनमें भी स्थालीपुलाक न्याय की तरह सिद्धि जानी जाती है ॥११॥

विवरण—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्—यह विकृति याग है। इतरत्रापि तथैव—इतरत्र अर्थात् प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास में भी वैसे ही लिङ्ग तद्धित से देवता संयोग और कपालवत्ता कही है। ऐन्द्राग्नो द्वादशकपाल:—यह असान्नाय्ययाजी के दर्शयाग में कहा है। अग्निहोत्रहवण्या—यह पूर्णमास में हविनिर्वाप के प्रकरण में पठित है ॥११॥

———

व्याख्या—अग्नीषोमीय पशु में विचार करते हैं—क्या दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विध्यन्त होवे अथवा सोमसम्बन्धी। क्या प्राप्त होता है? उसी प्रकार पूर्वपक्ष [जानना चाहिये]। उसमें उत्तर देते हैं—

विवरण—सोमयाग में सुत्या से पूर्व दिन (चतुर्थ दिन) अग्नीषोमीय पशु का आलभन होता है। संहिता (शाखा) एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यह अग्नीषोमीय सोमयाग के प्रकरण में पढ़ा

---

१. द्र०—ऐन्द्राग्नो द्वादशकपाल: पुरोडाशो भवति। शत० ११।६।४।३॥
२. आप० श्रौत १।१७।१०॥ ३. मी० ८।१।२॥
४. तै० सं० २।३।२।३॥ ५. 'पूर्व: पक्ष:' पाठान्तरम्।

पशौ च लिङ्गदर्शनात् ॥१२॥ (उ०)

पशौ च लिङ्गदर्शनात्। पशौ च दार्शपौर्णमासिक एव विध्यन्तः। कुतः? लिङ्गदर्शनात्। एकादश प्रयाजान् यजति[1], एकादशानुयाजान्[2] इति। तथा—स्रौचमाघारमाघार्य जुह्वा पशुमनक्ति[3] इति। ननु लिङ्गमपदिष्टं, कुतः प्राप्तिः? चोदनासामान्यात्। किं सामान्यम्? व्यक्तचोदनात्वम्[4]। का व्यक्तिः? द्रव्य-देवतावत्ता, अग्नीषोमीयं पशुम्[5] इति। इतरत्, ऐन्द्रं पयः[6] इति। अव्यक्तचोदनस्तु सोमः ॥१२॥

———

है और यही सब पशुयाग के धर्म आम्नात हैं। यही अग्नीषोमीय पशु अन्य पशुयागों की प्रकृति है। श्रौतसूत्रों में पशुयाग के समस्त धर्म निरूढ पशुबन्ध में पढ़े हैं। यह भेद ध्यान में रखना चाहिये।

पशौ च लिङ्गदर्शनात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(पशौ) पशु में (च) भी (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से दर्शपूर्णमास सम्बन्धी विध्यन्त होता है। [लिङ्गदर्शन भाष्य में देखें]।

व्याख्या—पशु में भी लिङ्गदर्शन से। पशु में भी दार्शपौर्णमासिक ही विध्यन्त होता हैं। किस हेतु से? लिङ्गदर्शन से। एकादश प्रयाजान् यजति एकादशानुयाजान् (=ग्यारह प्रयाजों का यजन करता है, ग्यारह अनुयाजों का)। तथा—स्रौचमाघारमाघार्य जुह्वा पशुमनक्ति (=स्रुक् सम्बन्धी आघार का आघरण करके जुहू से पशु को घृत लगाता है। लिङ्ग का कथन किया है, प्राप्ति किस हेतु से होती है? चोदना सामान्य से। सामान्य क्या है? व्यक्त चोदनात्व। व्यक्ति क्या है? द्रव्यदेवतावत्त्व अर्थात् द्रव्य और देवता का सम्बन्ध—अग्नीषोमीयं पशुम्। [यहां अग्नीषोम देवता और पशु का सम्बन्ध व्यक्त है।] अन्य ऐन्द्रं पयः (=दर्शेष्टि में इन्द्र और पयः द्रव्य का सम्बन्ध है)। सोम अव्यक्त चोदना वाला है ['अग्निष्टोमेन यजेत' इस चोदना में देवता और द्रव्य का सम्बन्ध नहीं कहा है।१२।

———

१. तै० सं० ६।३।७।५॥ २. तै० सं० ६।३।११।६॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्रुच्यमाघार्य प्रत्याक्रम्य जुह्वा पशुं समनक्ति। आप० श्रौत ७।१४।१॥ काशीमुद्रिते भाष्यपुस्तके 'स्रौवम्' इत्यपपाठः।

४. 'व्यक्तचोदनत्वं'—पाठान्तरम्।

५. तै० सं० ६।१।११।६॥ भाष्य एकदेश उद्धृतः।

६. अनुपलब्धमूलम्। शाङ्खा० ५।४॥

[सवनीयादिपशुष्वग्नीषोमीयधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥६॥]

इह पशुबन्धा उदाहरणम्—सवनीयो, निरूढः पशुः, सौम्यादयश्च। तेषु किं दार्शपौर्णमासिको विध्यन्त उत दैक्षस्येति ? दैक्ष इत्यग्नीषोमीय उच्यते, दीक्षासम्बन्धात्। किं प्राप्तम् ? यथोक्तेन न्यायेन दार्शपौर्णमासिक इति। तथा प्राप्ते, उच्यते—

दैक्षस्य चेतरेषु ॥१३॥ (उ०)

दैक्षस्य चेतरेषु पशुषु सवनीयादिष्वग्नीषोमीयस्य विध्यन्तः। आलभतिचोदनासामान्यात्, पशुत्वचोदनासामान्याच्च। तच्च दर्शयति—वपया प्रातःसवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने, अङ्गैस्तृतीयसवने[1] इति वपापुरोडाशाङ्गप्रचारं

व्याख्या—यहां पशुबन्ध उदाहरण हैं- सवनीय, निरूढ पशु, सौम्य आदि। उनमें क्या दर्शपूर्णमास सम्बन्धी विध्यन्त होता है अथवा दैक्ष का ? दैक्ष शब्द से अग्नीषोमीय पशु कहा जाता है दीक्षा के सम्बन्ध से। क्या प्राप्त होता है ? यथोक्त (= पूर्वोक्त)न्याय से दर्शपूर्णमास सम्बन्धी विध्यन्त प्राप्त होता हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—सौम्यादयः—सोम में होने वाला सवनीय पशु। सौम्य शब्द से सोम देवता वाले अन्य पशु का ग्रहण भी हो सकता है। आदि शब्द से अन्य पशुओं का निर्देश जानना चाहिये। दीक्षासम्बन्धेन—सोमयाग के आरम्भ में यजमान दीक्षा ग्रहण करता है। एकादीक्षा पक्ष में तीन दिन उपसद् इष्टियां होती हैं। चतुर्थ दिन अर्थात् तीसरी उपसद् के दिन अग्नीषोमीय पशु का आलभन होता है। इस प्रकार दीक्षा सम्बन्ध से अग्नीषोमीय दैक्ष कहा गया है।

दैक्षस्य चेतरेषु ॥१३॥

सूत्रार्थः—(दैक्षस्य) दीक्षा प्रकरण में होनेवाले अग्नीषोमीय पशु का विध्यन्त (च) भी (इतरेषु) अन्य पशुओ में जानना चाहिये। अर्थात् अग्नीषोमीय पशुयाग इतर पशुयागों की प्रकृति है।

विशेष—यहां उपरि निर्दिष्ट विवरण देखें।

व्याख्या—दैक्ष का भी इतर पशुओं सवनीय आदि में अग्नीषोमीय का विध्यन्त जानना चाहिये। 'आलभति' चोदना के सामान्य से और पशुत्व चोदना के सामान्य से। उसे दर्शाता है—वपया प्रातःसवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने, अङ्गैस्तृतीयसवने(= वपा से प्रातःसवन में यजन होता है,पुरोडाश से माध्यन्दिन में और अङ्गों से तृतीय सवन में) इससे वपा पुरोडाश और अङ्गों का प्रचार दर्शाता है। और कहीं भेद से भी—औदुम्बरो यूपो

---

१. द्र०—मै० सं० ३।९।५॥

दर्शयति। भेदेन च तथा क्वचित्—**औदुम्बरो यूपो भवति**[1] इति यूपं दर्शयति। तस्मादग्नीषोमीयः पशूनां प्रकृतिः ॥१३॥

———

[ऐकादशिनेषु पशुषु सवनीयपशुधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥७॥]

ऐकादशिनाः पशव उदाहरणम्—**कृष्णशीर्ष आग्नेय** इत्यारभ्याऽऽम्नाताः[2]। अन्येषां च—**आग्नेयेन वापयति, मिथुनं सारस्वत्या करोति, प्रजनयति सौम्येन**[3] एति। तेषु सन्देहः। किमग्नीषोमीयविध्यन्त उत सवनीयविध्यन्त इति। किं प्राप्तम्? पूर्वोक्तेन न्यायेनाग्नीषोमीयस्येति प्राप्ते उच्यते—

ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ॥१४॥ (उ०)

भवति (=गूलर का यूप होता है) से यूप को दर्शाता है। इसलिये अग्नीषोमीय पशुओं की प्रकृति है ॥१३॥

———

व्याख्या—एकादशिनी के पशु उदाहरण हैं—कृष्णशीर्ष आग्नेयः से आरम्भ करके आम्नात ११ पशु। अन्यों के भी—आग्नेयेन वापयति, मिथुनं सरस्वत्या करोति, प्रजनयति सौम्येन (=आग्नेय पशु से बीज का वपन कराता है, सारस्वती मेषी के साथ मिथुन करता है, सौम्य पशु से प्रजा उत्पन्न करता है)। इनमें सन्देह है। क्या इनमें अग्नीषोमीय पशु का विध्यन्त होवे अथवा सवनीय पशु का विध्यन्त होवे। क्या प्राप्त है? पूर्वोक्त न्याय से अग्नीषोमीय का विध्यन्त होवे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(ऐकादशिनेषु) एकादशिनी के पशुओं में (सौत्यस्य) सुत्या (=सोमाभिषव) के दिन होनेवाले सवनीय पशु के विध्यन्त होवें (द्वैरशनी) दो रशनात्व (अस्य) इसके (दर्शनात्) दर्शन से।

---

१. तै० सं० २।१।१।६॥

२. स्वल्पभेदेन—१ कृष्णशीर्षाग्नेयो, २ मेषी सारस्वती, ३ बभ्रुः सौम्यः, ४ श्यामः पौष्णः, ५ शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः, ६ पिशङ्गो वैश्वदेवो, ७ वृष्णिरैन्द्रः, ८ कल्माषो मारुतः, ९ संहित ऐन्द्राग्नो, १० अधोरामः सावित्रः, ११ पैलो वारुणः॥ मै० सं० ४।७।८॥

३. द्र०—आग्नेयेन वापयति मिथुनं सरस्वत्या करोति रेतः सौम्येन दधाति प्रजनयति। तै० सं० ६।६।५।१-२॥

ऐकादशिनेषु सौत्यस्य। सौत्य इति सुत्याकालत्वात् सवनीयमाहुः। तदीयो विध्यन्त ऐकादशिनेषु। कुतः? द्वैरशन्यस्य दर्शनात्। 'अग्निष्ठाद् द्वे द्वे रशने आदाय द्वाभ्यां रशनाभ्यामेकैकं यूपं परिव्ययति' इति। अग्नीषोमीप्रकृतित्वे एकैक-रशन्यं स्यात्। अथ वचनमिदं कस्मान्न भवति? अग्निष्ठाद् द्वे द्वे रशने आदाये-त्येतदत्र विधीयते। यदि रशनाद् द्वित्वमपि विधीयते तदा वाक्यं भिद्यते। तस्मात् तदनूद्यते। ननु लिङ्गमपदिष्टं, कुतः प्राप्तिः? उच्यते। समाने पशुत्वे सुत्या-कालता वैशेषिकं लिङ्गम्। ततः प्राप्तिः ॥१४॥

———

व्याख्या—ऐकादशिन पशुओं में सौत्य का विध्यन्त होवे। सौत्य यह सुत्याकाल होने से सवनीय को कहते हैं। उनका विध्यन्त ऐकादशिन पशुओं में होवे। किस हेतु से? इसके (=ऐकादशिन पशुओं के) द्विरशनावाला देखे जाने से। अग्निष्ठाद् द्वे द्वे रशने आदाय द्वाभ्यां रशनाभ्यामेकैकं यूपं परिव्ययति (=अग्निष्ठ यूप से दो रशनाएं लेकर दो रशनाओं से एक एक यूप का परिव्ययण करता है)। अग्नीषोमीय प्रकृति होने पर एक एक रशना वाला होवे। (आक्षेप) अच्छा तो यह वचन क्यों नहीं होता? (समाधान) अग्निष्ठाद् द्वे द्वे रशने आदाय यह यहां विधान किया है। यदि रशनाद्वित्व का भी विधान करें तो वाक्यभेद होवे। इसलिये उस (=रशनाद्वित्व) का अनुकथन किया जाता है। (आक्षेप) आपने लिङ्ग का कथन किया है, प्राप्त कैसे होती है? (समाधान) समान पशुत्व होने पर सुत्याकालता विशिष्ट लिङ्ग है। अर्थात् सभी ११ पशुओं का सुत्या के दिन ही आलभन विशिष्ट लिङ्ग है। उससे प्राप्ति होती है ॥१४॥

विवरण—द्वैरशन्यस्य दर्शनात्—ऐकादशिन पशुओं के द्विरशनावाले होने से। कुतूहल-वृत्ति में कहा है—ऐकादशिन पशुओं के दो रशना वाले होने से द्विरशना यूपा भवन्ति (=दो रशनावाले यूप होते हैं)। अग्निष्ठाद् द्वे द्वे रशने आदाय—अग्निष्ठ यूप का पहले तक्षणादि कर्म होता है। उसमें सभी पशुओं की रशनाएं लपेट दी जाती हैं। प्रति यूप पशु को बांधने से पूर्व अग्निष्ठ यूप में लपेटी हुई रशनाओं में से दो दो रशनाएं प्रत्येक यूप में लपेटी जाती हैं। सवनीय पशु के लिये भी दो रशनाएं कही हैं—त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं पशुमुपाकरोति। आप० श्रौत १२।१८।१२॥ इस पर रुद्रदत्त की व्याख्या—पूर्वरशनामुत्क्षिप्य त्रिवृतान्यया परि-व्ययति, न तु तामेवादाय, पुनस्त्रिवृतवचनात्—अर्थात् पूर्व जो यूप में त्रिवृत रशना लपेटी गई थी उसको हटाकर अन्य त्रिवृत रशना से यूप को लपेटता है। न कि उसी पूर्व रशना को लेकर, पुनः त्रिवृत वचन से अर्थात् पूर्व रशना त्रिवृत थी ही यदि उसी से लपेटना होता तो पुनः त्रिवृत कहना व्यर्थ होता ॥१४॥

१. अनुपलब्धमूलम्।

[पशुगणेष्वैकादशिनधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥८॥]

इह पशुगणा उदाहरणम्—**वसन्ते ललामांस्त्रीन् वृषभान् आलभते**[1]। तथा—**मैत्रं श्वेतमालभते, वारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च सन्धावन्नकामः**[2] इति। तत्र विचार्यते—किमग्नीषोमीयस्य विध्यन्त उतैकादशिनानामिति? यथोक्तेन न्यायेनाग्नीषोमीयस्य। एवं प्राप्त उच्यते—

तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात् प्रतिपशु यूपदर्शनात् ॥१५॥ (उ०)

तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात्। तेषामेकादशिनानां प्रवृत्तिः पशुगणेषु स्यात्। कुतः? प्रतिपशु यूपदर्शनात्। **यत् त्रिषु यूपेष्वालभेत बहिर्धाऽस्मादिन्द्रियं वीर्यं दध्यात्, भ्रातृव्यमस्य जनयेदेकयूप आलभेत**[3] इति यूपत्रित्वं प्रतिषिध्यैकं यूपं सौत्रामण्यां विदधाति। तदुपपद्यते, यदि ऐकादशिनविध्यन्तः। तत्र हि प्रतिपशु यूपाः। अग्नी-

---

व्याख्या—यहां पशुगण उदाहरण हैं—वसन्ते ललामांस्त्रीन् वृषभान् आलभते (=वसन्त में तीन ललाम वृषभों का आलभन करे)। तथा—मैत्रं श्वेतमालभते, वारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च सन्धावन्नकामः (=अन्नकाम पुरुष मित्रदेवता वाले श्वेत पशु का आलभन करे वरुण देवता वाले कृष्ण पशु का, जलों और ओषधियों की सन्धि में)। इस में विचार करते हैं—क्या इन में अग्नीषोमीय पशु का विध्यन्त होवे अथवा ऐकादशिनियों का? यथोक्त न्याय से अग्निषोमीय का विध्यन्त होवे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण ललामांस्त्रीन्—श्वेत पुण्ड्रवाल के चिह्नों से युक्त पशु ललाम कहा जाता है।

तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात् प्रतिपशु यूपदर्शनात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(गणेषु) पशुगणों में (तत्प्रवृत्तिः) ऐकादशिन की प्रवृत्ति (स्यात्) होवे। (प्रतिपशु) प्रति पशु (यूपदर्शनात्) यूप के दर्शन से।

व्याख्या—उस (=ऐकादशिन) की प्रवृत्ति गणों में होवे। उन ऐकादशिनों के वि यन्त की प्रवृत्ति पशुगणों में होवे। किस हेतु से? प्रतिपशु यूप के दर्शन से। यत् त्रिषु यूपेष्वालभेत बहिर्धाऽस्मादिन्द्रियं वीर्यं दध्यात् भ्रातृव्यमस्य जनयेदेकयूपे आलभेत (=जो तीन यूपों में आलभन करे उस से इन्द्रिय वीर्य को करे, इस के भ्रातृव्य को उत्पन्न करे यदि एक यूप में आलभन करे)। इस से तीन यूपों का प्रतिषेध करके एक यूप का सौत्रामणि में विधान करता है। वह उपपन्न होता है यदि ऐकादशिनों का विध्यन्त होवे। वहां (= ऐकादशिनों में) प्रति

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वसन्ता प्रातस्त्रीन् ललामानालभेत। तै० सं० २।१।४।१॥

२. तै० सं० २।१।६।२॥

३. अतिस्वल्पभेदेन तै० ब्रा० १।८।६।१॥

षोमीयप्रकृतित्व एक एव यूपः स्यात्। तत्रैतन्नोपपद्यते। तस्माद् ऐकादशिनानां विध्यन्तः पशुगणेषु ॥१५॥

———

[अव्यक्तयागेषूद्भिदादषु सौमिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥६॥]

इदं श्रूयते—अभिजिता यजेत[1], विश्वजिता यजेत[2] इत्येवंजातीयका यजतयः। तेषु विध्यन्तचिन्ता—किमेषु सौमिको विध्यन्त उत दार्शपौर्णमासिक इति ? अविशेषादनियमे प्राप्ते उच्यते—

अव्यक्तासु तु सोमस्य ॥१६॥ (उ०)

पशु यूप है। अग्नीषोमीय प्रकृतित्व होने पर एक ही यूप होवे। वहां यह (=त्रित्वप्रतिषेध) उपपन्न नहीं होता। इससे ऐकादशिनों का विध्यन्त पशुगणों में होवे ॥१५॥

विवरण—यूपत्रित्वं प्रतिषिध्य तीन ललामों के लिये तीन यूपों का प्रतिषेध यत् त्रिषु यूपेष्वालभते वाक्य में कहकर एक यूप का विधान किया है। तीन ललामों के लिये तीन यूपों की प्राप्ति ऐकादशिन की विध्यन्त प्राप्त होने पर ही होती है क्योंकि वहां प्रति पशु यूप कहा है। अग्नीषोमीयप्रकृतित्वे—पशुगणों में अग्नीषोमीय विध्यन्त की प्रवृत्ति होने पर एक यूप की ही प्राप्ति होगी क्योंकि अग्नीषोमीय में एक ही यूप है। उस अवस्था में तीन यूपों का प्रतिषेध उपपन्न नहीं होगा ॥१५॥

———

व्याख्या—यह सुना जाता है-अभिजिता यजेत (=अभिजित् से यजन करे), विश्वजिता यजेत (=विश्वजित् से यजन करे) इत्यादि यजतियां। उनमें विध्यन्त की चिन्ता होती है—क्या इन में सौमिक विध्यन्त होवे अथवा दर्शपूर्णमास का ? विशेष श्रुत न होने से अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—

अव्यक्तासु तु सोमस्य ॥१६॥

सूत्रार्थः—(अव्यक्तासु) अव्यक्त चोदनाओं में (तु) तो (सोमस्य) सोम का विध्यन्त होवे।

---

१. तै० सं० ५।६।५।१॥ द्र०- ताण्डय ब्रा० १६।८।४—अभिजिता वै देवा इमान् लोकान् अभ्यजयन्।

२ अनुपलब्धमूलम्। द्र० –तृतीये संवत्सरेऽभिजिता यजेत विश्वजिता वा यजेत सर्ववेदसं दक्षिणा। आप० श्रौत १७।२६।१२,१३॥; ताण्डय ब्रा० १६।८।४—विश्वजिता विश्वमजयन्।

अव्यक्तासु तु सोमस्य। काऽव्यक्तता? द्रव्यदेवतस्याभावः। द्रव्यदेवतेन हि यागोऽभिव्यज्यते। एताश्चाद्रव्यदेवतादचोदनाः, **अभिजिता यजेत**' इति। एतास्वव्यक्तासु सौमिको विध्यन्तः स्यात्। कुतः? अव्यक्तसामान्यात्। सोमोऽप्यव्यक्तचोदनः। **ज्योतिष्टोमेन यजेत**[1] इति। ननु, **सोमेन यजेत**[2] इत्येषा व्यक्तचोदना। तथाऽपि देवताया अभावादव्यक्तता। तथा च, **दूणाशेन**[3] **यजेत**[4] इत्यव्यक्तचोदिते, दीक्षणीयादीनि सोमाङ्गानि दर्शयति—**दीक्षणीयायां द्वादशमानं हिरण्यं दक्षिणा, चतुर्विंशतिमानं प्रायणीयायाम्**[5] इति। तस्मात् तासु सौमिको विध्यन्तः॥१६

———

व्याख्या—अव्यक्त चोदनाओं में तो सोम का विध्यन्त होवे। अव्यक्तता क्या है? द्रव्य देवता का अभाव। द्रव्य और देवता से ही याग अभिव्यक्त होता है। ये चोदनाएं द्रव्य और देवता से रहित हैं—अभिजिता यजेत। इन अव्यक्त चोदनाओं में सौमिक विध्यन्त होवे। किस हेतु से? अव्यक्तत्व के सामान्य से। सोम भी अव्यक्त चोदना वाला है ज्योतिष्टोमेन यजेत। (आक्षेप) सोमेन यजेत यह व्यक्त चोदना है। (समाधान) तथापि देवता के अभाव से अव्यक्तता है तथा दूणाशेन यजेत (=दूणाश नाम के याग से यजन करे) इस अव्यक्त चोदना वाले याग में दीक्षणीयादि सोमाङ्गों को दर्शाता है—दीक्षणीयायां द्वादशमानं हिरण्यं दक्षिणा (=दीक्षणीयेष्टि में द्वादशमान हिरण्य दक्षिणा होती है), चतुर्विंशतिमानं प्रायणीयायाम् (=चतुर्विंशतिमान हिरण्य दक्षिणा प्रायणीयेष्टि में होती है)। इस लिये उन अव्यक्त चोदना वाले यागों में सौमिक विध्यन्त होता है॥१६॥

विवरण—**व्यक्तचोदना**—सोम द्रव्य के श्रुत होने से पूर्वपक्षी ने इसे व्यक्त चोदना कहा है। सिद्धान्ती सोमद्रव्य के श्रुत होने पर भी देवता के अभाव से अव्यक्तता दर्शाता है। **दूणाशेन यजेत**—दूणाश याग का दूसरा नाम 'बहुहिरण्य' है (द्र०—कात्या० श्रौत २२।८।२५)। पुणे

---

१. द्र०—वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।५॥

२. द्र०—य एवं विद्वान् सोमेन यजते। तै० सं० ३।२।२।३॥

३. पुणेमुद्रिते संस्करणे सम्पादकेन टिप्पण्यां 'दूणाशेन इति पाठो लिखिते मुद्रिते च दृश्यते' इत्युक्त्वाऽत्र 'श्येनेन' इत्येवं पाठः शोधितः। स तूत्तरवाक्याननुकूलः। उद्धृतोद्धरणं तु दूणाशयाग एवोपलभ्यते।

४. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—द्विनामोत्तरो बहुहिरण्यो दूणाशश्च। कात्या० श्रौत २२।८।२५॥

५. अनुपलब्धमूलम्। दीक्षणीयायां हिरण्यं द्वादशमानं ददाति, उत्तरेषु च द्विगुणं पूर्वं पूर्वम्, प्रायणीयाऽऽतिथ्योपसत्सु। कात्या० श्रौत २२।६।१,२,३॥ तथा द्र०—आप० श्रौत २२।६।२०॥

[अहर्गणेषु द्वादशाहिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१०॥]

इह अहर्गणा उदाहरणम्—द्विरात्रादयः शतरात्रपर्यन्ताः। तेषु सन्देहः—किं ज्यौतिष्टोमिको विध्यन्त उत द्वादशाहिक इति ? पूर्वेण न्यायेन सौमिके प्राप्ते, उच्यते—

गणेषु द्वादशाहस्य ॥१७॥ (उ०)

गणेषु द्वादशाहिको विध्यन्त इति। कुतः ? चोदनासामान्यात्। द्वादशाहेन यजेत[2], द्विरात्रेण यजेत[3] इति। अहःशब्दोऽप्यहोरात्रवचनः, रात्रिशब्दोऽपि। एत-

---

मुद्रित संस्करण के सम्पादक ने टिप्पणी में 'दूणाशेन इति पाठो लिखिते मुद्रिते च दृश्यते' ऐसा लिखकर मूल भाष्य में 'दूणाशेन' के स्थान पर 'श्येनेन' पाठ छापा है। यह उत्तरभाष्य से विपरीत है वहां जो उद्धरण दिया है वय दूणाशयागसम्बन्धी है न कि श्येनयागसम्बन्धी। आपस्तम्ब में इस याग का 'बहुहिरण्य' नाम से उल्लेख होने से सम्पादक को 'दूणाश' नामान्तर का ज्ञान न होने से उसने लिखित और मुद्रित पाठ की उपेक्षा करके मनमाना संशोधन किया है। द्वादशमानं हिरण्यं दक्षिणा —'मीयते हिरण्यादिकं येन तन्मानम्' जिस परिमाण से बनिये हिरण्य आदि तोलते हैं वह यहां 'मान' कहा गया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५।२१।१० में स्पष्ट कहा है—येन हिरण्यं मिमीते तेन मीत्वा ददाति। वह मान क्या है? इसका उल्लेख रुद्रदत्त ने नहीं दर्शाया। धूर्तस्वामी ने—आद्यमानं गुञ्जिका। केचिद् वटबीजम् लिखा है। गुञ्जिका= गुञ्जा=रत्ती अथवा बड़ का बीज। हमारे विचार में मान शब्द का गुञ्जा=रत्ती अर्थ मानना ही उचित है ॥१६॥

व्याख्या—यहां अहर्गण उदाहरण हैं—द्विरात्र से लेकर शतरात्र पर्यन्त। उनमें सन्देह होता है—क्या इनमें ज्योतिष्टोमसम्बन्धी विध्यन्त होवे अथवा द्वादशाहसम्बन्धी ? पूर्व न्याय से सौमिक विध्यन्त के प्राप्त होने पर कहते हैं—

गणेषु द्वादशाहस्य ॥१७॥

सूत्रार्थः—(गणेषु) अहर्गणों में (द्वादशाहस्य) द्वादशाह का विध्यन्त होवे ॥

व्याख्या—गणों में द्वादशाहसम्बन्धी विध्यन्त होवे। किस हेतु से ? चोदना के समान होने से द्वादशाहेन यजेत (=द्वादशाह से यजन करे), द्विरात्रेण यजेत (=द्विरात्र से यजन करे)। अहः शब्द भी अहोरात्र का वाचक है, रात्रि शब्द भी। यह शब्दगत लिङ्ग है

---

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—द्वादशरात्रेण यजेत। तै० सं० ७।२।६।१॥
३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सत्या० श्रौत १७।६।१॥

च्छब्दगतं लिङ्गम्, अर्थगतमपि गणत्वम् । गण एव सङ्घातधर्मेर्गणमनुग्रहीतुं समर्थो न एकाहः । **द्वाभ्यां लोमावद्यति, [द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्] द्वाभ्यां मांसम्**[1] इत्येतदारभ्य द्वादशोपसत्त्वं द्वादशाहिकं धर्मं गवामयने दर्शयति[2] । तस्मादहर्गणानां द्वादशाहः प्रकृतिः ॥१७॥

———

[संवत्सरसत्रेषु गावामयनिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥११॥]

इह संवत्सरसत्राण्युदाहरणम्—आदित्यानामयनप्रभृतीनि । तेषु चिन्ता—किं द्वादशाहिको विध्यन्त उत गवामयनिक इति । पूर्वोक्तेन न्यायेन द्वादशाहिके प्राप्तेऽभिधीयते—

गव्यस्य च तदादिषु ॥१८॥ (उ०)

और अर्थगत गणत्व लिङ्ग है । गण ही सङ्घात धर्मों से गण को अनुगृहीत करने में समर्थ है, एकाह (=एक दिन में होनेवाला ज्योतिष्टोम) [अनुगृहीत करने में समर्थ] नहीं है । द्वाभ्यां लोमावद्यति [द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्] द्वाभ्यां मांसम् (=दो से लोमों को काटता है, दो से त्वचा को, दो से रुधिर को, दो से मांस को) इत्यादि से आरम्भ करके द्वादशोपसत्त्व जो द्वादशाह का धर्म है उसको गवामयन में दर्शाता है । इससे अहर्गणों की द्वादशाह प्रकृति है ॥१७॥

विवरण—द्वादशाहिकं धर्मं गवामयने दर्शयति—इस विषय में मी० ७।४।१४ का भाष्य द्रष्टव्य है । गवामयन भी १८०+१+१८० संख्याक अहर्गण ही है । द्वादशाह के १२ दिनों के प्रत्येक दिन के कर्तव्य कर्म का चित्र मी० ८।३।३ भाष्य व्याख्या में देखें ॥१७॥

———

व्याख्या—यहां संवत्सरसत्र उदाहरण है—आदित्यानामयन आदि । उनमें विचार किया जाता है—क्या उनमें द्वादशाहिक विध्यन्त होवे अथवा गवामयनसम्बन्धी । पूर्वोक्त न्याय से द्वादशाहिक विध्यन्त प्राप्त होने पर कहते हैं—

गव्यस्य च तदादिषु ॥१८॥

सूत्रार्थः—(च) और (गव्यस्य) गवामयन का विध्यन्त (तदादिषु) वह संवत्सर में

---

१. द्र०—द्वाभ्यां लोमावद्यति, द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्, द्वाभ्यां मांसम् । तै० सं० ७।४।६।१॥

२. द्र०—मी० ७।४।१४ सूत्रभाष्यम् ।

गव्यस्य च तदादिषु । गव्यमिति, गवामयनं ब्रूमः । गोसम्बन्धात् । **गावो वा एतत् सत्रमासत**[1] इति । तस्य विध्यन्तस्तदादिषु संवत्सरसत्रेषु स्यात् । कुतः ? संवत्सरसामान्यात् । **पत्नय उपगायन्ति**[2] इति च माहाव्रतिकं धर्मं संवत्सरसत्रे दर्शयति । **ऋत्विज उपगायन्ति**[3] इति च सहस्रसंवत्सरे ॥१८॥

[निकायिनामुत्तरेषु पूर्वनिकायिधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१२॥]

निकाय इति सङ्घात औत्तराधर्येणावस्थित उच्यते । स येषां ते निकायिनः । यथा—साहस्राः, साद्यस्क्राः । तेषां पूर्वस्य केचिद् धर्मा आम्नाताः, उत्तरे त्वधर्मकाः । तत्र चिन्त्यते—किं ज्योतिष्टोमस्य विध्यन्त उत प्रथमस्य निकायिन

समाप्य गवामयन जिन संवत्सर सत्रों का आदि में है उनमें होवे । ['गव्य' शब्द के विषय में आगे विवरण में देखें ।]

व्याख्या—गव्य का तदादि में विध्यन्त होवे । 'गव्य' से गवामयन को कहते हैं, गो-सम्बन्ध से । गावो वा एतत् सत्रमासत (=गौवों ने इस सत्र को किया) । उस (=गवामयन का विध्यन्त तदादि संवत्सर सत्रों में होवे । किस हेतु से ? संवत्सर सामान्य से । पत्नय उपगायन्ति (=पत्नियां गान करती हैं) यह भी महाव्रतसम्बन्धी धर्म संवत्सर सत्र में दर्शाता है [कि उनमें गवामयनसम्बन्धी विध्यन्त होता है] । ऋत्विज उपगायन्ति (=ऋत्विक् उपगान करते हैं) यह भी संवत्सर सत्र में दर्शाता है ॥१८॥

विवरण—गव्यमिति गवामयनं ब्रूमः, गोसम्बन्धात्—'गवामयन' शब्द का अर्थ है—गौवों का अयन । अतः गो शब्द से तस्येदम् (अष्टा० ४।३।१२०) से उत्सर्ग अण् की प्राप्ति होने पर सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् (वार्तिक ४।१।८५ सूत्रस्थ) से यत् प्रत्यय होता हैं ॥१८॥

व्याख्या—निकाय यह जो सङ्घात औत्तराधर्यरूप (=ऊपर नीचे रूप) से अवस्थित होता है, वह कहा जाता है । वह निकाय जिनका है वे निकायी कहाते हैं । जैसे—साहस्राः,साद्यस्क्राः [ये याग विशेषों के नाम हैं] । उनमें पूर्व (=प्रथम) के कुछ धर्म पठित हैं, उत्तर धर्मरहित हैं । उनमें विचार किया जाता है—क्या [उत्तरों में] ज्योतिष्टोम का विध्यन्त होवे अथवा

---

१. द्र० गावो वै सत्रमासत । ऐ० ब्रा० ४।१७॥
२. तै० सं० ७।५।८।३॥
३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सर्वे सहर्त्विजो महाव्रतेन स्तुवीरन् । ताण्ड्य ब्रा० ५।६।१॥

इति ? अव्यक्तचोदनत्वाज्ज्योतिष्टोमस्य इति प्राप्ते उच्यते—

निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ॥१९॥ (उ०)

निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् । कुतः ? निकायित्वसामान्यात् । साहस्राणां साहस्रसामान्यात् । साद्यस्क्राणां साद्यस्क्रसामान्यात् ।[1] एवं सर्वत्र । पूर्वस्मिंश्च साहस्रे सहस्रं दक्षिणामाम्नायोत्तरस्मिन् दर्शयति—**यावदस्य साहस्रस्योत्तरा गौः समाहिता भवति, तावदस्माल्लोकादसौ लोकः**[2] इति । तथा पूर्वस्मिन् साद्यस्क्रे—**साण्डस्त्रिसंवत्सरः सोमक्रयणः स्पर्धमानानाम्**[3] इत्याम्नायोत्तरस्मिन्नपि

पूर्व निकायियों का । अव्यक्त चोदना होने से ज्योतिष्टोम का विध्यन्त होवे । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(निकायिनाम्) निकायियों में (च) भी (पूर्वस्य) पूर्व=प्रथम के विध्यन्त की (उत्तरेषु) उत्तरों में (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (स्यात्) होवे ।

विशेष—निकाय शब्द में उपसमाधान (औत्तराधर्य रूप से राशीकरण) अर्थ में निपूर्वक चिञ् चयने से घञ् प्रत्यय होता है और धातु के आदि चकार को ककार हो जाता है । द्र०—निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (अष्टा० ३।३।४१) ।

व्याख्या—निकायियों में भी पूर्व के विध्यन्त की उत्तरों में प्रवृत्ति होवे । किस हेतु से ? निकायित्व सामान्य से । साहस्रों की साहस्र सामान्य से, साद्यस्क्रों की साद्यस्क्र सामान्य से । इसी प्रकार सर्वत्र जानें । पूर्व साहस्र याग में सहस्र दक्षिणा का कथन करके उत्तर साहस्र में दर्शाता है—यावदस्य साहस्रस्योत्तरा गौः समाहिता भवति तावदस्माल्लोकादसौ लोकः (=जितनी इस साहस्र की उत्तर=ऊपर की गौ [ऊंची] स्थित होती है उतना इस लोक से वह लोक उत्तर है) । तथा पूर्व साद्यस्क्र में—साण्डस्त्रिसंवत्सरः सोमक्रयणः स्पर्धमानानाम् (=साण्ड=अण्डकोषसहित तीन संवत्सर वाला सोम क्रयण होता है स्पर्धा करने वालों का) । ऐसा कथन करके उत्तर साद्यस्क्र में भी उसे ही दर्शाता है—

---

१. 'साद्यस्क्रधर्मसामान्यात्' इति पाठान्तरम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यावद् वै सहस्रं गाव उत्तराधरा इत्याहुस्तावदस्मात् लोकात् स्वर्गो लोकः । ताण्ड्य ब्रा० १६।८।६॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—त्रिवत्सः साण्डः सोमक्रयणः सेन्द्रत्वाय । ताण्ड्य ब्रा० १६।१३।९॥ त्रिवत्सः साण्डः सोमक्रयणः । आप० श्रौत २२।२।२५॥

तमेव दर्शयति– **स्त्रीगौः सोमक्रयणी व्यावृत्ता ह्येषां स्पर्धिता**[1] इति। तस्मात् पूर्वस्योत्तरेषु धर्माः ॥१९॥

———

[फलादीनामनतिदेशाधिकरणम् ॥१३॥]

इह फलनियमकर्तृसमुदाया उदाहरणम्। फलं स्वर्गः, नियमो यावज्जीविकोऽभ्यासः, कर्त्ता स्वर्गकामः, समुदायो दर्शपूर्णमासाविति। तत्र चिन्त्यते—किं फलनियमकर्तृसमुदायानां सौर्यादिषु प्रवृत्तिः, नेति? किं प्राप्तम्? **इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः**, इत्यनेन न्यायेन प्रवृत्तिरिति प्राप्तम्। तथा प्राप्त उच्यते—

स्त्रीगौः सोमक्रयणी व्यावृत्ता ह्येषां स्पर्धिता (=स्त्री अपत्य वाली गौ सोमक्रयणी होती है, उनकी स्पर्धिता निवृत्त हो गई है)। इससे पूर्व के धर्म उत्तरों में होते हैं ॥१९॥

विवरण- यावदस्य साहस्रस्य—ताण्ड्य ब्रा० १६।८।६ में पाठ है-यावद् वै सहस्रं गाव उत्तराधरा इत्याहुस्तावदस्मात् लोकात् स्वर्गो लोकः—इसका सायणाचार्य के अनुसार भाव है—सहस्रसंख्याक गायें उत्तराधर=अन्योन्य के ऊपर रूप से अवस्थित जितनी ऊंची होती उतना इस लोक से स्वर्गलोक है। इसकी सहस्र गायें दक्षिणा है। साण्डस्त्रिसंवत्सरः—ताण्ड्य ब्रा० ६।१३.९ मे त्रिवत्सः साण्डः सोमक्रयणः सेन्द्रत्वायं पाठ है। इसके भाष्य में सायणाचार्य ने लाट्या० श्रौतसूत्र ८।३।८-११ के अनुसार त्रिवत्सः के तीन अर्थ किये हैं—(१) तीसरे वर्ष की समाप्ति में कुछ शेष कालवाला त्रिवत्स कहाता है (२) जो बछड़ा तीन गायों का दूध पीता हो वह तीन का वत्स होने से त्रिवत्स कहाता है। (३) अथवा वत्सर पद के अन्त्य रेफ का लोप होने से तीन वर्ष का वत्स त्रिवत्स कहाता है। स्त्रीगौः स्त्र्यपत्या गौः स्त्रीगौः अर्थात् बछड़ीवाली गाय ॥१९॥

———

व्याख्या—यहां फल, नियम, कर्त्ता, और [आग्नेयादि] समुदाय उदाहरण हैं। फल स्वर्ग, नियम—यावज्जीवन [दर्शपूर्णमास का] अभ्यास, कर्त्ता—स्वर्गकाम और समुदाय—दर्शपूर्णमास [गत आग्नेयादि याग]। इनके विषय में विचार किया जाता है—क्या फल नियम कर्त्ता और समुदायों का सौर्यादि इष्टियों में प्रवृत्ति होती है या नहीं? क्या प्राप्त होता है? इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः (= इष्टियों में दर्शपूर्णमास के विध्यन्त की प्रवृत्ति होती है)। इस न्याय से प्रवृत्ति होती है यह प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्त्रीगौः सोमक्रयणी। आप० श्रौत २२।४।६॥

कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात् फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्-
बन्धनत्वात् ॥२०॥ (उ०)

फलनियमकर्तृसमुदायस्याप्रवृत्तिः । कुतः ? कर्मणोऽप्रवृत्तित्वात् । तद्-

---

विवरण—सौर्यादि इष्टियों की पूर्ति के लिये जैसे दर्शपूर्णमास के विध्यन्त को स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार दर्शपूर्णमास से सम्बद्ध फल-स्वर्ग, नियम—यावज्जीवन दर्शपूर्णमास करते रहना, कर्त्ता—स्वर्ग की कामनावाला तथा आग्नेयादि यागों का समुदाय इन सबकी प्रवृत्ति होनी चाहिये । अर्थात् सौर्यादि याग के साथ फल-स्वर्ग, नियम—यावज्जीवन अभ्यास, कर्त्ता—स्वर्ग की कामना वाला तथा आग्नेयादि याग समुदाय की प्रवृत्ति भी होनी चाहिये । तात्पर्य यह है कि स्वर्ग की कामनावाला स्वर्गरूपी फल प्राप्ति के लिये आग्नेयादि याग समुदाय का सौर्यादि याग करनेवाला यावज्जीवन करता रहे ।

कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात् फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—सौर्ययागादि में (कर्मणः) दर्शपूर्णमास के प्रधान कर्म की आकाङ्क्षा न होने से (अप्रवृत्तित्वात्) दर्शपूर्णमास की प्रवृत्ति न होने से (फलनियमकर्तृसमुदायस्य) फल नियम कर्त्ता समुदाय का (तद्बन्धनत्वात्) प्रकृतियाग के साथ बन्धन होने से सौर्यादि याग में (अनन्वयः) अन्वय (=सम्बन्ध) नहीं होता है ।

विशेष—'तद्बन्धनत्वात्' के स्थान में 'तत्सम्बन्धात्' पाठान्तर है । अर्थ में भेद नहीं होता ।

सूत्रार्थ-स्पष्टीकरण—प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस नियम से जैसे दर्शपूर्णमास के विध्यन्तों का अतिदेश होता है, उसी प्रकार **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**—में उक्त स्वर्ग-रूपी फल, स्वर्ग की कामनावाला कर्त्ता तथा **यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** से यावज्जीवन करने का नियम तथा आग्नेयादि याग समुदाय इनका अतिदेश नहीं होता है । क्योंकि इनका सम्बन्ध दर्शपूर्णमास के साथ ही है । तथा **सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः** में सौर्य याग का फल—ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति, कर्त्ता—ब्रह्मवर्चस की कामनावाला उक्त है अतः इस याग को इनकी आकाङ्क्षा ही नहीं है तथा यावज्जीवन कर्तव्य नियम भी क्रतु=दर्शपूर्णमास का धर्म नहीं है अपितु पुरुषधर्म है, यह द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के सूत्र १-७ में कह चुके हैं अतः नियम की प्राप्ति भी नहीं होगी । आग्नेयादि याग समुदाय भी दर्शपूर्णमास के साथ ही सम्बद्ध होने से समुदाय का भी अतिदेश नहीं होगा । वस्तुतः स्वर्गादि फल स्वर्ग कामनावाला कर्त्ता और आग्नेयादि याग समुदाय ये दर्शपूर्णमास के साथ से ही सम्बद्ध हैं । सौर्यादि यागों को तो केवल **कथं कर्तव्यम्** इस कथं भाव की आकाङ्क्षा होने से विध्यन्त की ही प्रवृत्ति होती है ।

व्याख्या—फलनियमकर्तृसमुदाय की प्रवृत्ति नहीं होती है । किस हेतु से ? कर्म के अप्रवृत्तित्व से अर्थात् प्रधान कर्म की आकांक्षा न होने से दार्शपौर्णमासिक फलादि की प्रवृत्ति

बन्धनत्वाच्च फलादीनाम् ।

कर्म तावन्न प्रवर्तते । किं कारणम् ? विध्यन्तेन धर्माः प्रवर्तन्ते । न च कर्म विध्यन्तविहितम् । विध्यादिविहितं तत् । तस्मान्न प्रवर्तते । तस्याप्रवृत्तित्वात् फल-नियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयः । अप्रवृत्तिरित्यर्थः । कुतः ? तद्बन्धनत्वात् । फलं तावत्, **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** इति दर्शपूर्णमाससंयुक्तं श्रुतम् । तद्यत्र दर्शपूर्णमासौ, तत्र भवितुमर्हति । न च सौर्यादिषु तौ स्तः । अतः स्वर्गस्यापि तत्राभावः । एवं नियमोऽपि कर्मबन्धनः । **यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत**[1] इति । स दर्शपूर्णमासा-भावे कथं स्यात् । तथा कर्त्ता कर्मबन्धनः । **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः**[2] इति । सोऽपि कथं तयोरसतोः स्यात् । समुदायोऽप्याग्नेयादीनाम् । तानि सौर्यादिषु न सन्तीति तत्समुदायः कथं तत्र भवेत् । तस्मात् तेषामप्रवृत्तिः[3] ॥२०॥

प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ॥२१॥

नहीं होती है । उस (=दर्शपूर्णमास) के साथ फलादि का बन्धन होने से भी ।

कर्म की प्रवृत्ति नहीं होती है । क्या कारण है ? विध्यन्तरूप से धर्म प्रवृत्त होते हैं । कर्म विध्यन्तरूप से विहित नहीं है, वह विध्यादि रूप से विहित है । इससे कर्म प्रवृत्त नहीं होता है । उसकी प्रवृत्ति न होने पर फल नियम कर्त्ता और समुदाय का अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता है अर्थात् प्रवृत्ति नहीं होती है । किस हेतु से ? उसके साथ बन्धन होने से । फल — दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत से दर्शपूर्णमास संयुक्त श्रुत है । इसलिये जहां दर्शपूर्णमास हैं वहां उसे होना चाहिये । वे [दर्शपूर्णमास] सौर्यादि में नहीं हैं । इसलिये वहां (= सौर्यादि में) स्वर्ग का भी अभाव होता है । इसी प्रकार नियम भी कर्म से बन्धा है—यावज्जीवं दर्शपूर्ण-मासाभ्यां यजेत । वह दर्शपूर्णमास के अभाव में कैसे सम्भव होवे । तथा कर्त्ता भी कर्म से बन्धा है—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः । वह भी दोनों के अभाव में कैसे होवे । आग्नेयादि का समुदाय भी — वे सौर्यादि में नहीं हैं इससे आग्नेयादि का समुदाय वहां कैसे होवे । इससे उनकी वहां प्रवृत्ति नहीं होती है ॥२०॥

प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः — (प्रवृत्तौ) फलादि की प्रवृत्ति होने पर (चापि) भी (तादर्थ्यात्) उनकी पुरुषादि के लिये होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—आप० श्रौत ३।१४।१३॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—आप० श्रौत ३।१४।८,६॥

३. 'तेषामेषामप्रवृत्तिः' पाठान्तरम् ।

अपि च धर्माणां प्रवृत्तिः कर्मार्था, कर्मण उपकर्तुम्। न च फलादीनि कर्मण उपकुर्वन्ति। फलं तावत् पुरुषस्योपकरोति, न कर्मणः। उक्तं हि—**फलं च पुरुषार्थत्वाद्**[1] इति। नियमोऽपि न कर्मधर्मः, कर्तृधर्मोऽसावित्युक्तम्—**कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्**[2] इति। तथा कर्त्ता स्वर्गकामो न कर्मार्थः। कर्म स्वर्गकामार्थम्। न हि स्वर्गकामः कर्मण उपदिश्यते, स्वर्गकामो यजेतेति। किं तर्हि? कर्म स्वर्गकामस्योपदिश्यते। स्वर्गकामो यजेत, नान्यत्कुर्यादिति। तथा, समुदायो न कर्मार्थः। फलार्थोऽसौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति। एवमेतेषां कर्मणोऽनुपकारकत्वात् प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्। तस्मान्न प्रवर्तेरन् ॥२१॥

अश्रुतित्वाच्च ॥२२॥

अत्राऽऽह। यदि दर्शपूर्णमाससंयोगात् फलादीनामप्रवृत्तिः, प्रयाजादीनामपि

विशेष—सूत्र पाठ में 'च' और 'अपि' दोनों का पाठ मिलता है। 'च' का पाठ चिन्त्य है। सुबोधिनी वृत्ति में **प्रवृत्तावपि तादर्थ्यात्** पाठ ही है।

व्याख्या—और भी, धर्मों की प्रवृत्ति कर्म के लिये है, कर्म को उपकृत करने के लिये। फलादि कर्म का उपकार नहीं करते। फल पुरुष का उपकारक है, कर्म का नहीं। कहा है—फलं च पुरुषार्थत्वात् (=फल भी पुरुषार्थ होने से कर्म का उपकारक नहीं है)। नियम भी कर्म का धर्म नहीं है, वह कर्त्ता का धर्म है ऐसा कह चुके—कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् (=श्रुति के संयोग से यावज्जीवन अभ्यास कर्त्ता का धर्म है)। तथा कर्त्ता स्वर्ग की कामना वाला है कर्मार्थ नहीं है। कर्म स्वर्गकामनावाले के लिये है। स्वर्गकाम कर्म के प्रति उपदिष्ट नहीं है, स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। तो क्या है? कर्म स्वर्ग की कामनावाले के लिये उपदिष्ट है—स्वर्ग की कामनावाला यजन करे अन्य कुछ नहीं करे। तथा [आग्नेयादि याग का] समुदाय कर्म के लिये नहीं है। वह फल के लिये है—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत। इस प्रकार इन [फलादि] के कर्म के अनुपकारक होने से प्रवृत्ति अनर्थक होवे। इससे ये प्रवृत्त न होवें ॥२१॥

अश्रुतित्वाच्च ॥२२॥

सूत्रार्थः—(अश्रुतित्वात्) फलादि की प्रवृत्ति में श्रुति न होने से (च) भी फलादि की सौर्यादि में प्रवृत्ति नहीं होती है।

व्याख्या—(आक्षेप) यदि फलादि की दर्शपूर्णमास के साथ संयोग होने से प्रवृत्ति नहीं होती है तो प्रयाजादि की भी दर्शपूर्णमास के साथ सम्बन्ध होने से अप्रवृत्ति प्राप्त होती

---

१. मी० ३।१।१५। २. मी० २।४।२।

तत्सम्बन्धादप्रवृत्तिः प्राप्ता। तान्यपि हि तत्संयुक्तानीति। उच्यते। यद्यपि तानि दर्शपूर्णमासयोः श्रुतानि। विध्यन्तेन तु सौर्यादिष्वप्यतिदिष्टानि। फलादीनि तु न विध्यन्तेनातिदिश्यन्ते। तेषां यदि प्रत्यक्षा प्रवर्तिका श्रुतिः स्यात्, ततः प्रवर्तेरन्। न चासावस्ति। तस्मादश्रुतित्वान्न प्रवर्तन्ते ॥२२॥

———

[काम्यगुणानां विकृतावनतिदेशाधिकरणम् ॥१४॥]

इह गुणकामा उदाहरणम्—**गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामस्य**[1], **उपास्मै गायता नर इति ग्रामकामाय प्रतिपदं कुर्याद्**[2] इत्येवमादयः। तत्र विचार्यते किं गुणकामानां वैकृतेषु प्रवृत्तिः, उत नेति। ततः सूत्रेणैवोपक्रमः—

गुणकामेष्वाश्रितत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥ (पू०)

है। वे भी उससे संयुक्त हैं। (समाधान) यद्यपि वे (=प्रयाजादि) दर्शपूर्णमास के श्रुत हैं, परन्तु विध्यन्त भाव से सौर्यादि में अतिदिष्ट होते हैं। फलादि तो विध्यन्त से अतिदिष्ट नहीं होते। यदि उनकी प्रत्यक्षप्रवर्तिका श्रुति होवे तो प्रवृत्त होवें। और वह (=प्रत्यक्ष श्रुति) नहीं है। इससे श्रुति न होने से प्रवृत्त नहीं होते। [प्रयाजादि का तो विकृतियों में दर्शन होने से उनका अतिदेश सिद्ध है।] ॥२२॥

———

व्याख्या - यहां गुणकाम उदाहरण हैं—गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामस्य (=पशु की कामनावाले के जल का प्रणयन गोदोह— जिस बर्तन में गायें दुही जाती हैं उससे करे), उपास्मै गायता नर इति ग्रामकामाय प्रतिपदं कुर्यात् (=ग्राम की कामनावाले के लिये 'उपास्मै गायता नरः' ऋक् प्रतिपद् करे)। इस विषय में विचार करते हैं—क्या गुणकामनाओं की वैकृत कर्म में प्रवृत्ति होती है अथवा नहीं? इस [शङ्का के] पश्चात् सूत्र से ही आरम्भ करते हैं—

विवरण - प्रतिपदं कुर्यात् — सायणाचार्य ने ताण्ड्य ब्रा० ६।६।१ में लिखा है — प्रतिपदिति प्रथमतृचमेव, स एव स्तोत्रिय इति चोच्यते अर्थात् प्रतिपद् नाम प्रथम तृच का है, वही स्तोत्रिय भी कहाता है।

गुणकामेष्वाश्रितत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० — आप० श्रौत १।१६।३॥ मीमांसा ३।६।१०; ४।३।४ सूत्रभाष्ययोः 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' इत्येवं पाठः। २. ताण्ड्य ब्रा० ६।६।१॥

गुणकामेष्वाश्रितत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् । प्रवृत्तिर्गुणकामानाम् । कुतः ? आश्रितत्वात् । गोदोहनं प्रणयनाश्रितं गोदोहनेन प्रणयेदिति । तत्र[1] प्रणयनं प्रवर्तते । आश्रये च प्रवर्तमाने तदाश्रितमपि प्रवर्तते । तथा पट आकृष्यमाणे तदाश्रितं चित्रमप्याकृष्यते । यथा च चमसः प्रवर्तते । यथा च, खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्याद्[2] इति । एवं गोदोहनमपि प्रवर्तते । गोदोहने च प्रवर्तमाने तदाश्रितः कामोऽपि प्रवर्तितुमर्हति । तस्माद् गुणकामानां प्रवृत्तिः ॥२३॥

निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ॥२४॥ (उ०)

निवृत्तिर्वा गुणकामानामप्रवृत्तिः । कुतः ? कर्मभेदात् । कार्यभेदादित्यर्थः । अन्यत् कार्यं गोदोहनस्य, अन्यच्चमसस्य । चमसः क्रत्वर्थो, गोदोहनं तु पुरुषार्थः ।

सूत्रार्थः—(गुणकामेषु) गुण गोदोहनादि से काम पश्वादि की इच्छा होने पर विकृतियों गोदोहनादि की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (स्यात्) होवे (आश्रितत्वात्) प्रणयनाश्रित होने से ।

व्याख्या—गुणकामनाओं में आश्रित होने से प्रवृत्ति होवे । प्रवृत्ति अर्थात् गुणकामों की प्रवृत्ति होवे । किस हेतु से ? आश्रितत्व के कारण । गोदोहन प्रणयन के आश्रित अर्थात् प्रणयन होने पर गोदोहन से प्रणयन करे । यहां (=विकृतियों में) आपः का प्रणयन प्रवृत्त होता है । आश्रय के प्रवर्तमान होने पर आश्रित भी प्रवृत्त होता है । जैसे वस्त्र के खींचने पर वस्त्राश्रित चित्र भी खींचा जाता है । और जैसे [प्रणयन में] चमस प्रवृत्त होता है [विकृतियों में आपः के प्रणयन में] । और जैसे खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्यात् (=वीर्य की कामना वाले के लिये खादिर यूप करे) [यह विकृति में भी प्रवृत्त होता है] । इस प्रकार गोदोहन भी प्रवृत्त होता है । और गोदोहन के प्रवृत्त होने पर तदाश्रित [सिद्ध होनेवाली] कामना भी प्रवर्तित होनी चाहिये । इसलिये गुणकामों की प्रवृत्ति होती है ॥२३॥

विवरण—चमसः प्रवर्तते—यज्ञ में आपः प्रणयन में चमस सामान्य रूप से निर्दिष्ट है । उसकी विकृति में प्रवृत्ति होती है ॥२३॥

निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष का निवर्तक है । (कर्मभेदात्) कर्म=कार्य के भेद से (निवृत्तिः) गुणकामों की निवृत्ति होती है ।

व्याख्या—निवृत्ति होवे गुणकामों की अर्थात् अप्रवृत्ति होवे । किस हेतु से ? कर्मभेद से । कार्यभेद से यह अर्थ है । गोदोहन पात्र का अन्य कार्य है और अन्य चमस का । चमस क्रत्वर्थ है और गोदोहन पुरुषार्थ है । यह कहा है—यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा-

---

१. 'तच्च' पाठान्तरम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—खादिरं स्वर्गकामो वीर्यकामो वा । आप० श्रौत ७।१।१६॥

तदुक्तम्—यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वाद्[1] इत्यत्र। अक्रत्वर्थः किमर्थं प्रवर्तेत्। क्रतूपकाराय हि तस्य प्रवृत्तिः। एवं प्रतिपदः। तस्मान्न प्रवर्तेरन् गुणकामाः ॥२४॥

यत्तूपन्यस्तं, यथा खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्याद् इत्यत्र प्रवृत्तिरेवमत्रापीति। तत्र ब्रूमः—

अपि वाऽतद्विकारत्वात् क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२५॥

अपि वा, एवंविधेषु प्रवृत्तिः स्यात्। कुतः? अतद्विकारत्वात्। न खादिरः क्रत्वर्थविकारः। अयमपि क्रत्वर्थ एव। तदुक्तम्—एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्[2] इति। क्रत्वर्थश्चेत् पलाशवत् प्रवर्तेत। तस्मिंश्च प्रवर्तमाने तदाश्रितः कामोऽपि प्रवर्तते। खादिरेण हि स सिध्यति। स च खादिरोऽस्ति। तस्मात् कामं साधयिष्यति ॥२५॥

———

ऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् (=जिसमें पुरुष की प्रीति होती है उसको प्राप्त करने की इच्छा पुरुषार्थरूप है, पुरुषार्थ की प्रीति से अविभक्त अर्थात् संयुक्त होने से) इसमें (मी० ४।१।२)। जो क्रतु के लिये नहीं है वह [विकृतियों में] किस लिये प्रवृत्त होवे। क्रतु के उपकार के लिये उसकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार [प्रतिपद्] जो ग्राम की इच्छा की पूर्ति के लिये है वह भी प्रवृत्त नहीं होती है। इसलिये गुण काम प्रवृत्त न होवें ॥२४॥

व्याख्या—और जो कहा है जैसे खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्याद् इसमें प्रवृत्ति होती है वैसे ही यहां [गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामः] में भी होवे। उस विषय में कहते हैं—

अपि वाऽतद्विकारत्वात् क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' सम्भावना प्रकट करने के लिये है। (अतद्विकारत्वात्) खादिर यूप के क्रत्वर्थविकार न होने से तदाश्रित वीर्यरूप फल के क्रत्वर्थ होने से (प्रवृत्तिः) विकृति यागों में प्रवृत्ति (स्यात्) होवे।

व्याख्या—अपि वा एवंविध (=इस प्रकार के) अर्थात् खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्यात् वचनों में प्रवृत्ति होवे। किस हेतु से? उसका विकार न होने से। खादिर क्रत्वर्थ का विकार नहीं है। यह (=वीर्य फल) भी क्रत्वर्थ ही है। इस विषय में कहा है—एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् (=एक खादिर यूप के तो नित्यत्व और नैमित्तिकत्व दोनों में सम्बन्ध का पृथक् पृथक् होना कारण है)। [खादिर] क्रत्वर्थ होवे तो पलाशवत् प्रवर्तित होता है। उसके प्रवृत्तमान होने पर तदाश्रित काम भी प्रवृत्त होता है। वह काम खादिर यूप से ही सिद्ध होता है। और वह खादिर यूप है। इससे वह कामना को सिद्ध करेगा ॥२५॥

१. मी० ४।१।२॥ २. मी० ४।३।५॥

[सौर्ययागे विकल्पेनाऽऽग्नेयद्वयधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१५॥]

सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इति श्रूयते। अस्ति तु प्रकृतावभिमर्शनद्वयं, **चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्**' इति। तदिह चोदकेन प्राप्यते। तत्र संशयः। किं सौर्यो यदा पौर्णमास्यां प्रयुज्यते तदा चतुर्होत्राभिम्रष्टव्यः, यदाऽमावास्यायां तदा पञ्चहोत्रा, उतोभयत्र विकल्पः चतुर्होत्रा वा पञ्च-

---

विवरण—अतद्विकारत्वात्—'तस्य विकारः=तद्विकारः, न तद्विकारः=अतद्विकारः' यहां 'तत्' से 'क्रत्वर्थं' का ग्रहण है। अर्थ होगा—क्रत्वर्थ का विकार न होने से। **खादिरे बध्नाति** में खादिर यूप किसी अन्य क्रत्वर्थ यूप के स्थान में प्रयुक्त नहीं है जैसे प्रणयन में गोदोहन क्रत्वर्थ चमस के स्थान में कामना विशेष से प्रयुक्त है। अतः जैसे **पालाशे बध्नाति** की विकृति में प्रवृत्ति होती है तद्वत् खादिर की भी होती है। उसके होने पर तदाश्रित काम भी विकृति में प्रवृत्त होगा। इसके लिये भाष्यकार ने मीमांसा ४।३।५ सूत्र उद्धृत किया है। **पयसा जुहोति दध्ना जुहोति** में दधि अग्निहोत्र में नित्यवत् श्रुत है। उसका ही **दध्नेन्द्रियकामस्य** में श्रवण होने पर वह इन्द्रियरूप फल का भी साधक होता है—**एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वात्** का तात्पर्य है जुहोति क्रिया के साथ दधि और इन्द्रियकामस्य का पृथक् पृथक् सम्बन्ध होने से—दध्ना जुहोति, वीर्यकामस्य जुहोति। इसी प्रकार यहां **खादिरे बध्नाति** तथा **खादिरं वीर्यकामस्य कुर्यात्**। विशेष मी० ४।३।५ के भाष्य में देखें।

भट्टकुमारिल ने टुप्टीका में भाष्याशय का खण्डन किया है। उसे टुप्टीका में तथा कुतूहलवृत्ति में देखना चाहिये ॥२५॥

———

व्याख्या—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (=**ब्रह्मवर्चस की कामनावाला सूर्यदेवताक चरु का निर्वाप करे**) यह सुना जाता है। **प्रकृति (=दर्शपौर्णमास) में दो अभिमर्शन हैं**—चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम् (=**चतुर्होता मन्त्र से पौर्णमासी की हवियों का अभिमर्शन=स्पर्श करता है, पञ्चहोता मन्त्र से अमावास्या के हवियों का अभिमर्शन करता है**)। **इसमें संशय होता है कि सौर्ययाग जब पौर्णमासी में होवे तब चतुर्होता मन्त्र से स्पर्श करना चाहिये और जब अमावास्या में होवे तब पञ्चहोता मन्त्र से, अथवा उभयत्र विकल्प है चतुर्होता वा पञ्चहोता से। क्या प्राप्त होता है? व्यवस्था प्राप्त**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सौर्यं चरुं निरवपन्......ब्रह्मवर्चसकामः॥ तै० सं० २।३।२।२-३॥

२ द्र०—चतुर्होत्रा पूर्णमासे हवींष्यासन्नान्यभिमृशेद्.........पञ्चहोत्रामावास्यायां हवींष्यासन्नान्यभिमृशेत्। काठक सं० ९।१४। तथा द्र०—आप० श्रौत ४।८।७॥

होत्रा वेति। किं प्राप्तम् ? व्यवस्थेति। कुतः ? चोदकानुग्रहात्। प्रकृतौ व्यवस्था कृता। चोदको व्यवस्थां प्रापयति। एवं प्राप्त उच्यते—

एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ॥२६॥ (उ०)

एकस्मिन् कर्मण्यत्र सौर्ये विकल्पः। कुतः ? अविभागो हि चोदनैकत्वात्। एकैषा चोदना सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम इति। तत्राविभागो भवति। उभावप्यभिमर्शने प्राप्येते। तयोरेकार्थत्वात् समुच्चयो न सम्भवति। तस्माद्

होती है। किस हेतु से ? चोदक (=प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) वचन के अनुग्रह से। प्रकृति में व्यवस्था की है, चोदक वचन व्यवस्था प्राप्त कराता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विशेष—चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्चहोत्राऽमावास्यायाम् — द्र०—चतुर्होत्रा पौर्णमास्यां हवींष्यासन्नान्यभिमृशेत् प्रजाकामः, पञ्चहोत्रा अमावास्यायां स्वर्गकामः। आप० श्रौत ४।८।७॥ चतुर्होता मन्त्र—पृथिवी होता। द्यौरध्वर्युः। रुद्रोऽग्नीत्। बृहस्पतिरुपवक्ता। तै० आर० ३।२।१॥ उपवक्ता=ब्रह्मा। पञ्चहोता मन्त्र—अग्निर्होता। अश्विनावध्वर्यू (=अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता च) त्वष्टाग्नीत्। मित्र उपवक्ता। तै० आर० ३।३।१॥ मी० ३।७।८-१०। अधि० ४ में इस विषय में निर्णय किया है कि प्रधान और अङ्ग सभी हवियों का स्पर्शन करना चाहिये। आप० श्रौत का जो वचन उद्धृत किया है उसमें हवींष्यासन्नानि अभिमृशेत् सामान्य निर्देश किया है। सौर्यो यदा……यदाऽमावास्यायां — इष्टियों का काल कहा है—पौर्णमास्याममावास्यायां वा जुहुयात्। इससे पौर्णमासी और अमावास्या में इष्टियों का विधान है।

मी० ३।७।१० के भाष्य के अनुवाद में पृष्ठ १०५५ (प्रथम संस्करण) के प्रथम सन्दर्भ के अन्त में 'इस कारण प्रधान हवियों का अभिमर्शन करना चाहिये' पाठ छपा है, वहां 'प्रधान हवियों तथा अङ्ग हवियों दोनों का अभिमर्शन करना चाहिये' पाठ शुद्ध करें। द्वि० संस्करण में यथास्थान संशोधन कर दिया है।

एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(एककर्मणि) एक कर्म में (विकल्पः) अभिमर्शन मन्त्रों [चतुर्होता, पञ्चहोता] का विकल्प होता है। (चोदनैकत्वात्) प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस चोदना के एक होने से अतिदिष्ट सौर्यादि में (अविभागो हि) विभाग ही नहीं होता। [विशेष भाष्य में देखें।]

व्याख्या—यहां सौर्य एक कर्म में विकल्प होवे। किस हेतु से ? विभाग ही नहीं है चोदना के एक होने से। यह एक चोदना है—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः। वहां अविभाग होता है। दोनों ही अभिमर्शन [अतिदेश से] प्राप्त होते हैं। उन [दोनों मन्त्रों] के एक अभिमर्शन रूप अर्थ के लिये होने से समुच्चय संभव नहीं होता। इससे विकल्प होता है। जो

विकल्पः । यत् तु, प्रकृतौ व्यवस्थेति । नासौ कालकृता । किं तर्हि ? समुदायकृता । न च सौर्ये तौ समुदायौ स्तः । यद्येवमभिमर्शनमेव तर्हि न प्राप्नोति, तयोः समुदाययोरभावादिति । अत्रोच्यते—न प्राप्नोति, यदि समुदाययोरभिमर्शनमुच्येत । तयोस्त्वनभिभ्रष्टव्यत्वात् समुदायिनां तदुच्यते लक्षणया । समुदायिविकारश्च सौर्यः । तस्मात् तत्रापि चोदकः प्रापयति तत् ॥२६॥

———

[सौर्ये चरावाग्नेयधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१६॥]

सौर्ये कर्मणि दार्शपौर्णमासिको विध्यन्त इत्युक्तम्—इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः

प्रकृति में व्यवस्था है वह कालकृत(=पूर्णिमा वा अमावास्याकृत) नहीं है । तो कैसी है ? समुदायकृत अर्थात् पौर्णमासी में होने वाला जो याग समुदाय और अमावास्या में होने वाला जो याग समुदाय उन के भेद से व्यवस्था है । सौर्य में वे दोनों (=पौर्णमासी और आमावास्या के) समुदाय नहीं हैं ।(आक्षेप)यदि ऐसा है तो अभिमर्शन ही नहीं प्राप्त होता है, उन दोनों[याग] समुदायों के अभाव होने से । (समाधान)) इस विषय में कहते हैं—यदि [याग] समुदाय का अभिमर्शन कहें तो प्राप्त नहीं होता । उन [यागसमुदायों]का स्वस्थान से भ्रंशत्व के अमाव से [अर्थात् पौर्णमासी और अमावास्या में जो तीन-तीन यागों का समुदाय है उसे उस उस काल से हटाये न जा सकने के कारण] समुदायियों (=जो यागसमुदायी पौर्णमासी और अमावास्या कर्म है) का वह लक्षणा से अभिमर्शन कहा जाता है । सौर्य समुदायियों का विकार है अर्थात् पौर्णमास और दर्शयाग का विकार है । इससे वहां(=सौर्यरूप समुदाय में)भी चोदक अभिमर्शन प्राप्त कराता है ॥२६॥

विवरण—सूत्र और भाष्य का यह तात्पर्य है कि चोदक (अतिदेश) वचन पूर्णमासी और अमावास्या में जो तीन तीन यागों का समुदाय है उन्हें तो स्व स्व काल से हटाया नहीं जा सकता । इसलिये अभिमर्शन उन समुदायों से सम्बद्ध नहीं है । अपितु तीन तीन समुदायों के जो दो समुदायी पौर्णमास कर्म और अमावास्या कर्म है उनको लक्षणा से लक्षित करके अभिमर्शन कहा जाता है । उन समुदायियों का विकार सौर्य है अतः अतिदेश से दोनों समुदायियों से सम्बद्ध अभिमर्शनद्वय प्राप्त होता है । अभिमर्शनद्वय का समुच्चय हो नहीं सकता । एक अभिमर्शन से ही कृतार्थ अर्थात् अपूर्व के होने से, अतः समान प्रयोजन के लिये दो कार्य प्राप्त होने पर विकल्प ही होगा ॥२६॥

———

व्याख्या—सौर्य कर्म में दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विध्यन्त होवे, यह कह चुके—इष्टिषु

प्रवृत्तिः[1] इति । सन्ति तु तत्र कर्माण्याग्नेयादीनि । तत्र विचारः—किं यस्य कस्यचिद् दार्शपौर्णमासिकस्य कर्मणः सौर्ये विध्यन्त उताऽऽग्नेयस्येति ? किं प्राप्तम् ?

लिङ्गसाधारण्याद् विकल्पः स्यात् ॥२७॥ (पू०)

विकल्पः । कुतः ? लिङ्गसाधारण्यात् । सौर्ये दार्शपौर्णमासिकविध्यन्तप्राप्तौ यल्लिङ्गमुपदिष्टम्[2]—**प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति**[3] इति, तत् साधारणं सर्वेषां विध्यन्ते सम्भवति । न च समुच्चयः । तस्माद् विकल्पः ॥२७॥

ऐकार्थ्याद् वा नियम्येत पूर्ववत्त्वाद् विकारो हि ॥२८॥ (उ०)

आग्नेयस्य विध्यन्तो नियम्येत । कुतः ? ऐकार्थ्यात् । एकदेवतत्वादित्यर्थः । आग्नेय एकदेवतयः । सौर्योऽपि । तेनैकदेवतत्वेन लिङ्गेनाऽऽग्नेयविध्यन्तो नियम्येत ।

दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः (मी० ८।१।११) सूत्र से । वहां आग्नेयादि कर्म हैं । उन में विचार है—क्या जिस किसी दर्शपूर्णमाससम्बन्धी कर्म का विध्यन्त सौर्य में होवे अथवा आग्नेय का ? क्या प्राप्त होता है ?

लिङ्गसाधारण्याद् विकल्पः स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—दर्श और पौर्णमास के (लिङ्गसाधारण्याद्) लिङ्ग के साधारण होने से (विकल्पः) विकल्प (स्यात्) होवे । [लिङ्गभाष्य व्याख्या में देखें ।]

व्याख्या—विकल्प होवे । किस हेतु से ? लिङ्ग के साधारण (=दोनों में समान) होने से । सौर्य में दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विध्यन्त की प्राप्ति में जो लिङ्ग उपदिष्ट है—प्रयाजे-प्रयाजे कृष्णलं जुहोति (=प्रति प्रयाज कृष्णल का होम करता है) वह सब की विध्यन्तों में सम्भव होता है । [सब की विध्यन्तों का] समुच्चय नहीं हो सकता इस कारण विकल्प होवे ॥२७॥

ऐकार्थ्याद् वा नियम्येत पूर्ववत्त्वाद् विकारो हि ॥२८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (ऐकार्थ्याद्) एक देवता प्रयोजन होने से विध्यन्त (नियम्येत) नियमित होवे । सौर्य के (पूर्ववत्त्वात्) पूर्ववान् होने से, वह (विकारः) विकार (हि) ही है ।

व्याख्या—आग्नेय का विध्यन्त नियमित होवे । किस हेतु से ? एकार्थ होने से । एक देवतावाला होने से । आग्नेय याग एक देवतावाला है, सौर्य भी एक देवतावाला है । इस कारण एकदेवतात्व हेतु से लिङ्ग के द्वारा आग्नेय विध्यन्त नियमित होवे । पूर्ववत्त्व होने से ।

---

१. मी० ८।१।११॥ २. 'अपदिष्टम्' पाठान्तरम् । ३. तै० सं० २।३।२।३॥

पूर्ववत्त्वात् । पूर्ववानयं सौर्यः । पूर्वत्राभिहितं विध्यन्तमपेक्षते । विकारो हि । विकृतिरेषा । सर्वाश्च विकृतयः पूर्ववत्यः । चोदनावाक्यानामसमाप्तत्वात् । तत्र लिङ्गेन विध्यन्तनियमो भवतीत्युक्तम् । अस्ति चैकदेवतत्वं लिङ्गम् । तेनाऽऽग्नेय-विध्यन्तः ॥२८॥

अथाह—

अश्रुतत्वान्नेति[४] चेत् ॥२९॥

स्यादेतदेवं, यद्यत्रैकत्वं श्रूयेत । न तु श्रूयते । कथम् ? तद्धितेनायं निर्देशः—सौर्यमिति, तथा आग्नेयमिति । तत्र वचनव्यक्तिर्न ज्ञायते, किं सूर्यो देवताऽस्य, उत सूर्यौ च सूर्याश्चेति । तथा, आग्नेयेऽपि ॥२९॥

यह सौर्य पूर्ववान् है । अर्थात् पूर्वविहित विधि की अपेक्षा रखता है । [इस कारण] विकार ही है । यह [सौर्य] विकृतिरूप है । सभी विकृतियां पूर्ववती होती हैं, चोदना वाक्यों (=सौर्यादि याग-विधायक वाक्यों) के असमाप्त होने से [अर्थात् 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' इस विधायक वाक्य से यह नहीं जाना जाता है कि सौर्ययाग कैसे करें ?]ऐसी अवस्था में लिङ्ग से विध्यन्त का नियम होता है, यह कहा है । एकदेवतात्व लिङ्ग है । इससे [सौर्य में] आग्नेय विध्यन्त होता है ॥२८॥

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—

अश्रुतत्वान्नेति चेत् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(अश्रुतत्वात्) सौर्ययाग में और आग्नेययाग में स्पष्ट रूप से सूर्य और अग्नि के देवतात्व के श्रवण न होने से आग्नेय विध्यन्त की प्राप्ति नहीं है ऐसा कहें तो ।

विवरण—सौर्य और आग्नेय ये पद तद्धितप्रत्ययान्त है अतः जैसे इनका अर्थ 'सूर्य देवता है जिसका', 'अग्नि देवता है जिसका' जाना जाता है उसी प्रकार सूर्यौ देवते, सूर्या देवता अस्य तथा अग्नी देवते, अग्नयो देवता अस्य यह अर्थ भी जाना जाता है । अतः प्रत्यक्षरूप से उभयत्र एक ही देवतारूप अर्थ नहीं जाना जाता है अतः आग्नेय विध्यन्त होवे कथन युक्त नहीं है ।

व्याख्या—यह ऐसा होवे, यदि यहां एकत्व सुना जाये [वह] नहीं सुना जाता है । कैसे ? तद्धित से यह निर्देश है-'सौर्यः', तथा 'आग्नेयम्'। वहां वचन व्यक्ति नहीं जानी जाती है—क्या सूर्य इसका देवता है अथवा 'सूर्यौ' 'सूर्याः' [देवता हैं वा बहुत देवता, तद्धित रूप सबका समान होगा ।] इसी प्रकार आग्नेय में भी [सन्देह रहता है—'अग्नी देवते' अथवा 'अग्नयो देवताः'।[इस से आग्नेय धर्म ही प्रवृत्त होवें, यह नियम उपपन्न न होने से विकल्प होवे ।]॥२९॥

---

४. 'अश्रुतित्वात्' पाठान्तरम् ।

स्याल्लिङ्गभावात् ॥३०॥

स्याद् व्यवस्थितिरेकत्वस्य। कुतः ? लिङ्गभावात्। लिङ्गमत्रास्ति। किम्? वाक्यशेष एकत्वं श्रूयते, सौर्ये तावत्—'अमुमेवाऽऽदित्यं स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं ब्रह्मवर्चसं गमयति' इति। आग्नेयेऽपि—'अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः स्वर्गं लोकमायंस्ते यज्ञवास्त्वभ्यायंस्ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा प्रसर्पन्तमपश्यंस्तमब्रुवन्, इन्द्राय ध्रियस्व बृहस्पतये ध्रियस्व विश्वेभ्यो देवेभ्यो ध्रियस्वेति। स तानाह न ध्रिये। तमब्रुवन्, अग्नये ध्रियस्वेति। सोऽब्रवीत्,ध्रियेऽहम्। यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पूर्णमास्यां चाच्युतो भवति। अग्निमेव स्वेन भागधेयेन समर्धयति' इति ॥३०॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

विवरण—भाष्यकार ने एकवचन द्विवचन वहुवचन की अव्यक्तता के उदाहरण दिये हैं। हमारे विचार में लिङ्गभेद के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। यथा सूर्यो देवता अस्य के समान सूर्या देवता अस्य का रूप भी सौर्य ही होगा। इसी प्रकार अग्नायी देवता अस्य का रूप भी आग्नेय ही होगा ॥२६॥

स्याल्लिङ्गभावात् ॥३०॥

सूत्रार्थः - एकत्व की व्यवस्थिति (स्यात्) होवे, (लिङ्गभावात्) लिङ्ग के होने से। [लिङ्ग भाष्य में देखें।]

व्याख्या—एकत्व की व्यवस्थिति होवे। किस हेतु से? लिङ्ग होने से। यहां (=एकत्व की व्यवस्थिति में) लिङ्ग है। क्या लिङ्ग है ? वाक्यशेष में एकत्व सुना जाता है। सौर्य में—अमुमेवाऽऽदित्यं स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं ब्रह्मवर्चसं गमयति (=उस आदित्य को ही स्व भाग से प्राप्त होता है। वह ही इसे ब्रह्मवर्चस को प्राप्त कराता है)। [यहां विधिवाक्य में सूर्य का निर्देश करके अर्थवाद में आदित्य का उल्लेख दोनों के एकत्व का भी बोधक है।] आग्नेय में भी—अङ्गिरसो वा इत ·········समर्धयति (=अङ्गिरस नाम के ऋषि इस पृथिवी लोक से ऊर्ध्वतम स्वर्ग लोक को प्राप्त हुए। वे यज्ञशाला में आये [वहां] उन्होंने पुरोडाश को कूर्मरूप धारण किये हुए चलते हुए देखा, उससे कहा—इन्द्र के लिये रुक जा, बृहस्पति के लिये रुक जा, विश्वे देवों के लिये रुक जा। वह उनसे बोला—नहीं रुकता। उस को [ऋषियों ने]कहा—अग्नि के लिये रुक जा। वह बोला—मैं रुकता हूं। जो आग्नेय अष्टाकपाल [पुरोडाश] अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत होता है। अग्नि को ही स्व भाग से समृद्ध करता है) ॥३०॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

---

१. तै० सं० २।३।२।३॥ २. स्वल्पभेदन तै० सं० २।६।३।२-३॥

अनुवाक्यायामेकत्वश्रवणम्—अग्निर्मूर्धा दिवः'[1] इत्याग्नेये, उदुत्यं जातवेदसम्'[2] इति सौर्ये। ननु पुनरुक्तमेतल्लिङ्गद्वयोपदर्शनमिति। तदुच्यते। नैतत् पुनरुक्तम्। एकमत्र चोदनागतम्, एकं मन्त्रगतम्। चोदनागतं प्रापकं, मन्त्रगतं प्राप्तस्य द्योतकमिति ।।३१।।

———

[देवताघटितसादृश्यापेक्षया द्रव्यघटितसादृश्यस्य बलीयस्त्वाधिकरणम् ।।१७।।]

इदं श्रूयते—ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेद्'[3] इति। तथा—आग्नेयं पयः'[4] इति। तत्र सन्देहः—किं देवतासामान्यादैन्द्रपुरोडाशे सान्नाय्यस्य विध्यन्तः, आग्नेये च पयस्यौषधस्य, देवतासामान्यं बलवत्तरम्। अथ हविःसामान्यादुत्तरत्र सान्नाय्यस्य विध्यन्तः, पूर्वत्रौषधस्य, हविःसामान्यं बलीय इति। किं प्राप्तम्? उच्यते—देवतासामान्यं बलीय इति। कुतः? मुख्यत्वात्। मुख्यनियन्त्रिता देवता। ऐन्द्रमाग्नेय-

---

सूत्रार्थः—(तथा च) और भी (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य प्रयोजन के लिये उक्त दर्शन=लिङ्ग होता है।

व्याख्या-अनुवाक्या में एकत्व का श्रवण होता है—अग्निर्मूर्धा दिवः यह आग्नेययाग में, उदुत्यं जातवेदसम् यह सौर्ययाग में। (आक्षेप) यह दो लिङ्ग दर्शन पुनरुक्त है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—यह पुनरुक्त नहीं है। एकत्र (पूर्व में) चोदना=विधिगत है और एक (दूसरा) मन्त्रगत। चोदनागत प्रापक है और मन्त्रगत प्राप्त अर्थ का द्योतक है ।।३१।।

———

व्याख्या—यह सुना जाता है—ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत् (=इन्द्रदेवताक एकादश कपाल का निर्वाप करे)। तथा—आग्नेयं पयः (=अग्निदेवताक दूध)। इनमें सन्देह है—क्या देवता सामान्य से ऐन्द्र पुरोडाश में सान्नाय्य विध्यन्त होवे और आग्नेय पयः में औषध का विध्यन्त। देवता की समानता बलवत्तर है। और यदि हविसामान्य से तो उत्तरत्र (=आग्नेयपयः में) सान्नाय्य का विध्यन्त होवे तथा पूर्वत्र (=ऐन्द्र पुरोडाश में) औषधका, हविसामान्य बलवान् है मानकर। क्या प्राप्त होता है? कहते हैं—देवता सामान्य बलवान् है। किस हेतु से? मुख्यत्व होने से [देवता के लिये हवि दी जाती है अतः देवता की मुख्यता है]। मुख्य-

---

१. मै० सं० ४।१०।१ याज्यानुवाक्या काण्डे। २. ऋ० १।५०।१।।
३. द्र०—तै० सं० २।२।१।।
४. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आग्नेयं वा एतद् पयो यदजक्षीरम्। मै० सं० ३।१।८।।

मिति । जघन्यनियन्त्रितं हविः । तयोर्विरोधे मुख्यानुग्रहो न्याय्यः । मुख्यस्याविरुद्ध-प्रवृत्तित्वात् । जघन्यस्य तु मुख्येन विरुद्धा प्रवृत्तिः । तस्माद् देवतासामान्यं बलीय इति प्राप्ते ब्रूमः—

विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् ॥३२॥ (उ०)

विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत । विप्रतिपत्तावेतस्यां हविर्देवतयोः हविषा विध्यन्तो नियम्येत । कुतः ? कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् । कर्म देवतां प्रति द्रव्यस्योत्सर्गः । स च हविःषूपाख्यायते, उपलभ्यत इत्यर्थः । हविस्त्यज्यमानं दृश्यते । किमतः ? अतो हविः कर्मणः प्रत्यासन्नम् । प्रत्यासत्तिश्च लिङ्गम् । ननु देवताऽपि यागेन सम्बद्धा । न तया विना यागो भवति ? उच्यते । सत्यं सम्बद्धा । आरादुपकारिणी तु सा । नासौ त्यज्यते । तस्माद् बहिरङ्गम् । अतो हविःसामान्यं बलीयः ॥३२॥

तेन च कर्मसंयोगात् ॥३३॥

नियन्त्रित देवता है—ऐन्द्रम्, आग्नेयम् । हवि जघन्य नियन्त्रित है । दोनों के विरोध होने पर मुख्य का अनुग्रह न्याय्य है । मुख्य के अविरुद्ध प्रवृत्तिवाला होने से । [अर्थात् मुख्य के विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं होती है] । जघन्य की मुख्य के विरुद्ध प्रवृत्ति देखी जाती है । इस कारण देवता सामान्य बलवान् है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् ॥३२॥

सूत्रार्थः (विप्रतिपत्तौ) हवि और देवता से विध्यन्त में विरोध होने पर (हविषा) हवि के सामान्य से (नियम्येत) विध्यन्त नियमित होवे । (कर्मणः) कर्म के (तदुपाख्यत्वात्) उस=हवि में उपलभ्यमान होने से । अर्थात् यागरूपी कर्म देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग माना जाता है । अतः जुहोति यजेत आदि क्रियाओं का तात्पर्य हवि के त्याग में है अर्थात् कर्म के प्रति देवता की अपेक्षा हवि अन्तरङ्ग है ।

व्याख्या – विप्रतिपत्ति में हवि से नियम होवे । इस विप्रतिपत्ति में हवि और देवता में से हवि से विध्यन्त नियमित होवे । किस हेतु से ? कर्म के हवि [के त्याग] में उपलब्ध होने से । कर्म [का स्वरूप] देवता के प्रति द्रव्य का उत्सर्ग है । और वह उत्सर्ग हवि में उपाख्यात होता है अर्थात् उपलब्ध होता है । हवि त्याग की जाती हुई देखी जाती है । इस से क्या [सिद्ध होता है] ? इससे हवि कर्म के निकट है । प्रत्यासत्ति (=समीपता) लिङ्ग है । (आक्षेप) देवता भी याग से संबद्ध है, उस के विना भी याग नहीं होता ? (समाधान) सत्य है देवता भी संबद्ध हैं । वह तो दूर से उपकारिणी होती है वह छोड़ी नहीं जाती । इस लिये वह बहिरङ्ग है । इस से [देवता सामान्य की अपेक्षा] हविसामान्य बलवान् है ॥३२॥

तेन च कर्मसंयोगात् ॥३३॥

तेन च हविषा संयुज्य कर्म चोद्यते, ऐन्द्रम्, आग्नेयमिति । हवि:प्रधानः शब्दः । किमतः ? अतो हविरत्र बुद्धौ सन्निहितं, तल्लिङ्गं भवति । यथा धूमो बुद्धिविषयतामापन्नोऽग्नेर्लिङ्गं, न विद्यमानः[1] ।।३३।।

ननु देवताऽप्यत्र श्रूयते, ऐन्द्रमाग्नेयमिति । उच्यते—

गुणत्वेन देवताश्रुतिः ।।३४।।

विशेषणत्वेन देवता श्रूयते, हविर्विशेष्यत्वेन । विशेष्यं च बुद्धौ सन्निहितं

सूत्रार्थः—(तेन) उस हवि से (कर्मसंयोगात्) कर्म का संयोग होने से (च) भी हविः सामान्य बलवान् हैं । अर्थात् हवि का त्यागरूप कर्म ऐन्द्र वा आग्नेय इन्द्र वा अग्नि देवतावाला कहा जाता है ।

व्याख्या—उस हवि से संयुक्त होकर कर्म कहा जाता है—ऐन्द्र आग्नेय । हवि प्रधान शब्द है । इससे क्या [सिद्ध होता है] ? इससे यहां (=ऐन्द्र आग्नेय प्रयोगों में) हवि बुद्धि में सन्निहित होती है वह लिङ्ग होती है । जैसे बुद्धिविषयता को प्राप्त धूम अग्नि का लिङ्ग होता है, विद्यमान धूम लिङ्ग नहीं होता ।।३३।।

विवरण-ऐन्द्रम् आग्नेयम्—इन्द्र वा अग्नि देवता है जिस कर्म का, वह ऐन्द्र वा आग्नेय कहा जाता है । कर्म त्यागरूप है वह त्याग हवि से सम्बद्ध है । इस प्रकार ऐन्द्र और आग्नेय ये हविप्रधान शब्द हैं । सुबोधिनीवृत्तिकार ने इसका तात्पर्य इस प्रकार दर्शाया है—'उस हवि से संयुक्त कर्म कहा जाता है—सौर्यं चरुम्, ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत् । हवि कर्म में साक्षात् सम्बद्ध है और देवता हवि के द्वारा । अतः हविसामान्य लिङ्ग प्रबल है ।' न विद्यमानः—धूम से अग्नि के ज्ञान में पूर्वकाल में 'जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है' यह असकृत् प्रत्यक्ष के आधार पर बुद्धिस्थ जो धूम है वह अग्नि का लिङ्ग है । जिसको यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि व्याप्ति का परिज्ञान नहीं है वह विद्यमान धूम को देखकर भी वह्नि ज्ञान नहीं कर सकता । भाष्य में कहीं कहीं नाविद्यमानः पाठ है, वह अशुद्ध है ।।३३।।

व्याख्या—(आक्षेप) देवता भी तो यहां सुनी जाती है—ऐन्द्रम्, आग्नेयम् ? (समाधान) इस विषय में कहते हैं—

गुणत्वेन देवताश्रुतिः ।।३४।।

सूत्रार्थः—(देवताश्रुतिः) देवता का श्रवण (गुणत्वेन) गौणरूप से अर्थात् विशेषण रूप से होता है ।

व्याख्या—विशेषण रूप से देवता सुना जाता है, हवि विशेष्य रूप से । और विशेष्य बुद्धि में सन्निहित होता है, विशेषण सन्निहित नहीं होता है । वह विशेषण विशेष्य को विशेषित

---

१. 'नाविद्यमानः' इति क्वाचित्कोऽपपाठः ।

भवति, न विशेषणम् । तद् विशेष्यं विशेष्य निवर्तते । कथं ज्ञायते ? विशेष्यानुबन्धसंयोगात् । यथा राजपुरुषः पूज्य इत्युक्ते पुरुषः पूज्यो गम्यते, न राजा । एवमिहापि, ऐन्द्रं पय इत्युक्ते हविर्बुद्धौ सन्निधीयते, न देवता । यच्च बुद्धौ सन्निहितं, तल्लिङ्गमित्युक्तम् । तस्माद्धविःसामान्यं बलीयः । अत ऐन्द्रे पुरोडाश आग्नेयस्य विध्यन्तः । आग्नेये च पयसि सान्नाय्यस्येति ।

गुणत्वेन देवताश्रुतिः—इत्येतस्य सूत्रस्यापरा व्याख्या । इदं पदोत्तरं सूत्रम् । यदुक्तं हविःसामान्यं बलीय इति, नैतद्युक्तम् । देवतासामान्यं बलीय इति । कुतः ? सर्वोऽयं प्रयासो देवताराधनार्थ एव । साऽस्य प्रसन्ना फलं ददाति । एवं श्रूयते—**तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति**[1] इति । यश्चेन्द्रस्य प्रसादनोपाय इति ज्ञातः, पुनरपीन्द्रे प्रसादयितव्ये स एवाऽऽस्थेयो भवति । तस्माद् देवतासामान्यं बलीय इति । अत्र ब्रूमः—

करके निवृत्त हो जाता है । यह कैसे जाना जाता है ? विशेष्य के साथ अनुबन्ध का संयोग होने से । जैसे—राजपुरुषः पूज्यः ऐसा कहने पर [राजपुरुष में विशेष्य] पुरुष ही पूज्य जाना जाता है, राजा पूज्य नहीं जाना जाता है । जो बुद्धि में सन्निहित होता है वह लिङ्ग होता है यह कह चुके । इसलिये हविःसामान्य बलवान् है । अतः ऐन्द्र पुरोडाश में आग्नेय [पुरोडाश] का विध्यन्त होगा और आग्नेय पयः में सान्नाय्य का ।

विवरण- विशेषणत्वेन देवता श्रूयते, हविर्विशेष्यत्वेन —इन्द्रो देवताऽस्य पुरोडाशरूपस्य हविषः इस अर्थ में सास्य देवता (अष्टा० ४।२।२३) से अण् प्रत्यय होता है । इस विग्रह से स्पष्ट है कि इन्द्र पुरोडाशादि हवि का विशेषण है इसी प्रकार आग्नेयः पुरोडाशः में अग्नि शब्द से अग्नेर्ढक् (अ० ४।२।३२) से ढक् होता है । अग्नि पुरोडाशरूप हवि को विशेषित करता है । समान रूप जो पुरोडाश हवि है वह इन्द्र से विशेषित ऐन्द्र और अग्नि से विशेषित आग्नेय कहाता है ।

व्याख्या— गुणत्वेन देवताश्रुतिः इस सूत्र की दूसरी व्याख्या— यह सूत्र कुछ पदों के अनन्तर है ऐसा जानना चाहिये । जो यह कहा है कि 'हविःसामान्य बलवान् है', यह ठीक नहीं है, देवतासामान्य बलवान् है । किस हेतु से ? यह [यज्ञरूपी] सारा प्रयत्न देवता के आराधन (=संतुष्ट) करने के लिये ही है । वह प्रसन्न हुई देवता इस (= यज्ञरूपी प्रयास) का फल देती है । ऐसा सुना जाता है— तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति (=प्रसन्न हुआ इन्द्र इसे प्रजा और पशुओं से तृप्त करता है । जो इन्द्र के प्रसन्न करने का उपाय ज्ञात है, पुनः इन्द्र की प्रसन्नता के लिये वही स्वीकरणीय होता है । इससे देवता सामान्य बलवान् है । इस विषय में कहते हैं—

---

१. तै० सं० २।५।४।३॥

स्यादेतदेवं, यदि देवतातः फलं स्यात्। यागात् तु फलं—**स्वर्गकामो यजेत** इति श्रूयते। यत् तु **तृप्त एवैनमिन्द्र** इति। तत्रेदमुच्यते—

गुणत्वेन देवताश्रुतिः।

यागे गुणभूता देवता। तस्या दातृत्वं स्तुत्योच्यते। यथा—अमात्येन मे ग्रामो दत्तः, सेनापतिना मे ग्रामो दत्त इति। न चामात्यः सेनापतिर्वा ग्रामस्य प्रभवति, राजैव प्रभवति। इतरस्मिन् गुणभूते स्तुत्या दातृत्ववादः। तस्माद् यथोक्तेनैव न्यायेन हविःसामान्यमेव बलीय इति ॥३४॥

————

[कृष्णलचरावाग्नेयधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१८॥]

हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात्[1] ॥३५॥ (पू०)

यह ऐसा होवे, यदि देवता से फल प्राप्त होवे। फल तो याग से होता है—स्वर्गकामो यजेत ऐसा सुना जाता है। और जो कहा—तृप्त एवैनमिन्द्रः आदि। वहां यह कहते हैं—

गुणत्वेन देवताश्रुतिः।

व्याख्या—याग में देवता गुणभूत है। उस का [फल का] दातृत्व स्तुति से कहा जाता है। जैसे—अमात्य (=मन्त्री) ने मुझे गांव दिया, सेनापति ने मुझे गांव दिया। अमात्य और सेनापति ग्राम का स्वामी नहीं है। राजा ही स्वामी है। इतर (=राजा से भिन्न) गुणभूत में स्तुति से दातृत्ववाद है। इससे यथोक्त न्याय से हविः सामान्य ही बलवान् है ॥३४॥

————

हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(हिरण्यम्) सुवर्ण (आज्यधर्मः) आज्य के धर्मवाला होवे, (तेजस्त्वात्) तेजोयुक्त होने से। [वचन भाष्य में देखें।]

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'आज्यधर्म' पाठ है। वही व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। आज्यस्य धर्मा यस्य इस बहुव्रीहि समास में धर्मादनिच् केवलात् (अष्टा० ५।४।१२४) से अनिच् समासान्त होता है। हिरण्य नपुंसकलिङ्ग है। अतः आज्यधर्म यही पाठ युक्त है। सूत्र पाठ में 'आज्यधर्मः' पाठ तथा भाष्य में आज्यधर्मा पाठान्तर युक्त प्रतीत नहीं होता।

१. 'आज्यधर्म तेजस्त्वात्' इति कुतूहलवृत्तौ पाठः। धर्मादनिच् केवलात् (अष्टा० ५।४।१२४) इत्यनेन 'अनिच्' समासान्तः। नपुंसकलिङ्गेन हिरण्येन सम्बद्धत्वादत्र 'आज्यधर्म' इति नपुंसकलिङ्गत्वमेव युक्तम्।

प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः इति श्रूयते। तद्धिरण्यमाज्यधर्मः[1] स्यात्। उपांशुयाजविध्यन्तस्तत्र भवेत्। कुतः? तेजस्त्वसामान्यात्॥ तेजस्त्वं सामान्यम्। हिरण्यमश्मनां तेजः। आज्यमपि गवां सार[2] इत्यर्थः। अथवा हिरण्यमपि तेजस्वित्वादुज्ज्वलम्। आज्यमपि स्निग्धत्वादुज्ज्वलमेव। तस्मात् सामान्यादुपांशुयाजधर्मा शतकृष्णलश्चरुः ॥३५॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥३६॥

व्याख्या—प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः (=आयु की कामना वाला घृत में प्रजापतिदेवताक सौ कृष्णल चरु का निर्वाप करे) ऐसा सुना जाता है। वह सुवर्ण आज्य के धर्म वाला होवे। उपांशुयाज का विध्यन्त वहां होवे। किस हेतु से? तेजस्त्व सामान्य से। तेजस्त्व [दोनों में] सामान्य है। हिरण्य पाषाणों का तेज है और आज्य भी गायों का सार है अथवा हिरण्य भी तेजस्वी होने से उज्ज्वल है और आज्य भी स्निग्ध होने से उज्ज्वल ही है। इस सामान्य से उपांशुयाज का धर्मवाला शतकृष्णल चरु होवे ॥३५॥

विवरण—उपांशुयाजविध्यन्तः—पौर्णमासेष्टि में उपांशुयाज का विधायक वाक्य है—**तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन्** (द्र०—मी० २।२।३ भाष्य में उद्धृत)। इसमें उपांशुयाज का घृत द्रव्य कहा है। इसलिये उपांशुयाज का विध्यन्त कहा है। **हिरण्यमश्मनां तेजः**—महाभारत उद्योग पर्व[3] में कहा है—**अश्मनो लोहमुत्थितम्** अर्थात् अश्मा से लोह उत्पन्न हुआ। पृथिवी गर्भ में पाषाणों की उत्पत्ति के पश्चात् क्रमशः लोह आदि धातुओं की उत्पत्ति हुई। उनमें हिरण्य की उत्पत्ति सबसे अन्त में हुई। वैदिक निघण्टु में लोह शब्द हिरण्यनामों में पढ़ा है (निघण्टु १।२)। इस कारण हिरण्य को अश्मों के तेज कहा है। **तेजस्वित्वादुज्ज्वलम्**—सुवर्ण को वैशेषिक दर्शन में संहत अग्नि माना है। उसमें पार्थिवादि का अंश नहीं होने से बार बार तपाने पर भी स्वर्ण की मात्रा न्यून नहीं होती। वह उज्ज्वल अर्थात् पृथिवी आदि से असंपृक्त है। **स्निग्धत्वादुज्ज्वलम्**—घृत स्निग्ध होने से उज्ज्वल है अतएव उसमें दर्पणवत् प्रतिविम्ब गृहीत होता है ॥३५॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥३६॥

सूत्रार्थः—हिरण्य में आज्य के (धर्मानुग्रहात्) अवेक्षणादि अनेक धर्मों के अनुग्रह से (च) भी आज्यधर्मता होवे।

विशेष—आज्य धर्म का अनुग्रह मानने पर केवल घृत का जो विलापन=पिघलाना धर्म

---

१. 'आज्यधर्मा' पाठान्तरम्।

२. 'सारमित्यर्थः' पाठान्तरम्।

३. द्र०—वेदविद्यानिदर्शन, पृष्ठ १०९।

हिरण्ये च बहव आज्यधर्मा अनुगृह्यन्ते, अवेक्षणादयः। तस्मादप्याज्यधर्माः ॥३६॥

औषधं वा विशदत्वात् ॥३७॥ (उ०)

अथवा, औषधस्य हिरण्ये विध्यन्तः। कुतः? विशदत्वात्। हिरण्यमपि विशदम्, औषधमपि विशदम्।

कः पुनरनयोः सामान्ययोर्विशेषः? न खलु कश्चित्। किंतु विशदत्वस्य कारणद्वयमुपोद्बलकम्। तेजस्वितायास्तद्धर्मानुग्रह एकः ॥३७॥

चरुशब्दाच्च ॥३८॥

चरुशब्दश्चात्र, भवति, प्राजापत्यं चरुमिति। चरुशब्दश्चौषधस्य वक्ता, तद् बलवदौषधस्य लिङ्गम् ॥३८॥

है उसी की बाधा होती है। अन्य अवेक्षण उत्पवनादि अनेक धर्म अनुगृहीत होते हैं।

व्याख्या—और हिरण्य में बहुत से आज्य धर्म अनुगृहीत होते हैं अवेक्षण (=दर्शन) आदि। इससे भी आज्य धर्म होवे ॥३६॥

औषधं वा विशदत्वात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त आज्यधर्मता की निवृत्ति के लिये है। (विशदत्वात्) हिरण्य के विशद=कठोर होने से (औषधम्) औषधधर्म होवें।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में औषधाद् वा सूत्र में पाठ है।

व्याख्या—अथवा औषध का विध्यन्त हिरण्य में होवे। किस हेतु से? विशद (=कठोर) होने से। हिरण्य भी विशद है और औषध भी विशद है।

तो फिर इन दोनों (=आज्य धर्म तथा औषध धर्म) सामान्यों में क्या विशेष है? निश्चय ही कोई विशेष नहीं है। किन्तु विशदत्व के दो कारण उपोद्बलक हैं (द्र०—अग्रिमसूत्र ३८, ३९); तेजस्विता का एक धर्मानुग्रह है [उज्ज्वलत्व] ॥३७॥

चरुशब्दाच्च ॥३८॥

सूत्रार्थः—(चरुशब्दात्) चरु शब्द के श्रवण से (च) भी औषध धर्म होंगे।

व्याख्या—यहां 'चरु' शब्द भी होता है—प्राजापत्यं चरुम्। चरु शब्द औषध का कहने वाला है। वह औषध [धर्म] का बलवान् लिङ्ग है ॥३८॥

विवरण—चरुशब्दश्चौषधस्य वक्ता—अन्तः उष्म सिद्ध पकाया ओदन चरु कहाता है। लोकभाषा में 'विना मांड निकाले पकाया हुआ चावल' कहते हैं ॥३८॥

तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥३६॥

तस्मिंश्चाऽऽज्ये श्रपणं श्रूयते, घृते श्रपयतीति । किमतः? अत एतद् भवति । औषधविध्यन्तेन श्रपणं प्राप्यते । तत्र केवलमाज्यं विधायिष्यते । आज्यविध्यन्ते तु श्रपणमाज्यं च विधीयेयाताम् । तथा वाक्यं भिद्येत ।

तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः—इत्येतस्यापरा व्याख्या । आह । साक्षादेवेहाऽऽज्यं श्रूयते । तस्मात् तस्य विध्यन्त इति । तत उत्तरमिदम् । तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः । दार्शपौर्णमासिकं श्रपणं तस्मिंश्चाऽऽज्ये श्रूयते । गुणगतं तत्सामान्यम् । हविर्गतं तु वैशद्यं, चरुशब्दश्च । तस्मात्ते बलवती ॥३६॥

———

तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥३६॥

सूत्रार्थः—(तस्मिन्) चरु के विषय में (श्रपणश्रुतेः) घृत में पाक का श्रपण होने से (च) भी औषध धर्म होंगे ।

व्याख्या—और उस (=चरु) में आज्य में पाक सुना जाता है—घृते श्रपयतीति । इससे क्या सिद्ध होता है ? इससे यह सिद्ध होता है कि औषध विध्यन्त से पाक प्राप्त कराया जाता है । उस अवस्था में केवल आज्य का विधान किया जायेगा । आज्य का विध्यन्त मानने पर श्रपण और आज्य दोनों का विधान करना होगा । वैसा करने पर वाक्यभेद होगा ।

विवरण—औषधविध्यन्तेन श्रपणं प्राप्यते—आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश का विध्यन्त प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या चोदना से प्राप्त होने पर पुरोडाशविषयक श्रपण यहां भी प्राप्त हो जायेगा । इससे केवल घृतमात्र का विधान करना होगा । यह प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेत् वचन से विधान कर दिया गया । आज्यविध्यन्ते तु श्रपणमाज्यं च विधीयताम्—उपांशुयाज में आज्य हवि है । उसका श्रपण वहां नहीं कहा है । केवल घृत को पिघलाने मात्र के लिये 'अधिश्रयण' अग्नि पर रखने का विधान है अतः प्रकृत में श्रपण और घृत दोनों का विधान करना पड़ेगा ।

व्याख्या—तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः इसकी दूसरी व्याख्या—(आक्षेप) यहां (=प्रकृत वाक्य में) साक्षात् ही आज्य सुना जाता है । इस से उसका विध्यन्त होवे । इस आक्षेप के अनन्तर उत्तर है—तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः—दर्शपूर्णमास सम्बन्धी श्रपण उस=आज्य में सुना जाता है । यह गुणगत सामान्य है । हविर्गत सामान्य है—कठोरता और चरु शब्द । इससे ये दोनों बलवान् हैं ॥३६॥

———

[मधूदकयोरुपांशुयाजधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१६॥]

मधूदके द्रवसामान्यात् पयोविकारः स्यात् ॥४०॥ (पू०)

चित्रायामिष्टौ श्रूयते—दधि मधु घृतं पयो धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यं भवति इति । तत्र, मधूदके पयोविकारः स्यात् । कुतः ? द्रवसामान्यात् । द्रवे च मधूदके, पयोऽपि द्रवम् ॥४०॥

आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥४१॥ (उ०)

आज्यं वा, इमे विकुर्याताम्[1], उपांशुयाजस्य तयोर्विध्यन्तः स्यात् । कुतः ? वर्णसामान्यात् । समानवर्णे मधूदके आज्येन ॥४१॥

मधूदके द्रवसामान्यात् पयोविकारः स्यात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(मधूदके) मधु और उदक (द्रवसामान्यात्) द्रवत्व सामान्य से (पयोविकारः) दूध के विकार (स्यात्) होवें ।

व्याख्या—चित्रा इष्टि में सुना जाता है–दधि मधु घृतं पयो धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यं भवति (=दधि मधु घृत पयः धानाः=खीलें, तण्डुल, इनसे संसृष्ट प्राजात्य हवि होता है) । इन में मधु और उदक पयोविकार होवें । किस हेतु से ? द्रव सामान्य से । मधु और उदक द्रव हैं, पयः भी द्रव है ॥४०॥

विवरण—दधि आदि सातों हवियों का निर्देश करके तत्संसृष्ट शब्द से एक याग सूचित होता है । देवता के एकत्व से भी ऐन्द्रदध्यमावास्यायाम् ऐन्द्रपयोऽमावास्यायाम् से अमावास्या में विहित दधि पयः दो हवियों का एक ही देवता होने से एक ही याग होता है । अनेक हव्य द्रव्यों के होने पर धर्मों के विरोध में भूयस्त्व (=आधिक्य) से धर्म नियम आगे विप्रतिषिद्ध-धर्माणां समवाये भूयसां स्यात् सधर्मकत्वम् (मी० १२।२।२४) सूत्र से कहेंगे । उससे सिद्ध होने पर यह अधिकरण मधु और उदक में आज्यधर्म होवे अथवा सान्नाय्य धर्म के विवेचन मात्र के लिये है । विशेष 'टुप्'टीका में देखें ॥४०॥

आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (आज्यम्) मधु और उदक में आज्य विध्यन्त होवे (वर्णसामान्यात्) वर्ण की समानता से ।

व्याख्या—अथवा आज्य इनको विकृत करे । उपांशुयाज का उन दोनों में विध्यन्त होवे । किस हेतु से ? वर्ण के सामान्य से । मधु और उदक आज्य के समान वर्णवाले हैं ॥४१॥

---

१. 'आज्यं वा विकुर्यात ां ते' पाठान्तरम् ।

धर्मानुग्रहाच्च ॥४२॥

आज्यधर्माश्च बहवो मधूदकयोः शक्याः कर्तुमुत्पवनादयो, न तु पयोधर्मा दोहनादयः ॥४२॥

पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ॥४३॥

यत्तु पूर्वं कारणमुक्तं द्रवत्वसामान्यं, तदविशिष्टम्। आज्यमप्यग्निसंयोगाद् द्रवी भवति। तस्मादुपांशुयाजविध्यन्तो मधूदकयोरिति ॥४३॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्येऽष्टमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

विवरण—आज्यं वा इमे विकुर्याताम् का तात्पर्य है कि उपांशुयाजस्थ आज्य का जो विध्यन्त है वही इन विकृतियाग के द्रव्यों में होवे ॥४१॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥४२॥

सूत्रार्थः—मधु और उदक में आज्य के (धर्मानुग्रहात्) बहुत से धर्मों के अनुग्रह से (च) भी आज्यधर्म होवें।

व्याख्या—आज्य के उत्पवन आदि बहुत से धर्म मधु और उदक में किये जा सकते हैं। पयः के दोहनादि धर्म नहीं किये जा सकते ॥४२॥

पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(पूर्वस्य) पूर्व उक्त द्रवत्वसामान्य के (अविशिष्टत्वात्) अविशिष्ट होने से अर्थात् घृत भी अग्नि के संयोग से द्रव हो जाता है, इससे (च) भी आज्य धर्म होवे।

व्याख्या—जो पूर्व द्रवत्वसामान्यं कारण कहा है वह अविशिष्ट अर्थात् समान है। आज्य भी अग्नि के संयोग से द्रव हो जाता है। इस लिये मधु और उदक में उपांशु याज का विध्यन्त होवे ॥४३॥

अष्टमाध्याये द्वितीयः पादः

[वाजिनयागसुराग्रहयोरैष्टिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१॥]

चातुर्मास्येषु वाजिनेज्या श्रुता—वाजिभ्यो वाजिनम्[1] इति। सौत्रामण्यां च सुराग्रहाः—आश्विनं ग्रहं गृह्णाति, सारस्वतमैन्द्रम्[2] इति। तत्र संशयः—किमुभयोः सौमिको विध्यन्त उत दार्शपौर्णमासिक इति? तदुच्यते—

वाजिने सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् ॥१॥ (पू०)

वाजिने, सौत्रामण्यां च ग्रहेषु सोमपूर्वत्वम्। सौमिको विध्यन्तः। कुतः?

व्याख्या—चातुर्मास्य में वाजिन का याग श्रुत है—वाजिभ्यो वाजिनम् (=वाजिन् देवताओं के लिये वाजिन द्रव्य का होम करे। और सौत्रामणि में सुरा के ग्रह श्रुत हैं-आश्विनं ग्रहं गृह्णाति सारस्वतमैन्द्रम् (=आश्विनग्रह का ग्रहण करता है सारस्वत ग्रह का ऐन्द्र ग्रह का)। इन में संशय होता है—क्या दोनों (=वाजिन, सुरा) में सौमिक विध्यन्त होवे अथवा दर्शपूर्णमास संबन्धी विध्यन्त? इस में कहते हैं—

विवरण—गरम दूध में दही डालने से दूध के फटने पर जो घना भाग होता है उसे आमिक्षा कहते हैं और जो जल होता है उसे वाजिन कहते हैं—तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम् (मी० भाष्य २।२।२३ में उद्धृत)। सौत्रामण्यां च सुराग्रहाः—सौत्रामणि याग में सुरा की आहुतियों का विधान है। परन्तु यह सुरा मद्य (=शराब) नहीं है। इसके स्वरूप की विस्तृत विवेचना मी० भाष्य ३।५।१४ की व्याख्या में विवरण के अन्तर्गत भाग ३, पृष्ठ ९५६ पर की है। पाठक वहां देखें।

वाजिने सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(वाजिने) वाजिन याग में (सोमपूर्वत्वम्) सोम का धर्म=विध्यन्त होवे, (च) और (सौत्रामण्याम्) सौत्रामणि में (ग्रहेषु) ग्रहों में सौमिक विध्यन्त होवे। (ताच्छब्द्यात्) वाजिन और सुरा में सोमशब्द का प्रयोग होने से।

व्याख्या—वाजिन में और सौत्रामणि में जो ग्रह है उनमें सोमपूर्वत्व होवे, सौमिक विध्यन्त होवे। किस हेतु से? उस शब्द का प्रयोग होने से। सोम शब्द का प्रयोग होने से। वहां

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति। शत० २।४।४।२२॥
२. अनुपलब्धमूलम्।

ताच्छब्द्यात्, सोमशब्दत्वात् । सोमशब्दस्त्वत्र श्रूयते—सोमो वै वाजिनम्', सुरा सोमः' इति । न तावद् वाजिनं सोमो, न सुरा । न च तयोः सोमेन सादृश्यमस्ति । सादृश्याच्च परशब्दः परत्र प्रवर्तते । तस्मात् सादृश्यमत्र विधीयते । सादृश्यं चात्र सोमधर्मकत्वं शक्यं विधातुं, नान्यत् । स एष नाम्ना धर्मातिदेशो, न विध्यन्तेन । यथा, कौण्डपायिनामयनेऽग्निहोत्रे ॥१॥

अनुवषट्काराच्च ॥२॥

अनुवषट्कारं च सोमधर्मं दर्शयति, वाजिनस्य—अग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति', सुराया वीहीत्यनुवषट्करोति' इति ॥२॥

समुपहूय भक्षणाच्च ॥३॥

सोम शब्द सुना जाता है—सोमो वै वाजिनम् (=वाजिन निश्चय ही सोम है), सुरा सोमः (=सुरा सोम है) । वाजिन सोम नहीं है और सुरा भी सोम नहीं है । न इन दोनों का सोम से सादृश्य है । सादृश्य से अन्य शब्द अन्यत्र प्रवृत्त होता है । इसलिये यहां सादृश्य का विधान है । वह सादृश्य सोमधर्मत्व ही विधान किया जा सकता है, अन्य नहीं । वह यह नाम से (=सोम नाम) से धर्मों का अतिदेश कहा है, विध्यन्त से नहीं । जैसे कुण्डपायिनामयन में अग्निहोत्र में नाम से धर्मों का अतिदेश कहा है ॥१॥

विवरण—कुण्डपायिनामयनस्थ मासाग्निहोत्र के विषय में मीमांसा ७।३।१-४ में कहा है कि यहां अग्निहोत्र नाम से नित्याग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश होता है ॥१॥

अनुवषट्काराच्च ॥२॥

सूत्रार्थः—(अनुवषट्कारात्) अनुवषट्कार का विधान होने से (च) भी वाजिन और सुरा में सौमिक धर्म होंगे ।

व्याख्या—अनुवषट्कार भी सोम धर्म को दर्शाता है—वाजिन का—अग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति (=अग्ने वीहि वौषट् इस प्रकार अनु[वीहि के पश्चात्] वषट्कार करता है)। सुरा का—वीहीत्यनुवषट् करोति (पूर्ववत्) ॥२॥

विवरण—अनुवषट्कार के विषय में मी० ३।२।३७ सूत्र के भाष्य व्याख्या के विवरण (पृष्ठ ७७९-७८१) में देखें ॥२॥

समुपहूय भक्षणाच्च ॥३॥

सूत्रार्थः—यज्ञशेष सुरा को ऋत्विजों द्वारा (समुपहूय भक्षणात्) आह्वान करके भक्षण

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।　　२. शत० २।४।४।२३॥
३. अनुपलब्धमूलम् ।

समुपहूय भक्षणं च सोमधर्मः, तत्र दृश्यते। शेषं समं[1] विभज्य समुपहूय भक्षयन्ति[2] इति ॥३॥

क्रयणश्रपणपुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनं च तद्वत् ॥४॥

क्रयणादीश्च सोमधर्मान् सुरायां दर्शयति—सीसेन क्लीबात् क्रय्या,[3] कुवलसक्तुभिराश्विनं श्रीणाति[4] इति। एका पुरोरुक्, एका याज्या।[5] उपयामगृहीतोऽस्यच्छिद्राय त्वाऽच्छिद्रेणाऽऽश्विनं ग्रहं गृह्णाति[6]। गृहीत्वाऽऽसादयति[7]। त्रिरात्रं

के दर्शन से (च) भी सौमिक धर्म होवें।

व्याख्या—[ऋत्विजों को कर्मनाम होतः आदि से] आह्वान करके भक्षण करना भी सोम का धर्म वहां (=वाजिन और सुरा में) देखा जाता है—शेषं समं विभज्य समुपहूय भक्षयन्ति (=शेष हवि को बराबर बराबर विभक्त करके समाह्वान करके भक्षण करते हैं) ॥३॥

क्रयणश्रपणपुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनं च तद्वत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(क्रयण·········वासोपनहनम्) क्रय, पकाना, पुरोरुक्, 'उपयाम' आदि से ग्रह का ग्रहण, ग्रह का आसादन, वस्त्र से बान्धना कर्म (च) भी (तद्वत्) उसी प्रकार है अर्थात् सोमधर्मवत् हैं। अतः सोम धर्म होवे।

व्याख्या—क्रय आदि सोम धर्मों को सुरा में दर्शाता है—सीसेन क्लीबात् क्रय्या (=सीसा धातु से नपुंसक पुरुष से क्रय की जाये)। कुवलसक्तुभिराश्विनं श्रीणाति (=कुवल=स्थल बेर के सत्तू से अश्विन् देवताक सुरा को पकाता है)। एका पुरोरुक् एका याज्या (=एक पुरोरुक् होती है और एक याज्या)। उपयामगृहीतोऽस्यच्छिद्राय त्वाऽच्छिद्रेणाऽऽश्विनं ग्रहं गृह्णाति (=उपयामगृहीतोऽसि आदि मन्त्र से आश्विन ग्रह का ग्रहण करे)। गृहीत्वाऽऽसादयति (=ग्रह में सुरा का ग्रहण करके यथास्थान रखे)। त्रिरात्रं

---

१. 'सप्तधा' पाठान्तरम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शेषं सर्वे समुपहूय भक्षयन्ति। आप० श्रौत ८।३।१२॥ अयमुपह्वानं सोमे श्रूयते।

३. द्र०—सीसेन क्लीबाच्छष्पाणि क्रीणाति। तै० ब्रा० १।८।५।३॥

४. काठक सं० १२।१०॥ ५. काठक सं० १२।११॥

६. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—उपयामगृहीतोस्यच्छिद्रं त्वाच्छिद्रेणाश्विभ्यां जुष्टं गृह्णामीत्याश्विनमध्वर्युर्गृह्णाति। आप० श्रौत १९।२।६॥

७. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यथादेवतं यथायतनं सादयति। आप० श्रौत १९।२।१२॥

संहता वसति[1]। क्षौमे वासस्युपनद्धानि तोक्मानि शष्पाणि भवन्ति[2] इति। विधौ सति, अनेकार्थानि वाक्यानि स्युः। क्रयादीन् सीसकादींश्च विदधति। तस्मादुभयोः सौमिको विध्यन्तः ॥४॥

हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥५॥ (उ०)

संहता वसति (=तीन रात शष्पों से बनाई जानेवाली सुरा अच्छे प्रकार बन्द की हुई भूमि में दबाई हुई रहती है)। क्षौमे वासस्युपनद्धानि तोक्मानि शष्पाणि भवन्ति (=क्षौम वस्त्र में बांधे हुए तोक्म और शष्प होते हैं)। इनको विधि मानने पर अनेकार्थ वाक्य होवें। क्रयादिकों और सीसादिकों का विधान करते हैं। इससे दोनों (=वाजिन और सुरा) में सौमिक विध्यन्त होता है ॥४॥

विवरण—सौत्रामणि में पयोग्रह और सुराग्रह होते हैं। यह सुरा मद्य के समान उन्मत्त करनेवाली नहीं होती है। कात्या० श्रौत १९।१ के अनुसार सुरा बनाने के लिये विक्रेता से सीसा धातु से शष्प, ऊन से तोक्म, और सूत से लाजाओं को खरीदता है। 'शष्प' नाम व्रीहियों के उन पौधों का है जिनमें बाली में दाने पड़ गये हों, इसी प्रकार 'तोक्म' नाम उन यवों के पौधों के हैं जिनकी बालियों में दाने पड़ गये हों। लाजा धान की खीलों का नाम है। कृष्ण-यजुर्वेदियों के मत में इनका क्रय 'नपुंसक' पुरुष से करने का विधान है (द्र०—सूत्र १८,१९)। व्रीहि और श्यामाक के ओदनों को अलग-अलग अधिकतर उष्ण जल वाले पात्रों में डालकर शष्प तोक्म और लाजाओं का चूर्ण कर उनमें डालकर व्रीहि और श्यामाक ओदनों को एक बड़े घड़े में डालकर तीन रात शाला के नैर्ऋत कोने में गड्ढा खोदकर गाड़ देवे (सूत्र—२०-२१)। तीन रात में सुरा तैयार होगी। इसमें कुछ खटास आ जायेगा, पर यह मादक नहीं होगा अर्थात् यह सुरा मद्य नहीं है। सुरा शब्द का मूल अर्थ है किसी वस्तु को जल में डालकर या पीसकर उसका सार निकालना ॥४॥

हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष के निराकरण के लिये है। (हविषा) हवि के सामान्य से विध्यन्त (नियम्येत) नियमित होवे (तद्विकारत्वात्) दर्शपूर्णमास के हवि का विकार होने से।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तिस्रः संसृष्टा वसति। तै० ब्रा० १।८।५।४॥ तिस्रो रात्रीः संसृष्टा वसति। आप० श्रौत १९।१।१०॥ भाष्ये 'वसन्ति' इत्यपपाठः। सर्वत्र 'वसति' इत्यस्यैवोपलम्भात्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शष्पाणि क्रीत्वा क्षौमे वासस्युपनह्य निधाय……। आप० श्रौत १९।१।१॥

हविःसामान्येन वाऽत्र दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तो नियम्येत। कुतः ? तद्-विकारत्वात्। दार्शपौर्णमासिकस्य हविषो विकारः सुरावाजिने। औषधविकृतिः सुरा, सान्नाय्यविकृतं वाजिनम् ॥५॥

अथ यदुक्तं, ताच्छब्द्यादिति। तत्र ब्रूमः—

प्रशंसा सोमशब्दः ॥६॥

प्रशंसार्थोऽयं सोमशब्दो, न विध्यर्थः। विधायकस्याभावात्। सोमो वै वाजिनं, सुरा सोम इति। प्रकृष्टफलवत्त्वात् सोमस्य। तद्भावेन सुरावाजिनयोः प्रशंसा। यथा, सिंहो देवदत्त इति पुरुषस्य। तस्मान्नायं नाम्ना धर्मातिदेशः ॥६॥

वचनानीतराणि ॥७॥

इतराणि तु सीसक्रयादीनि वाचनिकानि। प्राप्तेरभावात्। अगत्या च

व्याख्या—अथवा हविःसामान्य से यहां दार्शपौर्णमासिक विध्यन्त नियमित होवे। किस हेतु से ? उसका विकार होने से। दार्शपौर्णमासिक हवि का विकार है सुरा और वाजिन। औषध विकृति सुरा है और सान्नाय्यविकार वाजिन ॥५॥

विवरण—सुरा के दार्शपौर्णमासिक हवि का विकार होने से इसमें दर्शपूर्णमास का विध्यन्त—पात्रासादन व्रीहि और श्यामाक के चतुर्मुष्टि ग्रहण पूर्वक फलीकरणान्त कर्म होता है। वाजिन ऐन्द्रपयः हवि का विकार होने से इसमें गोदोहनादि विधियां होती हैं ॥५॥

व्याख्या—और जो यह कहा है ताच्छब्द्यात्, उसके विषय में कहते हैं—

प्रशंसा सोमशब्दः ॥६॥

सूत्रार्थः—वाजिन और सोम के लिये प्रयुक्त (सोमशब्दः) सोमशब्द (प्रशंसा) प्रशंसार्थ है।

व्याख्या—प्रशंसा के लिये यह सोम शब्द है, विध्यर्थ नहीं है। विधायक शब्द के न होने से। सोमो वै वाजिनम्, सुरा सोमः। सोम के प्रकृष्ट (=अत्यधिक) फल के साधक होने से। उस सोम के भाव से सुरा और वाजिन की प्रशंसा जानी जाती है। जैसे सिंहो देवदत्तः कहने से देवदत्त नामक पुरुष प्रशंसा विदित होती है। इससे यह नाम (=सोम नाम) से धर्मातिदेश नहीं है ॥६॥

वचनानीतराणि ॥७॥

सूत्रार्थः—(इतराणि) अन्य 'सीसे से क्रय' आदि (वचनानि) वाचनिक हैं।

व्याख्या—इतर 'सीसे से क्रय' आदि वाचनिक हैं, प्राप्ति का अभाव होने से। कोई

वाक्यानामनेकार्थता, सगुणकर्मविधानेन ॥७॥

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥८॥

शष्पैरेव दीक्षणीयामाप्नोति, तोक्मभिः प्रायणीयां, सिंहलोमभिरातिथ्याम्[1] इति। सोमविकारत्वे प्रत्यक्षमेव दीक्षणीयादीनि प्राप्नुयुः। प्राप्तानां शष्पादिभिस्तदाप्तिवचनं नोपपद्यते ॥८॥

पशुपुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ॥९॥

पशुपुरोडाशता च ग्रहाणां श्रूयते—नैतेषां पशूनां पुरोडाशा विद्यन्ते। ग्रहपुरोडाशा ह्येते पशवः[2] इति। तन्न तावदत्र ग्रहाः पुरोडाशाः। ग्रहा एव ते। यदि तु पुरोडाशधर्मकास्तत एतदुपपद्यते। तस्मात् पौरोडाशिकस्तेषु विध्यन्तः ॥९॥

———

गति न होने से इन वाक्यों की अनेकार्थता सगुण कर्म के विधान से जाननी चाहिये ॥७॥

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥८॥

सूत्रार्थः—(व्यपदेशः) दीक्षणीयादि का कथन (च) भी (तद्वत्) उसी प्रकार के हैं जिन से सोम विकार का अभाव जाना जाता है।

व्याख्या—शष्पैरेव दीक्षणीयामाप्नोति (=शष्पों से ही दीक्षणीया को प्राप्त होता है), तोक्मभिः प्रायणीयाम् (=तोक्मों से प्रायणीया को), सिंहलोमभिरातिथ्याम् (=सिंह के लोमों से आतिथ्या को)। सोम का विकार होने पर प्रत्यक्ष ही दीक्षणीयादि इष्टियां प्राप्त होवें। प्राप्त हुई इष्टियों का शष्पादि से उनकी प्राप्ति का वचन उपपन्न नहीं होता है ॥८॥

पशुपुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ॥९॥

सूत्रार्थः—(पशुपुरोडाशस्य) पशुपुरोडाश का (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्गदर्शन (च) भी वाजिन और सुरा में पौरोडाश विध्यन्तता को जनाता है।

व्याख्या—पशुपुरोडाशता भी ग्रहों की सुनी जाती है—नैतेषां पशूनां पुरोडाशा विद्यन्ते। ग्रहपुरोडाशा ह्येते पशवः (=इन पशुओं के पुरोडाश नहीं है, ग्रहरूप पुरोडाश वाले ही ये पशु हैं)। यहां ग्रह पुरोडाश नहीं है, वे ग्रह ही हैं। यदि तो [वे ग्रह] पुरोडाश धर्मवाले हों, तो यह कथन उपपन्न होता है। इससे इनमें पौरोडाश विध्यन्त होता है ॥९॥

१. अनुपलब्धमूलानि। २. स्वल्पभेदेन तै० ब्रा० १।८।६।१॥

[अग्नीषोमीयपशोः सांनाय्यविकारस्वाधिकरणम् ॥२॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नषोमीयं पशुमालभते**' इति । तत्र सन्देहः—किं पशुः पुरोडाशविकार उत सान्नाय्यविकार इति? किं प्राप्तम् ?

पशुः पुरोडाशविकारः स्याद् देवतासामान्यात् ॥१०॥ (पू०)

पशुः पुरोडाशविकारः स्यात् । कुतः ? देवतासामान्यात् । अग्नीषोमीयः पशुः । पुरोडाशोऽपि तद्देवतय एव ॥१०॥

विवरण—पशु यागों में यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः (द्र०—शत० ३।८।३।१ सुना जाता है । पशुयाग में माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश का विधान है—वपया प्रातःसवने चरन्ति, पुराडाशेन माध्यन्दिने सवने अङ्गैस्तृतीयसवने (द्र०—मै० सं० ३।६।५) । यही पुरोडाश पशु पुरोडाश कहाता है । इसके विषय में ही कहा है । सौत्रामणि के पशुओं के पुरोडाश नहीं हैं, ग्रह ही यहां पुरोडाश हैं । कात्यायन श्रौतसूत्र १६।४।१ में ऐन्द्र सावित्र वारुण पुरोडाशों का विधान है । इस पर विचार करना चाहिये । सम्भव है यह भेद शाखा भेद के कारण हो ॥६॥

———

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (=जो दीक्षित अग्नीषोमीय पशु का आलभन करता है) । इसमें सन्देह होता है—क्या पशु पुरोडाश का विकार है अथवा सान्नाय्य का ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—हम लिख चुके हैं कि संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार सोमयागस्थ अग्नीषोमीय अन्य पशुयागों की प्रकृति है । परन्तु श्रौतसूत्रकारों ने संहिता आदि में अग्नीषोमीय के प्रकरण में पठित समस्त धर्म निरूढ पशुबन्ध के प्रकरण में पढ़े हैं । इसलिये भाष्योद्धृत कतिपय वचनों का निर्देश निरूढ पशुबन्ध में पठित श्रौतसूत्रों का किया है ।

पशुः पुरोडाशविकारः स्याद् देवतासामान्यात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(पशुः) पशु (पुरोडाशविकारः) पुरोडाश का विकार (स्यात्) होवे (देवतासामान्यात्) दोनों के समान देवता होने से ।

व्याख्या—पशु पुरोडाश का विकार होवे । किस हेतु से ? देवता के समान होने से । अग्नीषोम देवताक पशु है, पुरोडाश भी इसी देवतावाला है । [यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः इस वचन से] ॥१०॥

---

१. तै० सं० ६।१।११।६॥

प्रोक्षणाच्च ॥११॥

प्रोक्षणं पुरोडाशधर्मः पशौ दर्शयति[1]—**अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति पशुं प्रोक्षति**[2] इति ॥११॥

पर्यग्निकरणाच्च ॥१२॥

पर्यग्निकरणमपि पुरोडाशधर्मः। तदपि पशौ दृश्यते—**आहवनीयादुल्मुकेन पशुं पर्यग्निकरोति**[3] इति। तस्मात् पुरोडाशविकारः ॥१२॥

प्रोक्षणाच्च ॥११॥

सूत्रार्थः—(प्रोक्षणात्) पशु के प्रोक्षण का विधान होने से (च) भी पशु पुरोडाश का विकार है।

व्याख्या—प्रोक्षण पुरोडाश का धर्म पशु में देखा जाता है—अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति पशुं प्रोक्षति (=जल और ओषधियों से प्रीतिपूर्वक प्रोक्षण करता हूं से पशु का प्रोक्षण करता है) ॥११॥

विवरण—**प्रोक्षणं पुरोडाशधर्मः**—पुरोडाश के लिये हवि के निर्वाप के अनन्तर अग्नि आदि देवता हवि का अस्नये वो जुष्टं प्रोक्षामि आदि मन्त्रों से प्रोक्षण किया जाता है (द्र०—आप० श्रौत १।१९।१)। यह प्रोक्षण पशु में भी देखा जाता है ॥११॥

पर्यग्निकरणाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थः—(पर्यग्निकरणात्) पशु के पर्यग्निकरण का विधान होने से (च) भी पशु पुरोडाश धर्म होवे।

व्याख्या—पर्यग्निकरण भी पुरोडाश का धर्म है। वह भी पशु में देखा जाता है—आहवनीयादुल्मुकेन पशुं पर्यग्निकरोति (= आहवनीय से अङ्गारा लेकर उससे पशु का पर्यग्निकरण करता है)। इससे पशु पुरोडाश का विकार है ॥१२॥

विवरण—**पर्यग्निकरणमपि पुरोडाशधर्मः** पर्यग्निकरण का अर्थ है—हवि के चारों ओर अङ्गारे को तीन बार घुमाना। यह पर्यग्निकरण पुरोडाश का भी होता है अन्तरितं रक्षो अन्तरिता अरातय इति सर्वाणि हवींषि त्रिः पर्यग्नि कृत्वा (आप० श्रौत १।१५।८)। यह

---

१. 'दृश्यते'—पाठान्तरम्।

२. आप० श्रौत ७।१३।१०। अत्र 'पशुम्' पदं नास्ति।

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आहवनीयादुल्मुकमादायाग्नीध्रः परि वाजपतिः कविरिति त्रिः प्रदक्षिणं पर्यग्निकरोति पशुं। आप० श्रौत ७।१५।२।

सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ॥१३॥ (उ०)

सान्नाय्यं वा पशुर्विकुर्यान्न पुरोडाशम्। कुतः? तत्प्रभवत्वात्। पशुतः सान्नाय्यं प्रभवति, पशुश्च। तन्मिथः प्रत्यासन्नम्। प्रत्यासत्तिश्च लिङ्गम्। हविः-सामान्यं च देवतासामान्याद् बलीय इत्युक्तम्[1] ॥१३॥

तस्य च पात्रदर्शनात् ॥१४॥

तस्य च सान्नाय्यस्य यत् पात्रमुखा, सा पशौ दृश्यते—**यदि पशुरुखायां पचेद्**[2] इति ॥१४॥

———

पर्यग्निकरण चिरकाल पश्चात् आत्मीय बन्धु के घर पर आने पर द्वार पर थाली में दीप जलाकर आरती रूप में किया जाता है ॥१२॥

सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (सान्नाय्यम्) पशु-यागों की प्रकृति सान्नाय्य हवि है (तत्प्रभवत्वात्) सान्नाय्य=दधिपयः के पशुप्रभव होने से। इससे सान्नाय्य हवि और पशु दोनों प्रत्यासन्न हैं।

व्याख्या—अथवा सान्नाय्य पशु को विकृत करे, पुरोडाश विकृत न करे अर्थात् पशु सान्नाय्य की विकृति है न कि पुरोडाश की। किस हेतु से? तत्प्रभव होने से। पशु से सान्नाय्य (=दधि पयः) उत्पन्न होते हैं और पशु। वे दोनों आपस में समीप हैं। समीपता भी लिङ्ग है। हविसामान्य देवता सामान्य से बलवान् है यह पूर्व (मी० ८।१। अधि० १७, सू० ३२-३४) कह चुके ॥१३॥

तस्य च पात्रदर्शनात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(तस्य) सान्नाय्य के (पात्रदर्शनात्) पात्र 'उखा' के पशु में दर्शन से भी पशु सान्नाय्य का विकार है।

व्याख्या—उस सान्नाय्य का जो पात्र उखा है वह पशु में देखी जाती है—यदि पशु-रुखायां पचेत् (=यदि पशु को उखा में पकावे) ॥१४॥

———

१. मी० ८। अधि० १७। सूत्र ३२-३४॥

२. अनुपलब्धमूलम्।

[अग्नीषोमीयस्य पशोः पयोविकारत्वाधिकरणम् ।।३।।]

दध्नः स्यान् मूर्तिसामान्यात् ।।१५।। (पू०)

सान्नाय्यविकारोऽपि दध्नो विकारः स्यात् पशुः, न पयसः। कुतः ? मूर्ति-सामान्यात्। घनत्वं मूर्तिः ।।१५।।

पयो वा कालसामान्यात् ।।१६।। (उ०)

पयो वा पशुर्विकुर्यान्न दधि। सद्यःकालः पशुः, पयोऽपि सद्यःकालम्। दधि तु द्व्यहकालम्। पयोऽन्तरितं, तद्बहिरङ्गम्[1] ।।१६।।

पश्वानन्तर्यात् ।।१७।।

दध्नः स्यान्मूर्तिसामान्यात् ।।१५।।

सूत्रार्थः—सान्नाय्य विकार में भी पशु (दध्नः) दही का विकार (स्यात्) होवे, (मूर्ति-सामान्यात्) घनत्व सामान्य से।

व्याख्या—सान्नाय्य विकार भी पशु दही का विकार होवे, दूध का नहीं। किस हेतु से ? मूर्ति के सामान्य से। मूर्ति नाम घनत्व का है [पशु शरीर भी मूर्तिमान् है और दही में भी घनत्व है। दूध द्रव है।] ।।१५।।

पयो वा कालसामान्यात् ।।१६।।

सूत्रार्थः (वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (पयः) दूध पशु को विकृत करे [=दूध का विकार पशु होवे] (कालसामान्यात्) काल के समान होने से। [सान्नाय्य हवि का दूध भी उसी दिन प्रातःकाल का होता है और पशु का आलम्भन भी प्रातः काल होता है।]

व्याख्या—अथवा दूध पशु को विकृत करे [अर्थात् पशु दूध की विकृति होवे] दही विकृत न होवे। पशु सद्यः काल [उसी दिन आलम्भन किये जाने] वाला है और पयः भी सद्यः कालवाला [उसी दिन प्रातः दूहा हुआ है]। दही तो दो दिन काल वाला है [दही पूर्व-दिन सायंकाल दूहे दूध का है]। वह पयः से अन्तरित (=व्यवहित) है [पूर्व दिन सायं दूहे गये पयः से व्यवहित है उससे उत्पन्न होने से] अतः वह बहिरङ्ग है ।।१६।

पश्वानन्तर्यात् ।।१७।।

सूत्रार्थः—दूध के (पश्वानन्तर्यात्) पशु के आनन्तर्य=सामीप्यवाला होने से। [पशु से

---

१. 'पयोऽन्तरितम् तद्बहिरङ्गम्' इति पाठः क्वचिन्नास्ति।

पशोश्च पयोऽनन्तरं, तत्प्रत्यासन्नं, न दधि' ॥१७॥

द्रवत्वं चाविशिष्टम् ॥१८॥

द्रवत्वं पशुपयसोः समानम् । पशुरपि द्रवति, पयोऽपि । तस्मात् पयोविकारः पशुः ॥१८॥

[आमिक्षायागे पयोयागधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥४॥]

आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ॥१९॥ (पू०)

दूध प्राप्त होता है अतः वह पशु के समीप है। दही दूध से उत्पन्न होता है अतः वह पशु से दूर है।]

व्याख्या—पशु का पयः अनन्तर (=अव्यवहित) है। वह पशु के समीप है, दही समीप नहीं [वह दूध से व्यवहित है।] ॥१७॥

विवरण—हमारे विचार में पूर्व सूत्र के भाष्य के अन्त में छपा 'पयोऽन्तरितं तद्बहिरङ्गम्' पाठ इस सूत्र के भाष्य के अन्त में होना चाहिये ॥१७॥

द्रवत्वं चाविशिष्टम् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(द्रवत्वम्) गतिमत्त्व (च) भी (अविशिष्टम्) पशु और पयः में समान है।

विशेष सूत्र में 'द्रवत्व' लोकविज्ञात तरलत्वरूप अभिप्रेत नहीं है, अपितु द्रु गतौ से गतिमत्त्व अभिप्रेत है, पशु भी गति करता है चलता फिरता है और पयः भी तरल होने से भूमि पर गिरने पर नीचे भाग की ओर गति करता है।

व्याख्या—पशु और पयः में द्रवत्व समान है। पशु भी द्रवति=गतिमान् होता है और पयः भी [भूमि पर गिरने पर नीचे की ओर बढ़ता है।] इससे पयः का विकार पशु है ॥१८॥

आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(आमिक्षा) वैश्वदेवी आमिक्षा (उभयभाव्यत्वात्) दोनों दधि और पयः के संयोग से उत्पन्न होने वाली होने से (उभयविकारः) दोनों दधि और पयः का विकार (स्यात्) होवे।

---

१. अस्मन्मते तु पूर्वसूत्रभाष्ये पठितं 'पयोऽन्तरितं तद्बहिरङ्गम्' भाष्यमिह युज्यते।

वैश्वदेव्यामिक्षा[1], उभयोर्दधिपयसोर्विकारः स्यात् । उभयभाव्यत्वात् । उभाभ्यां हि सा भाव्यते । तत्र न गृह्यते[2] विशेषोऽस्यैव, नेतरस्येति । तस्मादुभयोः ॥१६॥

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥२०॥

एकं वा विकुर्यात्, दधि पयो वा, नोभे । चोदनैकत्वात् । एकैषा चोदना, **वैश्वदेव्यामिक्षा**, इति । सैकेन विध्यन्तेन निराकाङ्क्षी क्रियते । तस्मादेकं विकुर्यात् ॥२०॥

यत्तु न गृह्यते[2] । विशेष इति । तत्रोच्यते—

दधि संघातसामान्यात् ॥२१॥

विशेष—गरम दूध में दही डालने से दूध के फटने पर जो घना भाग होता है वह आमिक्षा कहाती है और जल वाजिन— तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा । बौधा० श्रौत ५।११॥

व्याख्या—वैश्वदेवी आमिक्षा दोनों दही और पयः का विकार होवे । दोनों से भाव्य होने से । दोनों (दधि+पयः) से ही वह उपपाद्य होती है । वहां विशेष नहीं जाना जाता है कि इसी का ही विकार होवे अन्य का नहीं । इससे दोनों का विकार है ॥१६॥

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (एकम्) एक को ही विकृत करे=एक का ही विकार होवे । (चोदनैकत्वात्)वैश्वदेवी आमिक्षा होती है इस एक ही चोदना विधि के होने से । वह एक विधि दधि वा पयः में से किसी एक विध्यन्त से निराकाङ्क्ष हो जाती है ।

व्याख्या—अथवा एक ही विकृत करे (अर्थात् एक का ही आमिक्षा विकार होवे) दधि वा पयः, दोनों विकृत न करें । चोदना के एकत्व के कारण यह एक चोदना (=विधि) है— वैश्वदेव्यामिक्षा । वह चोदना एक दधि वा पयः के विध्यन्त से निराकाङ्क्षी कर दी जाती है । इससे एक विकृत करे ॥२०॥

व्याख्या—जो यह कहा कि विशेष गृहीत नहीं होता है । इस विषय में कहते हैं—

दधि सङ्घातसामान्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(दधि) दही आमिक्षा को विकृत करे अर्थात् दही का विकार आमिक्षा होवे (सङ्घातसामान्यात्) सङ्घात घनत्व के सामान्य से ।

---

१. मै० सं० १।१०।१॥ २. 'युज्यते' पाठान्तरम् ।

संहतं दधि, आमिक्षाऽपि संहता। पयो द्रवम्। एष विशेषः। तस्माद् दध्नो विकार इति ॥२१॥

पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद् दध्नस्तदर्थत्वात् ॥२२॥ (उ०)

पयो वाऽऽमिक्षया विक्रियते, न दधि। पयःप्रधानत्वादस्य संसर्गस्य। किं प्राधान्यं पयसः? भूयस्त्वम्। प्रभूतं तत्र पयः, अल्पं दधि। दध्नश्च तदर्थत्वात्। दधि च तत्र पयो घनीभावयितुमुपादीयते। लोकवत्। लोकेऽपि पय एव घनीभावयितुं दध्युपादीयते। कथम्? दध्यभावेऽन्येनाम्लेनापि काञ्जिकादिना क्रियते। तत्रापि चाऽऽमिक्षाशब्दो भवति। दधिनियमोऽम्ले ह्यदृष्टार्थः। तस्मात् पय एवाम्लसंयोगेन घनीभूतमामिक्षेत्युच्यते। पयश्चेदामिक्षा, पयस एव विकारो न्याय्यः ॥२२॥

व्याख्या—दही संहत (=घना) है आमिक्षा भी संहत है। दूध द्रव है। यह विशेष है। इससे दही का विकार आमिक्षा होवे ॥२१॥

पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद् दध्नस्तदर्थत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (पयः) दूध आमिक्षा को विकृत करे, दधि नहीं। (तत्प्रधानत्वात्) दूध के प्रधान होने से (दध्नः) दही के (तदर्थत्वात्) दूध को फाड़कर आमिक्षा बनाने के लिये होने से, (लोकवत्) लोक के समान अर्थात् लोक में भी आमिक्षा=छेना बनाने के लिये ही दूध में दही डालते हैं।

व्याख्या—अथवा पयः ही आमिक्षा[रूप] से विकृत किया जाता है, दही नहीं। इस (=दूध और दही के) संसर्ग के पयः प्रधान होने से। पयः की प्रधानता क्या है? अधिक होना। वहां (=आमिक्षा में) दूध [का भाग] अधिक है, दही अल्प है। और दही के तदर्थ होने से। दही वहां दूध को घना (=संहत) करने के लिये ही ग्रहण किया जाता है लोक के समान। लोक में भी दूध को ही घना करने के लिये दही का उपादान (=ग्रहण) होता है। कैसे? दही के अभाव में अन्य खट्टे कांजी आदि पदार्थ से घना किया जाता है। उसमें भी आमिक्षा शब्द होता है। खट्टे पदार्थ के स्थान में दही का ही नियम अदृष्टार्थ है। इससे दूध ही खट्टे पदार्थ के संयोग से घनीभूत हुआ आमिक्षा कही जाती है। पयः ही आमिक्षा होवे तो पयः का विकार ही न्याय्य है ॥२२॥

विवरण—दधि का आमिक्षा रूप में परिवर्तन किसी भी अम्ल पदार्थ से किया जा सकता है फिर तप्ते पयसि दध्यानयति से दही विधान अपूर्व के लिये है अर्थात् दही से आमिक्षा बनाने पर ही अपूर्व उत्पन्न होता है। इसे नियमाऽपूर्व कहा जाता है। यह नियमापूर्व व्रीहि को कूट तुष हटाने, सिला पर लोढी से पीसने आदि में भी स्वीकार किया जाता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥२३॥

सद्यःकालता धर्मः पयोविकारत्वेनानुग्रहीष्यते । वैश्वदेवस्य सद्यःकालत्वात् । दधिविकारत्वे बाध्येत । वैश्वदेवोऽपि द्व्यहकालः क्रियेत । तथा तस्य धर्मो बाध्येत । सद्योभावं च दर्शयति—जुषन्तां युज्यं पयः[1] इति । यदि दध्नो विकारः स्यात्,

क्योंकि व्रीहि के तुष पृथक् करने, चावलों को पीसने के अन्य भी साधन हैं उनसे तुष विमोक न करके कूटकर ही तुष विमोक किया जाये सिला पर ही लोढी से पीसा जाये यह विधान नियमापूर्व के लिये है । ऐसे छोटे बड़े अपूर्व प्रधानापूर्व के साथ संघट होकर फल प्राप्त कराने में सहायक होते हैं । साम्प्रतिक याज्ञिक लोग प्रायः व्रीहि का कूटना चावलों का पीसना आदि कार्य कर्म के समय नहीं करते पहले से ही चावल पिसा पिसाया आटा लेकर निमित्त मात्र के लिये उसका कुछ भाग उसे ऊखल में डालकर कूटने की और सिला पर डालने की क्रिया मात्र करते हैं । यदि नियम विशेष से अपूर्व होता है तो इन याज्ञिकों का कर्म अवश्य ही नियमापूर्व से शून्य होगा । पिसे पिसायों को कूटने या पीसने का नाटक करने से तो नियमापूर्व उत्पन्न नहीं होगा । हमारे विचार में चार मुट्ठी या आठ मुट्ठी व्रीहि को कूट कर तुष विमोक करना और सिला पर पीसना कार्य की सरलता के लिये है । दर्शपौर्णमास की समस्त विधि पाठ विद्या का बोध कराने के लिये है । यह इन कर्मों का अन्य दृष्ट फल है । हां, जहां नखों से निर्भिन्न (=तुष हटाये गये) कृष्ण व्रीहियों का विधान है (नैर्ऋतं चरुं परिवृक्त्यै गृहे कृष्णानां व्रीहीणां नखनिर्भिन्नम् तै० सं० १।८।९।१) आदि श्रुत है वहां नखों से तुष के विमोचन रूप क्लिष्ट कर्म का विधान नियमापूर्व के लिये माना जा सकता है ॥२२॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥२३॥

सूत्रार्थः—(धर्मानुग्रहात्) सद्यःकालता धर्म के अनुग्रह से (च) भी आमिक्षा पयः का विकार है ।

व्याख्या—सद्यःकालता (=उसी दिन होना रूप) धर्म पयः के विकार रूप से आमिक्षा को अनुगृहीत करेगा । वैश्वदेव के सद्यःकालवाला होने से, [आमिक्षा के] दधि विकार होने पर बाधित होवे । वैश्वदेव भी दो दिन कालवाला किया जाये । उस अवस्था में इस (=वैश्वदेव) का [सद्यःकालता] धर्म बाधित होवे । [श्रुति वैश्वदेव के] सद्यःभाव को दर्शाती है—जुषन्तां युज्यं पयः (=विश्वेदेव योग्य दूध का सेवन करें) । यदि दधि का

१. इद वचन तै॰सं॰ २।४।१४।५ स्थाने पूर्वविहितानां काम्येष्टीनां याज्यापुरोनुवाक्या-प्रकरणे पठितम् । तत्र 'पयः' शब्दस्य भट्टभास्करेण 'पयसि चरुः' इत्यर्थ उक्तः, सायणाचार्येण 'पयः क्षीरवत् सारभूतं हविः' इत्यर्थो निर्दिष्टः । इह वैश्वदेवपर्वविषयकं वचनमनुसन्धेयम् ।

तथा द्व्यहकालभवो दातव्यं, न कथंचन पयः स्यात्। तत्रैतद् दर्शनं नोपपद्यते। तस्मात् पयोविकार आमिक्षा,[1] दध्नश्चाधर्मकत्वम् ॥२३॥

———

[सत्राहीनयोः सत्राहीनोभयात्मकद्वादशाहधर्माणां व्यवस्थयाऽतिदेशाधिकरणम् ॥५॥]

द्वादशाहोऽहर्गणः—प्रायणीयोऽतिरात्रः, पृष्ठ्यः षडहः, त्रयश्छन्दोमाः। अविवाक्यमहः, उदयनीयोऽतिरात्र इति। स उभयसंज्ञकः, सत्रमहीनश्च। कथं ज्ञायते? अभियुक्तानामुपदेशात्। एवं ह्युपदिशन्ति—सत्रमहीनश्च द्वादशाहः[2] इति। शब्दार्थाधिगमे चाभियुक्तोपदेशः प्रमाणम्। संज्ञाव्यवस्थया च तस्य धर्मा

विकार होवे तो दो दिन कालवाला दिया जाये, [वह पूर्व दिन का] किसी प्रकार पयः न होवे [अर्थात् वह विकृत हो जायेगा]। वहां यह दर्शन (=जुषन्तां युज्य. पयः) उपपन्न नहीं होता है। इससे पयोविकार आमिक्षा है, दही का धर्मत्व नहीं है ॥२३॥

विवरण—वैश्वदेवस्य सद्य:कालत्वात्—चातुर्मास्य का वैश्वदेव पर्व एक दिन साध्य होने से सद्यः कालवाला है। दधिविकारत्वे बाध्येत—दर्शेष्टि में ऐन्द्र दधि का विकार होवे तो वैश्वदेवपर्व की सद्यः कालता का बाध होवे। दर्शेष्टि में याग-दिन से पूर्व दिन सायं गायों का दोहन करके दही जमाया जाता है। इस प्रकार दर्शेष्टि के समान ही वैश्वदेव पर्व भी दो दिन साध्य होगा। सद्योभावं च दर्शयति—यहां जो मन्त्रांश उद्धृत किया गया है उसमें युज्यं पयः योग्य=सेवनार्ह पयः का निर्देश सद्यः कालता में प्रमाण है।

विशेष—भाष्यकार द्वारा उद्धृत पयःविषयक जुषन्तां युज्यं पयः मन्त्रांश हमें वैश्वदेव पर्व विषयक प्राप्त नहीं हुआ। तै० सं० २।४।१४।५ में निर्दिष्ट मन्त्र पूर्वोक्त काम्येष्टियों के याज्यानुवाक्या प्रकरण में है ॥२३॥

———

व्याख्या—द्वादशाह संज्ञक अहर्गण है—(१) प्रायणीय अतिरात्र, (२-७) पृष्ठ्य षडह, (८-१०) तीन छन्दोम, (११) अविवाक्य संज्ञक अहः और (१२) उदयनीय अतिरात्र। यह द्वादशाह सत्र और अहीन दोनों संज्ञाओं वाला है। कैसे जाना जाता है? अभियुक्तों (=प्रामाणिक) पुरुषों के उपदेश से। ऐसा ही उपदेश करते हैं—सत्रमहीनश्च द्वादशाहः (=द्वादशाह सत्र और अहीन संज्ञक है)। शब्दार्थ के जानने में अभियुक्तों का उपदेश प्रमाण होता

---

१. 'पयोविकारश्चाऽऽमिक्षा' पाठान्तरम्।
२. द्र०—द्वादशाहः सत्रमहीनश्च। कात्या० श्रौत १२।१।४॥

आम्नाताः—एको द्वौ बहवो वाऽहीनेन यजेरन्।[1] तान् अदीक्षिता याजयेयुः।[2] गृहपतिसप्तदशाः स्वयमृत्विजो ब्राह्मणाः सत्रमुपेयुः[3] इत्येवमादयः। धर्मभेदाच्च संज्ञाव्यवस्था। यथा—ब्राह्मणः, परिव्राट्, वानप्रस्थ इति तद् दशमेऽध्याये वक्ष्यते—द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात्,[4] यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चास्थितपरिमाणत्वाद्[5] इति। स द्विरात्रादिष्वहर्गणेषु प्रवर्तत इत्युक्तम्—गणेषु द्वादशाहस्य[6] इति। तत्र संदिह्यते—किमुभयप्रकारोऽसौ विकृतौ प्रवर्तते, उत व्यवस्थया, क्वचिदहीनभूतः, क्वचित् सत्रभूत इति। किं प्राप्तम्?

है। इस द्वादशाह के संज्ञा की व्यवस्था से धर्म आम्नात हैं—एको द्वौ बहवो वाऽहीनेन यजेरन्, तान् अदीक्षिता याजयेयुः (=अहीन संज्ञक द्वादशाह से एक दो वा बहुत व्यक्ति यजन करें। उनको अदीक्षित व्यक्ति यजन करायें), गृहपतिसप्तदशाः स्वयमृत्विजो ब्राह्मणाः सत्रमुपेयुः (=गृहपति सत्रहवां जिनमें हैं वे स्वयं ऋत्विग् बनकर ब्राह्मण सत्र को प्राप्त होवें) इत्यादि। धर्म के भेद से संज्ञा की व्यवस्था होती है। जैसे ब्राह्मण परिव्राट् (=संन्यासी) और वानप्रस्थ संज्ञक होता है। यह दशमाध्याय में कहेंगे—द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात्, यजतिचोदनादहीनत्वं स्मामिनां चास्थितपरिमाणत्वात् (=द्वादशाह का सत्रत्व 'आसीरन्' अथवा 'उपेयुः' शब्दपठित विधिवाक्य से विहित और यजमानों के बहुत्व से युक्त सत्र शब्द के सम्बन्ध से, 'यजेत' इस विधि से विहित द्वादशाह अहीन होता है और स्वामियों के नियत परिमाण वाला होने से)। वह द्वादशाह द्विरात्र आदि अहर्गणों में प्रवृत्त होता है. यह कह चुके गणेषु द्वादशाहस्य (=द्विरात्रादि अहर्गणों में द्वादशाह के धर्म प्रवृत्त होते हैं)। उनमें सन्देह होता है—क्या यह दोनों प्रकार का द्वादशाह विकृति में प्रवृत्त होता है अथवा व्यवस्था से, कहीं अहीनरूप और कहीं सत्ररूप? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—प्रायणीयोऽतिरात्रः इत्यादि—इस वाक्य से द्वादशाह के १२ दिनों में कर्म भेद कहे हैं। इस गणना से अविवाक्य अहः ग्यारवां है। परन्तु बहुत अविवाक्यं दशमोऽहः कहा गया है। तै० सं० ७।३।१ में अहीन द्वादशाह के प्रकरण में दशम दिन को अविवाक्य कहकर उसके विषय में विशेष कहा गया है। भट्टभास्कर ने लिखा है—प्रायणीयोदयनीयौ विना दशाह-

---

१. द्र०—'एको द्वादशाहेन यजेत, त्रयः षड् द्वादश त्रयोदश वा' इत्यादि। आप० श्रौत २१।१।११-१५॥ काठकसंहितायामपि प्रकरणमिदं श्रूयते (३५।९)।

२. अत्र भाष्यपाठे 'तान् दीक्षिता' इति दृश्यते। तदपपाठः। काठकसंहितायां 'तं मासा दीक्षितमदीक्षिता अयाजयन्। तस्माद् दीक्षितमदीक्षिता याजयन्ति (३५।९) इति प्रत्यक्षं श्रूयते।

३. अनुपलब्धमूलम्। ४. मी० १०।६।५९॥

५. मी० १०।६।६०॥ ६. मी० ८।१।१७॥

सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥२४॥

तस्योभयथा प्रवृत्तिः स्यात् । ऐककर्म्यात् । उभयविधस्तत्र प्रवर्तेत । कुतः? ऐककर्म्यात् । एकमिदं कर्मोभयविधमित्युक्तम् । न तस्य प्रवृत्तौ विशेषो गृह्यते, इहैवंविध इह नेति । तस्मादुभयविधः प्रवर्तेत । नन्वेका चेद् द्विधा प्रवृत्ता, द्वितीयया कार्यं नास्ति । ऐककर्म्याद् विकल्पो भविष्यति । यथा, आग्नेयविकारेष्वभिमर्शनस्य ॥२४॥

अपि वा यजतिश्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात् प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥२५॥ (उ०)

त्वम् अर्थात् द्वादशाह के आद्यन्त प्रायणीय उदयनीयसंज्ञक दिनों को छोड़कर अविवाक्य दसवां होता है । इस दिन कार्य के बाहुल्य से ऋत्विक् लोग अतित्वरा से कार्य करते हैं । उनके पास कौन कर्म आगे या पीछे करना चाहिये इस विचार के लिये समय ही नहीं होता । अतः भट्टभास्कर ने इसकी व्युत्पत्ति "न विवक्तव्यमस्मिन्, अधिकरणे ण्यत् 'ययतोश्चातदर्थे' (अष्टा० ६।२।१५५) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । यद्वा विवक्तव्यं विवाक्यं, तदस्मिन्नास्तीति अविवाक्यम् । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (अष्टा० ६।२।१७१) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्" (तै० सं० ७।३।१ भाष्य में) । अन्य संज्ञाओं का अभिप्राय कर्मकाण्डीय शास्त्रों में देखें । सत्रमहीनश्च—अहीन शब्द में अह्नः खः क्रतौ (महा० वार्तिक ४।२।४२) से समूहार्थ में ख (=इन) प्रत्यय होता है । ब्राह्मणः परिव्राट् वानप्रस्थः—ब्राह्मण ही तत्तद् आश्रमों के धर्म भेद से वानप्रस्थ और परिव्राट् (=संन्यासी) कहाता है ।

सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(सत्रमहीनश्च द्वादशाहः) द्वादशाह सत्र और अहीन दोनों संज्ञाओं वाला है । (तस्य) उस द्वादशाह का (उभयथा प्रवृत्तिः) सत्र और अहीन दोनों की अहर्गणों में प्रवृत्ति (स्यात्) होवे (ऐककर्म्यात्) एक कर्म होने से अर्थात् एक कर्म की ही दोनों विधाएं कहीं हैं ।

व्याख्या—उस [द्वादशाह] की उभयथा (=सत्र और अहीन रूप से) [अहर्गणों में] प्रवृत्ति होवे । किस हेतु से ? एक कर्म होने से । यह एक कर्म है दोनों प्रकार का यह कह चुके । उसकी प्रवृत्ति में विशेष गृहीत नहीं होता—यहां इस प्रकार का, यहां नहीं । इससे दोनों प्रकार का प्रवृत्त होवे । (आक्षेप) यदि एक प्रकार प्रवृत्त हुआ है तो दूसरे प्रकार का कार्य नहीं है ? (समाधान) एक कर्म होने से विकल्प होगा [कभी सत्र धर्म, कभी अहीन धर्म] । जैसे—आग्नेय विकारों में अभिमर्शन का [द्र०—सौर्ये चरावभिमर्शनद्वयस्य विकल्पाधिकरणम् । मी० अ० ८, पाद १, अधि० १५, सूत्र २६ ॥२४॥

अपि वा यजतिश्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात् प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥२५॥

अपि वा—नैतदेवं सर्वत्रोभयथा प्रवृत्तिरिति । यत्र यजतिः श्रूयते, तत्राहीनभूतस्य प्रवृत्तिः । पारिशेष्याद् यत्राऽऽसनोपायिचोदना, तत्र सत्रभूतस्य । कस्मात् ? प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् । प्रकृत्या हि विकृतिस्तुल्यशब्दा भवति । तस्माच्चोदनासामान्यात् प्रकृतिनियमः । अहीनभूतश्च यजतिचोदनः—**द्वादशाहेन प्रजाकामो यजेत**[1] इति । सत्रभूत आसनोपायिचोदनः—**द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः**[2], **द्वादशाहमृद्धिकामा उपासीरन्**[2] इति ।।२५।।

अत्राऽऽह । के पुनस्तेऽहर्गणा यजतिचोदनाः, येष्वहीनभूतः प्रवर्तते । के वाऽऽसनोपायिचोदनाः, येषु सत्रभूत इति । तदुच्यते—

सूत्रार्थः (अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (यजतिश्रुतेः) यजति के श्रवण से [अर्थात् जहां 'यजति' का श्रवण है वहां] (अहीनभूतप्रवृत्तिः) अहीनभूत द्वादशाह की प्रवृत्ति (स्यात्) होवे; (प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात्) प्रकृति के साथ तुल्य शब्द होने से ।

इसका यह भाव है कि प्रकृति (=अहीन द्वादशाह) में द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत् विधि में 'यजति' शब्द है । द्विरात्रादि अहर्गणों में य एवं विद्वान् द्विरात्रेण यजेत में भी प्रकृति तुल्य 'यजति' शब्द होने से प्रकृति यजति के तुल्य प्रकृति होने से द्विरात्रादि में अहीनभूत द्वादशाह की प्रवृत्ति होगी ।

व्याख्या—अपि वा, ऐसा नहीं है कि सर्वत्र उभयथा प्रवृत्ति होवे । जहां यजति शब्द सुना जाता है वहां अहीनभूत द्वादशाह की प्रवृत्ति होती है । परिशेषत्व से—जहां आसना (=आसीत आदि) उपायी (=उपेयुः) चोदना है वहां सत्रभूत द्वादशाह की प्रवृत्ति होती है । किस हेतु से ? प्रकृति के साथ तुल्यशब्दत्व होने से । प्रकृति के साथ विकृति तुल्य शब्द वाली होती है । इससे चोदना सामान्य से प्रकृति का नियम जानना चाहिये । अहीनभूत द्वादशाह 'यजति' चोदनावाला है—द्वादशाहेन प्रजाकामो यजेत (=द्वादशाह से प्रजा की कामनावाला यजन करे) । सत्रभूत द्वादशाह आसना उपायि चोदनावाला है - द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः (=ऋद्धि की कामनावाले द्वादशाह को प्राप्त होवें), द्वादशाहमृद्धिकामा उपासीरन् (=ऋद्धि की कामनावाले द्वादशाह में बैठें ।।२५।।

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—वे कौन से अहर्गण 'यजति' चोदनावाले हैं, जिनमें अहीनभूत [द्वादशाह] प्रवृत्त होता है ? तथा कौनसे 'आसन' और 'उपायि' चोदनावाले हैं जिनमें सत्रभूत प्रवृत्त होता है । यह कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेत । तै० सं० ७।२।९।१।। य एवं विद्वान् द्वादशाहेन यजते । तै० सं० ७।२।१०।१।। २. अनुपलब्धमूलम् ।

द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजतिचोदनात् ॥२६॥

द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वम् । तत्राहीनभूतः प्रवर्तते । तेषां यजतिशब्देन चोदनात् । 'द्विरात्रेण यजेत'[1] इति ॥२६॥

त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायिचोदनात् ॥२७॥

'त्रयोदशरात्रमृद्धिकामा उपेयुः,'[2] 'चतुर्दशरात्रं प्रतिष्ठाकामा उपासीरन्'[3] इति सुहृद्भूत्वाऽऽचष्टे ।

एवं वा । यस्माद् यजतिचोदनोऽहीनस्तस्माद् द्विरात्रादीनामप्यहीनत्वम् ।

द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजतिचोदनात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(द्विरात्रादीनाम्) द्विरात्रादिकों का (आ एकादशरात्रात्) एकादशरात्र पर्यन्त (अहीनत्वम्) अहीनत्व है (यजतिचोदनात्) 'यजति' चोदना होने से ।

व्याख्या—द्विरात्रादिकों का एकादशरात्र पर्यन्त अहीनत्व है । वहां अहीनभूत [द्वादशाह] प्रवृत्त होता है । उनकी 'यजति' शब्द से चोदना होने से । द्विरात्रेण यजेत (=द्विरात्र से यजन करे) ॥२६॥

त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायिचोदनात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(त्रयोदशरात्रादिषु) त्रयोदशरात्र आदि में (सत्रभूतः) जो सत्रभूत (तेषु) उनमें (आसनोपायिचोदनात्) 'आसन' और 'उपाय' चोदना होने से सत्रभूत द्वादशाह प्रवृत्त होता है ।

व्याख्या—त्रयोदशरात्रमृद्धिकामा उपेयुः, चतुर्दशरात्रं प्रतिष्ठाकामा उपासीरन् (=ऋद्धि की कामनावाले त्रयोदशरात्र को प्राप्त होवें, प्रतिष्ठा की कामनावाले चतुर्दशरात्र के लिये बैठें) यह सुहृद् होकर आचार्य कहते हैं ।

विवरण—सुहृद्भूत्वाऽऽचष्टे—इस पङ्क्ति का सम्बन्ध २६-२७ दोनों सूत्रों के साथ है (द्र०—अगली 'एवं वा' व्याख्या) । इसका तात्पर्य यह है कि २६-२७ से जो बात कही है वह पूर्व २५वें सूत्र से गतार्थ हो जाती है । पुनरपि छात्रों को तत्त्व समझने में क्लिष्टता न हो, इसलिये सूत्रकार ने ये २६-२७ सूत्र रचे हैं । महाभाष्य में पतञ्जलि के लिये अनेक स्थानों पर सुहृद्भूत्वाऽऽचार्य अन्वाचष्टे आदि का निर्देश किया है ।

व्याख्या—अथवा इस प्रकार—जिस कारण यजति चोदनावाला अहीन होता है इसलिये द्विरात्रादि का भी अहीनत्व होवे, वे भी 'यजति' चोदनावाले हैं । जिस कारण

---

१. द्र०—सत्या० श्रौत १७।६।१॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—ताण्ड्य २३।१।५॥ ३. अनुपलब्धमूलम् ।

तेऽपि हि यजतिचोदनाः । यस्मादासनोपायिचोदनं सत्रं तस्मात् त्रयोदशरात्रादीनि सत्राणि । तान्यपि तच्चोदनानीति ॥२७॥

लिङ्गाच्च ॥२८॥

अग्निष्टोमो वै प्रजापतिः, स उत्तरानेकाहानसृजत । तमेतं द्विरात्रादयोऽहर्गणा ऊचुस्त्वमस्मान् मा हासीरिति । तदेषामहीनत्वम्[1] इति द्विरात्रादीनामहीनत्वं दर्शयति ॥२८॥

———

'आसन' 'उपायि' चोदनावाले सत्र होते हैं इस कारण त्रयोदशरात्रादि सत्र हैं । वे भी उस (= 'आसन' 'उपायि') चोदनावाले हैं ॥२७॥

लिङ्गाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी द्विरात्रादि का अहीनत्व जाना जाता है। [लिङ्ग भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—अग्निष्टोमो वै प्रजापतिः स उत्तरानेकाहानसृजत । तमेतं द्विरात्रादयोऽहर्गणा ऊचुस्त्वमस्मान् मा हासीरिति । तदेषामहीनत्वम् (= अग्निष्टोम प्रजापति है । उसने उत्तर एकाहों को उत्पन्न किया । उसको द्विरात्रादि अहर्गणों ने कहा तू हमको मत छोड़ । यही इनका अहीनत्व है) । यह द्विरात्रादि के अहीनत्व को दर्शाता है ॥२८॥

विवरण—उपर्युक्त अर्थवाद के अनुसार 'अ+हीन=अहीन' अर्थात् अग्निष्टोम से हीन=रहित न होना, अर्थ दर्शाया गया है । यह केवल अर्थवाद मात्र है । अर्थवादों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता यह वैदिकों का सिद्धान्त है । इस अर्थवाद का तात्पर्य केवल अहीनों की प्रशंसामात्र है । यदि उक्त तात्पर्य स्वीकार कर लिया जाये तो 'अहीन' शब्द तत्पुरुषे तुल्यार्थ-तृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः (अष्टा० ६।२।२) से पूर्वपदाद्युदात्त होने से 'अ' उदात्त होना चाहिये । परन्तु अहीन शब्द सर्वत्र मध्योदात्त है । अतः अहर्गण अर्थ के लिये अहन् शब्द से तस्य समूहः अर्थ में अह्नः खः क्रतौ वार्तिक (महाभाष्य ४।२।४३) से ख=ईन प्रत्यय होता है । प्रत्ययाद्युदात्तत्व (द्र०—अष्टा० ३।१।३) होकर मध्योदात्तत्व उपपन्न होता है ।२८।

———

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[पञ्चदशरात्रकुण्डपायिनामयनयोः सत्रत्वात् सत्रात्मकद्वादशाहधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥६॥]

अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात् पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् ॥२९॥ (पू०)

पञ्चदशरात्रं, कुण्डपायिनामयनं चोभावप्यहीनौ । कस्मात् ? अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात् । उभावप्येतावन्यतरतोऽतिरात्रौ, तेनाहीनाविति[1] । पञ्चदशरात्रस्तावत्—**त्रिवृद् अग्निष्टुद् अग्निष्टोमस्त्रिरात्रो दशरात्र उदयनीयोऽतिरात्रः**[2] इति । कुण्डपायिनामयनमपि—**मासमग्निहोत्रं जुह्वति** इत्यारभ्य यावद् **दशरात्रो महाव्रतमुदयनीयोऽतिरात्र**[3] इति । यश्चान्यतरतोऽतिरात्रः, सोऽहीनः । कथं ज्ञायते? तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् । तद्भूतेषु—अन्यतरतोऽतिरात्रभूतेष्वहीनत्वं श्रूयेत—**यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः**[4] इति ॥२९॥

अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात् पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं, कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(अन्यतरतः) आदि वा अन्त में एक ओर (अतिरात्रत्वात्) अतिरात्र होने से (पञ्चदशरात्रस्य) पञ्चदशरात्र का (अहीनत्वम्) अहीनत्व है, (कुण्डपायिनामयनस्य) कुण्डपायिनामयन का (च) भी अहीनत्व है (तद्भूतेषु) वैसा होनेवालों अर्थात् एक ओर अतिरात्रवालों में (अहीनत्वस्य) अहीनत्व के (दर्शनात्) दर्शन से । [विशेष आगे भाष्यविवरण में देखें ।]

व्याख्या—पञ्चदशरात्र और कुण्डपायिनामयन दोनों अहीन हैं । किस हेतु से ? अन्यतरतः (=दोनों ओर=आदि अन्त में से एक ओर) अतिरात्र होने से । ये दोनों भी एक ओर अतिरात्र वाले हैं, इससे अहीन हैं । पञ्चदशरात्र—त्रिवृद् अग्निष्टुद् अग्निष्टोमस्त्रिरात्रो दशरात्र उदयनीयोऽतिरात्रः (=त्रिवृत् अग्निष्टुत् अग्निष्टोम, [ज्योतिर्गौ आयुः संज्ञक] त्रिरात्र, दशरात्र और उदयनीय अतिरात्र) । कुण्डपायिनामयन भी—मासमग्निहोत्रं जुह्वति से आरम्भ करके दशरात्रो महाव्रतमुदयनीयोऽतिरात्रः (=दशरात्र महाव्रत उदयनीय अतिरात्र) पर्यन्त । जो एक ओर अतिरात्रवाला है वह अहीन होता है । कैसे जाना जाता है ? उस प्रकार के कर्मों में अहीनत्व के दर्शन से । उस प्रकार के=एक ओर अतिरात्रभूतों में अहीनत्व सुना जाता है- यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः (=जो एक ओर अतिरात्रवाला है वह अहीन होता है) ॥२९॥

---

१. 'तेनाहीनाविति' क्वचिन्नास्ति। २. अनुपलब्धमूलम् ।
३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—ताण्ड्य ब्रा० २५।४।१॥ ४. अनुपलब्धमूलम् ।

विवरण—अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात्—इसी सूत्र के भाष्य के अन्त में **यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः** श्रुति उद्धृत की है। अन्यतर शब्द का अर्थ है दो में से एक। सत्रों के दोनों ओर अतिरात्र होता है। आरम्भ में प्रायणीय अतिरात्र और अन्त में उदयनीय अतिरात्र, और अहीन में एक ओर अन्त में ही अतिरात्र होता है—**उभयतोऽतिरात्रं सत्रम्, उपरिष्टादहीनस्य** (कात्या० श्रौत १२।१।६)। अतः अन्यतर का अर्थ दोनों ओर में से एक ओर होने पर भी यहां अभिप्राय अन्त में विहित अतिरात्र से जानना चाहिये। भट्टकुमारिल ने अगले ३२वें सूत्र की टुप्टीका में लिखा है—**न चेदृग् वचनमस्ति योऽन्यतरतोऽतिरात्रः सोऽहीनः** (=यहां कोई ऐसा वचन नहीं है कि जो अन्यतर अतिरात्रवाला होवे वह अहीन होता है)। भट्टकुमारिल द्वारा इस अर्थ वाले वचन के न होने की स्थिति में भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन विचारणीय हो जाता है। भाष्यकार और भट्टकुमारिल दोनों में से एक का ही कथन युक्त हो सकता है। हमारे विचार में भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन भट्टकुमारिल को उपलब्ध न होने से उसने प्रौढिवाद से **न चेदृग्वचनमस्ति** लिखा होगा। अस्तु

पञ्चदशरात्रस्तावत्—त्रिवृत्=९ संख्याक स्तोमवाला अग्निष्टुत् अन्त में अग्निष्टोम सामवाला अग्निष्टोमसंस्थाक सोमयाग १ दिन, ज्योति गौः आयुः संज्ञक तीन अतिरात्र ३ दिन, दशरात्र १० दिन, उदयनीय अतिरात्र १ दिन, मिलकर १५ दिन वाला पञ्चदशरात्र याग होता है।

कुण्डपायिनामयनेऽपि—कुण्डपायिनामयन एक वर्ष साध्य सत्र है। इसका विधान ताण्ड्यब्राह्मण अ० २५ खण्ड ४ कण्डिका १-५ तक मिलता है। इसमें १ मास अग्निहोत्र, १ मास दर्शपूर्णमास, १ मास वैश्वदेव, १ मास वरुणप्रघास, १ मास साकमेध, १ मास शुनासीर्य (=६ मास), १ मास [1]त्रिवृत् स्तोमवाला सोमयाग, १ मास पञ्चदश स्तोमवाला, १ मास सप्तदश स्तोमवाला, १ मास एकविंश स्तोमवाला, १ मास त्रिणव (२७) स्तोमवाला सोमयाग होता है (=५ मास)। इस प्रकार ११ मास पूरे होते हैं। १२वें महिने के आरम्भ में १८ दिन त्रयस्त्रिंशत् स्तोमवाला सोमयाग, द्वादशाह के मध्य के १० दिन, महाव्रत १ दिन, उदयनीय अतिरात्र १ दिन मिलाकर १२वां मास पूर्ण होता है। आरम्भ के मास (अग्निहोत्र से शुनासीर्य पर्यन्त) हविर्यज्ञवाले हैं और उत्तर के ६ मास सोमसम्बन्धी हैं (द्र०—तां० ब्रा० [२५।४।१] सायणभाष्य)।

---

१. त्रिवृत् स्तोम से लेकर त्रयस्त्रिंशत् स्तोम तक के जो सोमयाग कहे गये हैं उनकी कात्या० श्रौत के एकाह निरूपण के अ० २२, कं० ६ सूत्र २६—**पृष्ठ्यस्तोमाः त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंशाः** के साथ करें। इसकी व्याख्या में लिखा है—**पृष्ठ्यस्तोमसंख्याकाः षट् क्रतवो भवन्ति त्रिवृदादयः**। वस्तुतः इनका स्वरूप यज्ञशास्त्रकुशल एवं कर्मकुशल विद्वानों से ही जाना जा सकता है। इसमें हमारी विशेष गति नहीं है।

अहीनवचनाच्च ॥३०॥

अहीन इति चायं पञ्चदशरात्रः प्रत्यक्षमुक्तः। 'यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः इति । तस्मादप्यहीन इति ॥३०॥

सत्रे वोपायिचोदनात् ॥३१॥ (उ०)

सत्रे वैते, नाहीनौ । कुतः ? उपायिचोदनात् । य एव भूतिकार्यमिच्छन्तस्त एनं पञ्चदशरात्रमुपेयुः[1] । कुण्डपायिनामयनेऽपि—भूतिकामा उपेयुः[2] इति । कः पुनरेतयोर्लिङ्गयोर्विशेषः । चोदनागतमेकं, वाक्यान्तरगतमन्यच्च । चोदनागतं यत् तदन्तरङ्गं भवति, बहिरङ्गमितरत् ।

इस सत्र का कुण्डपायिनामयन नाम इसलिये है कि इसमें सोम का पान चमसों के स्थान में कुण्डाकृतिवाले [दण्डरहित चमस] पात्रों से होता है—ते सर्वे कुण्डपायिनोऽत्सरुकैश्चमसैर्भक्षयन्ति (ताण्ड्य २५।४।४) । अत्सरुर्नाम दण्डरहितः मध्येऽत्यन्तमवनतः स्थूलः पात्रविशेषः इति सायणः ॥२९॥

अहीनवचनाच्च ॥३०॥

सूत्रार्थः—पञ्चदशरात्र के सम्बन्ध में (अहीनवचनात्) अहीन वचन से (च) भी अहीनत्व है । [वचन भाष्य में देखें]

व्याख्या—यह पञ्चदशरात्र 'अहीन' नाम से प्रत्यक्ष कहा गया है—यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः (पूर्व सूत्र के भाष्य में भी पठित है) ॥३०॥

सत्रे वोपायिचोदनात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(सत्रे) ये दोनों=पञ्चदशरात्र और कुण्डपायिनामयन सत्र हैं (उपायिचोदनात्) 'उपेयुः' चोदनावाले होने से ।

व्याख्या—ये दोनों सत्र हैं । किस हेतु से ? उपायि चोदना से । य एव भूतिकार्यमिच्छन्तस्त एनं पञ्चदशरात्रमुपेयुः (=जो भूतिकार्य की इच्छा करते हैं वे इस पञ्चदशरात्र को प्राप्त होवें) । कुण्डपायिनामयन में भी—भूतिकामा उपेयुः (=भूति की कामनावाले प्राप्त होवें) । इन दोनों लिङ्गों में क्या विशेष है ? एक चोदनागत लिङ्ग है, दूसरा वाक्यान्तरगत । चोदनागत जो लिङ्ग है वह अन्तरङ्ग होता है, दूसरा (=वाक्यगत) बहिरङ्ग ।

विवरण—एतयोर्लिङ्गयोर्विशेषः—सत्रत्व बोधक लिङ्ग और अहीनत्व बोधक लिङ्गों में

---

१. 'पुणे' संस्करणे 'तदन्य०' इत्यपपाठः । पूर्वसूत्रभाष्यान्तेऽपीयं श्रुतिरुद्धृता, तत्र 'पुणे' संस्करणे 'यदन्य०' शुद्धः पाठः । २. अनुपलब्धमूलम् ।

अयं चापरो विशेषः। अहीनलिङ्गेन च नित्येनाहीनस्य संस्तुतिर्नोपपद्यते। उपपत्त्यैतदहीनत्वमुच्यते, [1]यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीन इति सा यदि तावदुपपत्तिः साधिका, ततोऽन्तरेणापि वचनं, सिद्धमहीनत्वम्। अथ न साधिका, उच्यमानमपि न सिध्यति। तस्मान् नैतद् वचनम्। किं तर्हि? अनुवादोऽयं स्तुत्यर्थः। स्तुतिश्च नित्येनाहीनलिङ्गेनान्यतरतोऽतिरात्रत्वेनाहीनस्य नोपपद्यते। यत्कारणं, सर्व एवाहीनोऽन्यतरतोऽतिरात्रः। सत्रस्य तूपपद्यते, येन तावदयमन्यतरतोऽतिरात्रः, तेनाहीनः। आत्मना च सत्रम्। अत उभयात्मा विशिष्टोऽयमन्येभ्यः सत्रेभ्य इति ॥३१॥

सत्रलिङ्गं च दर्शयति ॥३२॥

क्या भेद है? चोदनागतमेकम्, वाक्यान्तरगतमन्यच्च य एव .... पञ्चदशरात्रमुपेयुः यह उपेयुः लिङ्ग पञ्चदशरात्र विधायक वचनान्तर्गत है और यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः लिङ्ग विधायक वाक्य से भिन्न वाक्यगत है।

व्याख्या - यह दूसरा विशेष है—अहीन के लिङ्ग से नित्यरूप से अहीन की संस्तुति उपपन्न नहीं होती। उपपत्ति (=हेतु) से यह अहीन कहा जाता है—यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः। यदि वह उपपत्ति साधिका होवे तो विना वचन के भी अहीनत्व सिद्ध है। और यदि साधिका नहीं है तो उच्यमान भी अहीनत्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिये यह अहीनत्व को कहनेवाला नहीं है। तो क्या है? यह अनुवाद है स्तुति के लिये। स्तुति भी नित्य अहीन के लिङ्ग अन्यतरतोऽतिरात्रः (=अन्त में अतिरात्रत्व से) जो अहीन है उसकी उपपन्न नहीं होती है। कारण यह है कि 'सभी अहीन' अन्त में अतिरात्रवाले हैं। सत्र का [अहीनत्व कथन] तो उपपन्न होता है—जिस कारण यह अन्त में अतिरात्रवाला है, इससे यह अहीन है, और स्वरूप से सत्र है। इन दोनों स्वरूपवाला यह विशिष्ट है, अन्य सत्रों से ॥३१॥

विवरण—उपपत्त्यैतदहीनत्वमुच्यते—उपपत्त्या अर्थात् हेतु से (द्र०—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तितः, हेतुत इत्यर्थः)। वह हेतु है—यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीनः। उपपत्तिः साधिका—उक्त हेतु यदि साधक होवे तो अन्तरेणापि वचनं सिद्धमहीनत्वम्—उक्त वचन के विना भी 'अन्त में अतिरात्रवाले अहीन होते हैं' इस निर्देश से पञ्चदशरात्र के अन्त में अतिरात्र होने से इसका अहीनत्व सिद्ध है (द्र०— उभयतोऽतिरात्रं सत्रम्, उपरिष्टादहीनस्य। कात्या० श्रौत १२।१।६)। स्तुतिश्च—इसे अहीनस्य के साथ अन्वित करे। च का अर्थ अपि है—अहीनस्य स्तुतिरपि नोपपद्यते ॥३१॥

सत्रलिङ्गं च दर्शयति ॥३२॥

---

१. 'यत्कारणम्। 'सर्वं एवाहीनोऽन्यतरतोऽतिरात्रादुपज्ञातः। तदहीनत्वमुच्यते' पाठान्तरम्।

सत्रलिङ्गं च कुण्डपायिनामयने दर्शयति—गृहपतिर्गृहपतिः, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यः[1] इति। गृहपतिर्हि सत्र आम्नातः—गृहपतिसप्तदशाः सत्रमुपेयुः[2] इति। सत्रे च तेनार्थः क्रत्वर्थान् याजमानान् कर्तुम्। अन्येषां यजमानानां व्यावृतत्वात्। तस्मात् सत्रे एवैते इति ॥३२॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्येऽष्टमस्याध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥

———

सूत्रार्थः—कुण्डपायिनामयन में (सत्रलिङ्गम्) सत्र लिङ्ग (च) भी (दर्शयति) इसका सत्रत्व दर्शाता है।

व्याख्या—सत्र लिङ्ग भी कुण्डपायिनामयन में दर्शाता है—गृहपतिर्गृहपतिः, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यः। गृहपति सत्र में ही पठित है—गृहपतिसप्तदशाः सत्रमुपेयुः (= गृहपति सत्रवां हैं [१६ ऋत्विक्] ऐसे व्यक्ति सत्र को प्राप्त होवें, सत्र में बैठें)। सत्र में उससे प्रयोजन है क्रत्वर्थ यजमान सम्बन्धी कार्यों को करने के लिये। अन्य यजमानों के [अन्य ऋत्विक् कर्म में] व्यापृत होने से। इससे सत्र ही ये दोनों हैं ॥३२॥

विवरण—कुण्डपायिनामयन में ऋत्विजों के अन्यथा नामकरण द्वारा कार्य का निर्देश करते हुए लिखा है—गृहपतिर्गृहपतिः सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यः—अर्थात् गृहपति गृहपति ही होता है वही यजमान कार्यों को करता है और सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्य ही होता है वही सुब्रह्मण्या निगद का पाठ करता है ॥३२॥

———

१. ताण्ड्य ब्रा० २५।४।५॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

अष्टमाध्याये तृतीयः पादः

[आग्नावैष्णवादौ देवतासामान्यादग्नीषोमीयादिधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥१॥]

इह हविर्गण[1] उदाहरणम्— आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्, सारस्वतं चरुम्, बार्हस्पत्यं चरुम्, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये[2] इत्येवमादयः। तत्र चिन्त्यते— किं शुचिदेवतस्याग्नीषोमीयविध्यन्तः, आग्नावैष्णवस्याप्याग्नेयविध्यन्त उत विपर्यय इति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—यहां हविर्गण (=हवियों का समुदाय) उदाहरण है—आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् (=अग्नि और विष्णु देवतावाले एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे), सारस्वतं चरुम् (=सरस्वती देवतावाले चरु का), बार्हस्पत्यं चरुम् (=बृहस्पति देवतावाले चरु का); अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये (=पावक अग्नि देवतावाले, शुचि देवतावाले) इत्यादि। इस विषय में विचार किया जाता है – क्या शुचि देवतावाले हवि में अग्नीषोमीय का विध्यन्त होवे और अग्नि तथा विष्णु देवतावाले हवि में आग्नेय का विध्यन्त होवे अथवा विपर्यय होवे अर्थात् शुचि देवतावाले हवि में आग्नेय का विध्यन्त और अग्नि तथा विष्णु देवतावाले हवि में अग्नीषोमीय का। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—भाष्यकार ने 'आग्नावैष्णवम्' से लेकर 'अग्नये शुचये' तक जो हविःसमुदाय को उद्धृत किया है वह हविसमुदाय किसी एक कर्म सम्बन्धी है यह उत्तर विचार 'किं शुचि-देवतस्याग्नीषोमीयविध्यन्तः, आग्नावैष्णवस्यापि आग्नेयविध्यन्तः' से स्पष्ट प्रतीत होता है। हमें ऐसा हविसमुदाय का किसी विशिष्ट कर्म में उल्लेख नहीं मिला। सुबोधिनी एवं कुतूहल-वृत्ति में सम्भवतः इसीलिये आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेदभिचरन् सरस्वत्याज्यभागा स्याद् बार्हस्पत्यं चरुम् पाठ उद्धृत करके विचार किया है। इन वृत्तियों में उद्धृत पाठ मैत्रायणी संहिता २।१।७ में[3] काम्येष्टि प्रकरण में मिलता है।

---

१. 'हविर्गणा उदाहरणम्' इति पाठान्तरम्।

२. नैवास्माभिरेतादृशहविर्गणकः कश्चिद् याग उपलब्धः। तत्र पूर्वत्रयाणां हविषां निर्देशस्तु मैत्रायणीसंहितायां काम्येष्टिप्रकरणे (२।१।७) कस्यचिद् यागस्य माध्यन्दिने सवने उपलभ्यते।

३. मीमांसा उद्धरण कोष (पृष्ठ २८) में भी आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् सारस्वतं चरुं बार्हस्पत्यं चरुम् इतना ही पाठ 'माध्यन्दिने' छोड़कर उद्धृत करके मै० सं० २।१।७ का पता दिया है। वस्तुतः यह निर्देश भाष्यकार के अभिप्राय के विपरीत है।

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ॥१॥ (पू०)

हविर्गणे परं शुचिदेवतम्, उत्तरस्याग्नीषोमीयस्य विकारः। पूर्वमप्याग्नावैष्णवं, पूर्वस्याऽऽग्नेयस्य विकारः। कुतः? देशसामान्यात्। क्रमसामान्यादित्यर्थः। इह शुचिदेवतो द्वितीयः। प्रकृतावप्यग्नीषोमीयो द्वितीयः। इतरत्राप्याग्नावैष्णवः प्रथमः। प्रकृतावप्याग्नेयः प्रथमः। देशसामान्येन लिङ्गेन परमुत्तरस्य, पूर्वं पूर्वस्य विकारः ॥१॥

शुचिदेवतस्याग्नीषोमीयविध्यन्तः आग्नावैष्णवस्याग्नेयविध्यन्तः—पौर्णमासेष्टि में आग्नेय पुरोडाश अग्नीषोमीयउपांशुयाज और अग्नीषोमीय पुरोडाश क्रमशः विहित हैं। अन्त्य में शुचि देवता हवि का अन्त्य में वर्तमान प्राकृत अग्नीषोमीय हवि विध्यन्त होवे इसी प्रकार आदि में पठित आग्नावैष्णव हवि का आरम्भ में पठित आग्नेय हवि होवे अथवा इससे विपरीत, यह यहां चिन्तनीय है।

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(हविर्गणे) हवियों के समुदाय में (परम्) शुचि देवतावाली हवि(उत्तरस्य) में उत्तर=अन्त्य में पठित अग्नीषोमीय हवि का विकार होवे (देशसामान्यात्) देश=स्थान की समानता से।

व्याख्या—हवियों के समुदाय में पर शुचि देवतावाली हवि उत्तर अग्नीषोमीय का विकार होवे और पूर्व आग्नावैष्णव भी पूर्व आग्नेय का विकार होवे। किस हेतु से? देश सामान्य से, क्रम सामान्य से। यहां शुचि देवताक हवि द्वितीय है और प्रकृति में भी अग्नीषोमीय द्वितीय है। अन्यत्र भी आग्नावैष्णव प्रथम है, प्रकृति में भी आग्नेय प्रथम है। देश सामान्य लिङ्ग से पर उत्तर का और पूर्व पूर्व का विकार होवे ॥१॥

विवरण—**इह शुचिदेवतो द्वितीयः**—यहां द्वितीय शब्द प्रथम के प्रतिपक्ष में अन्तिम के लिये प्रयुक्त हुआ है, अग्नये शुचये उक्त हवि अन्तिम है। इसी प्रकार **प्रकृतावप्यग्नीषोमीयो द्वितीय** में जानना चाहिये। पूर्णमास में आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय आज्य, अग्नीषोमीय पुरोडाश तीन हवियां हैं। यहां अग्नीषोमीय से तृतीय हवि इष्ट है, न कि द्वितीय अग्नीषोमीय आज्य। सुबोधिनीवृत्ति में पूर्व निर्दिष्ट आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेदभिचरन् सरस्वत्याज्यभागा स्याद् बार्हस्पत्यं चरुम् भाग को उद्धृत करके अग्नये पवमानायाष्टाकपालम् अग्नये पावकायाग्नये शुचये दूसरा हविर्गण उद्धृत किया है। इस सूत्र के अर्थ में 'हविर्गण द्वितीय' उक्त उदाहरण में उत्तर अग्नेः पावकस्य उपांशुयाजः प्रकृतिः, तथा प्रथमोदाहरणे प्रथमस्य प्रथमम् लिखा है। वस्तुतः यहां भाष्यकार के 'द्वितीय' शब्द के अभिप्राय को न समझकर अशुद्ध व्याख्या की है ॥१॥

देवतया वा नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात् ॥२॥ (उ०)

न वा देशेन नियमः स्यात्। किं तर्हि? देवतया। देवतासामान्यात्। कुतः? शब्दवती देवता। आग्नावैष्णवमग्नये शुचये, इति। इतरस्य देशस्य, अश्रुतित्वात्। देशो न श्रूयते। किं तर्हि? प्रचयाद् गम्यते[3]। किमतः? एतदतो भवति। देवताप्रत्ययः कर्मचोदनायामनन्तरत्वान्मुख्यः। इतरस्तु पौर्वापर्यापेक्षयोत्पद्यते। तस्माज्जघन्यः। मुख्यानुग्रहश्च न्याय्यः। अतः शुचिदेवत्य आग्नेयस्य विध्यन्तः। आग्नावैष्णवे चाग्नीषोमीयस्य ॥२॥

देवतया वा नियम्येत शब्दवत्त्वाद् इतरस्याश्रुतित्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। हविर्गण में (देवतया) देवता सामान्य से विध्यन्त (नियम्येत) नियमित होवे, (इतरस्य) स्थान सामान्य के (अश्रुतित्वाद्) अश्रुत होने से। अतः शुचिदेवताक का आग्नेय और आग्नावैष्णव का अग्नीषोमीय विध्यन्त होवे।

व्याख्या- देश से नियम न होवे। तो किससे नियम होवे? देवता से। देवतासामान्य से नियम होवे। किस हेतु से? देवता शब्दवती है अर्थात् शब्दरूप है—आग्नावैष्णवम् अग्नये शुचये इति। इतर देश (=स्थान) के अश्रुत होने से। देश श्रुत नहीं होता। तो कैसे जाना जाता है? प्रचय (=समुदाय) से जाना जाता है। इससे क्या होता है? इससे यह होता है कि देवता का ज्ञान कर्म चोदना के अनन्तर होने से मुख्य है। इतर (=देश का ज्ञान पौर्वापर्य की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। इस कारण वह जघन्य (=गौण) है। मुख्य का अनुग्रह ही न्याय्य है। अतः शुचि देवतावाले कर्म में आग्नेय का विध्यन्त होगा। आग्नावैष्णव में अग्नीषोमीय का। अर्थात् एक देवतावाले कर्म में एक देवतावाले विध्यन्त का और दो देवतावाले कर्म में दो देवतावाले का ॥२॥

विवरण—शब्दवती देवता—मीमांसकों के मत में देवता का स्वरूप शब्दरूप ही है। विग्रहवती (=शरीरधारी देवता नहीं है इस पर आगे नवम अध्याय के प्रथमपाद के चतुर्थाधिकरण (सूत्र ६-१० भाष्य) के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया है। **आग्नावैष्णवे चाग्नीषोमीयस्य**—पौर्णमास में अग्नीषोमीय उपांशुयाज और अग्नीषोमीय पुरोडाशयाग दो अग्नीषोमीय हैं। यहां अग्नीषोमीय पुरोडाशयाग अभिप्रेत है ॥२॥

---

३. 'प्रत्ययाद् गम्यते' इति पाठान्तरम्।

[जनकसप्तरात्रे द्वादशाहिकानां सप्तानामह्नां क्रमेण धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥२॥]

जनकसप्तरात्रे श्रूयते—'चत्वारि त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति'[1] इति। तथाऽन्यत्र श्रूयते—'नव त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति'[2] इति। तत्र सन्देहः—किं पार्ष्ठिकस्य प्रथमस्यायमभ्यास उत नानाह्नां द्वादशाहिकानां स्तोमविधिरिति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—जनक सप्तरात्र नामक याग में सुना जाता है—चत्वारि त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति (=चार त्रिवृत्वाले दिन होते हैं), तथा अन्यत्र सुना जाता है—नव त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति (=नौ त्रिवृत्वाले दिन होते हैं) उनमें सन्देह होता है—क्या पृष्ठ स्तोमवाले प्रथम दिन के कार्य का यह अभ्यास (=पुनः पुनः ४ दिन तक, तथा ९ दिन तक प्रथम दिन के कार्य को ही करना) अथवा भिन्न-भिन्न दिनोंवाले द्वादशाहिक स्तोमों की विधि है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—जनकसप्तरात्रे ताण्ड्य ब्राह्मण में भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिये अनेक प्रकार के 'सप्तरात्र' याग कहे हैं। जनक सप्तरात्र अन्नाद्य कामनावाले के लिये कहा है (तां० २२।९)। इस नाम में 'जनक' शब्द 'वैदेह जनक' व्यक्तिवाचक नहीं है, अपितु आगे (२२।९।४-५) इसको पुरुषजनक कहा है (द्र०—सायणभाष्य)। अतः यहां जनक शब्द 'पुरुषजनक' का एक देश है। इसका अर्थ है—'उत्पन्न करनेवाला'। नव त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति—यह वचन 'सवितुः ककुप्' संज्ञक एकोनपञ्चाशद्रात्र (=४९ दिनों वाला) अतिरात्र कर्मविषयक है (द्र०—ताण्ड्य ब्रा० २४।१५।१, सा० भा०)। किं पार्ष्ठिकस्य प्रथमस्यायमभ्यासः—द्वादशाह के पृष्ठ्य षडह के त्रिवृत् पृष्ठ स्तोमवाले प्रथम दिन के धर्मों का चार दिनों में अथवा ९ दिनों में पुनः पुनः प्रवर्तन होवे अथवा द्वादशाह के भिन्न-भिन्न त्रिवृत् पञ्चदश प्रभृति नानाविध पृष्ठ स्तोमों के धर्म क्रमशः अगले दिनों में प्रवृत्त होवें। द्वादशाह के नाना पृष्ठ स्तोम इस प्रकार हैं—

विवरण—द्वादशाह के बारह दिनों की संस्था स्तोम आदि इस प्रकार हैं—

दिवस	सोम संस्था	स्तोम	ग्रह-अग्रता	साम
प्रथम (प्रायणीय)	अतिरात्र	त्रिवृत् आदि	ऐन्द्रवायव	रथन्तर
द्वितीय (पृष्ठ्य षडह)	अग्निष्टोम	त्रिवृत् (९)	,,	,,
तृतीय ,, ,,	उक्थ्य	पञ्चदश (१५)	शुक्र	बृहत्
चतुर्थ ,, ,,	,,	सप्तदश (१७)	आग्रयण	वैरूप

---

१. ताण्ड्य ब्रा० २२।९।१॥ अत्र 'भवन्ति' पदं नास्ति।

२. ताण्ड्य ब्रा० २४।१५।१॥ अत्र 'भवन्ति' पदं नास्ति।

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताऽऽग्नेयवत् ॥३॥ (पू०)

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताऽऽग्नेयवत् । गणचोदनायामेवंविधायां यस्य लिङ्गं पार्ष्ठिकस्य प्रथमस्याह्नस्त्रिवृत्त्वं, तस्यैवाऽऽवृत्तिः प्रतीयेत ।

पञ्चम (पृष्ठ्य षडह)	षोडशी	एकविंश (२१)	आग्रयण	वैराज
षष्ठ ,, ,,	उक्थ्य	त्रिणव (२७)	ऐन्द्रवायव	शाक्वर
सप्तम ,, ,,	,,	त्रयस्त्रिंश (३३)	शुक्र	रैवत
अष्टम (छन्दोम)	,,	चतुर्विंश (२४)	,,	रथन्तर
नवम ,,	,,	चतुश्चत्वारिंश (४४)	आग्रयण	बृहत्-रथन्तर
दशम ,,	अग्निष्टोम या अतिरात्र	अष्टाचत्वारिंश (४८)	ऐन्द्रवायव	बृहत्
एकादश (अविवाक्य)	अग्निष्टोम	चतुर्विंश (२४)	,,	रथन्तर
द्वादश (उदयनीय)	अतिरात्र	त्रिवृत् आदि	,,	,,

यह चित्र से स्पष्ट है कि **पार्ष्ठिकस्य प्रथमस्याभ्यासः** से द्वादशाह के जिस पृष्ठ्य त्रिवृत् स्तोमवाले प्रथम दिन का निर्देश है वह द्वादशाह का द्वितीय दिन है । द्वितीय से सप्तम तक पृष्ठ्य षडह संज्ञक दिवस होते हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें ।

यह चित्र ग्रहाग्रता को छोड़कर आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार है । इनके क्रमशः विधान स्थल इस प्रकार हैं—(१) आप० श्रौत २१।५।१६; (२) २१।६।१०; (३) २१।६।१३; (४) २१।६।१६; (५) २१।७।१; (६) २१।७।८; (७) २१।७।१२; (८-९-१०) २१।८।११-१२; (११) २१।९।१; (१२) २१।१३।१॥ पूज्य गुरुवर्य श्री चिन्न स्वामीजी शास्त्री ने यज्ञतत्त्वप्रकाश के पृष्ठ १२७ पर ग्रहाग्रता सहित द्वादशाह के प्रति दिन के कर्मों का चित्र दिया है उसमें नवम दिन में केवल बृहत् साम का, दशम दिन रथन्तर साम का, एकादश दिन बृहत्साम का निर्देश है । पूज्य गुरुवर का आपस्तम्ब सूत्र था । अतः आपस्तम्बसूत्र से ९, १०, ११ दिनों में सामों के नामों में जो भेद है वह सम्भवतः मुद्रणजन्य हो ।

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताऽऽग्नेयवत् ॥३॥

सूत्रार्थः—(गणचोदनायाम्) अहर्गणों के विधायक वाक्य में (यस्य) जिस त्रिवृत् पृष्ठ स्तोमवाले प्रथम दिन का (लिङ्गम्) रूप श्रुत है (तदावृत्तिम्) उसकी आवृत्ति (प्रतीयेत) जाने (आग्नेयवत्) आग्नेय विध्यन्त के समान (द्र०—पूर्व सूत्र) ।

व्याख्या—अहर्गणों की चोदना में जिसका लिङ्ग है उसकी आवृत्ति जाने आग्नेय के समान । इस प्रकार की गण चोदना में जिसका लिङ्ग पृष्ठ संज्ञक प्रथम दिन का त्रिवृत्त्व [देखा जाता है] उसकी आवृत्ति [उत्तर दिनों में] जानी जावे, चोदना के सामान्य से आग्नेय

चोदनासामान्यात् । आग्नेयवत् । तद्यथा **अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये,** इति देवतैक्याच्चोदनासामान्यादाग्नेयस्य विध्यन्ताभ्यासः । एवमिहापि ।।३।।

नानाहानि वा संघातत्वात् प्रवृत्तलिङ्गेन चोदनात् ।।४।। (उ०)

नानाहानि वा द्वादशाहिकानि प्रवर्तेरन्, न पार्ष्ठिकं प्रथममहः । कस्मात् ? सङ्घातत्वात् । सङ्घात एष उच्यते, चत्वारि त्रिवृन्त्यहानीति । पृथक्त्वनिवेशिनी हि चत्वारीति संख्या, पृथक्त्वेनाह्नां भवतीति । सन्ति च तत्र सप्तरात्रे चोदनया प्रवृत्तानि नानाहानि द्वादशाहिकानि चत्वारि । तान्यनूद्य त्रिवृत्त्वं विधातुं शक्यते । न तु त्रिवृन्ति बहून्यहान्यनूद्य तत्र चतुःसंख्या विधीयते ।।४।।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।५।।

के समान । जैसे—अग्नये पावकाय अग्नये शुचये में देवता के ऐक्य से चोदना सामान्य से आग्नेय विध्यन्त का अभ्यास होता है । इसी प्रकार यहां भी अभ्यास होवे ।।३।।

नानाहानि वा सङ्घातत्वात् प्रवृत्तलिङ्गेन चोदनात् ।।४।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (नानाहानि) द्वादशाह के भिन्न-भिन्न दिनों के धर्म प्रवृत्त होवें (सङ्घातत्वात्) चार वा नौ संख्या द्वारा सङ्घात विहित होने से । (प्रवृत्तलिङ्गेन) सप्तरात्र अथवा एकोनपञ्चाशद्रात्र कर्म की प्रवृत्तिवाले त्रिवृत्त्व लिङ्ग से (चोदनात्) विधि का निर्देश होने से वह उत्तर अहों के नाना स्तोमों का बाधक नहीं है ।

व्याख्या—द्वादशाह के नाना दिन प्रवृत्त होवें, पृष्ठ संज्ञक प्रथम दिन [का अभ्यास न होवे] । किस हेतु से ? सङ्घातरूप से । चत्वारि त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति में सङ्घात ही यहां कहा जाता है । 'चत्वारि' यह संख्या पृथक्त्व में ही निविष्ट (=रहने वाली) है । दिनों के पृथक्त्व से [चार संख्या उपपन्न] होती है । सप्तरात्र में चोदना से प्रवृत्त द्वादशाह के चार नाना दिन हैं । उनका अनुवाद करके त्रिवृत्त्व का विधान किया जा सकता है, न कि बहुत से त्रिवृत् दिनों का विधान करके चार संख्या का विधान किया जाता है ।।४।।

विवरण—भट्टकुमारिल ने भाष्यकार के व्याख्यान में दोष दर्शाकर अन्यथा रूप से सूत्र का व्याख्यान किया है (द्र०—इस सूत्र की टुप्टीका)। उसका विस्तार भय से हम उल्लेख नहीं करते ।।४।।

तथा च अन्यार्थदर्शनम् ।।५।।

सूत्रार्थः—(तथा) उक्त तात्पर्य का बोध (अन्यार्थदर्शनम्) अन्यार्थ भिन्न धर्मवाले दिनों का दर्शन=लिङ्ग (च) भी है ।

चत्वारि त्रिवृन्त्यहान्यग्निष्टोममुखानि' इति । येषामग्निष्टोमः प्रथमः, इतरेऽनग्निष्टोमाः, त एवमुक्ते प्रतीयते, न ये सर्वेऽग्निष्टोमाः । यथा, अयोमुखं पिण्डच्छेदनमित्युक्ते न सर्वायसं प्रतीयते । यदि च त्रिवृतोऽभ्यासः स्यात्, सर्वेऽग्निष्टोमा भवेयुः । अग्निष्टोमो ह्यसौ । तस्माद् द्वादशाहिकानां चोदकप्राप्तानामह्नां त्रिवृत्ता विधीयते । एवं नव त्रिवृन्त्यहानि भवन्तीति ।।५।।

———

[षट्त्रिंशद्रात्रे षडहधर्मातिदेशाधिकरणम् ।।३।।]

क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते । षडहा भवन्ति, चत्वारो भवन्ति,' पञ्चाहा

व्याख्या—चत्वारि त्रिवृन्त्यग्निष्टोममुखानि (=चार त्रिवृत् स्तोमवाले अग्निष्टोममुखवाले=अग्निष्टोम प्राथम्यवाले हैं) । जिनमें अग्निष्टोम प्रथम है इतर [तीन दिन] अनग्निष्टोम (=अग्निष्टोम से भिन्न) हैं, वे इस प्रकार कहने पर प्रतीत होता है, ये सब (=४ दिन) अग्निष्टोम वाले नहीं हैं । जैसे 'लोह मुखवाला पिण्ड का छेदक है' ऐसा कहने पर सारा पिण्डछेदक लोहे का नहीं जाना जाता । यदि त्रिवृत् का [उत्तर दिनों में] अभ्यास होवे तो सारे अग्निष्टोम होवें । यह [त्रिवृत्] अग्निष्टोम है । इससे द्वादशाहिक के चोदकप्राप्त दिनों की त्रिवृत्ता विहित है । इसी प्रकार नव त्रिवृन्त्यहानि भवन्ति में भी समझना चाहिये ।।५।।

विवरण – 'जनक सप्तरात्र' की क्लृप्ति इस प्रकार जाननी चाहिये प्रथम दिन—त्रिवृद् अग्निष्टोम संस्था, २-३-४ दिन—उक्थ्य संस्था, ५—विश्वजित्, ६ महाव्रतम्, ७—अग्निष्टोम अतिरात्र (द्र०—सा० भाष्य तां० ब्रा० २२।६।१) । सवितु ककुभ् संज्ञक एकोनपञ्चाशद्रात्रं (४६) की क्लृप्ति—चार नवाह (४×=३६) त्रिवृद् आदि स्तोमवाले । आदि के षडहों में प्रथम अग्निष्टोम संस्थावाला, २-६ पांच अह उक्थ्य संस्थावाले, अवशिष्ट तीन दिनों आदि (७वां) अन्तिम (९वां) अग्निष्टोम संस्थावाले, मध्यम (८वां) उक्थ्य संस्थावाला । इस प्रकार नवाह के चतुष्टय होने पर ३६ दिन पूरे होते हैं । दशाह (१० दिन), महाव्रत (१) अन्त अतिरात्र (२) [३६+१०+१+२=४६] मिलकर एकोनपञ्चाशद् अह की पूर्ति होती है (द्र०—सा० भाष्य तां० ब्रा० २५।१५।१) ।।५।।

———

व्याख्या—कहीं कर्म विशेष सुना जाता है—षडहा भवन्ति, चत्वारो भवन्ति,

---

१. ताण्ड्य ब्रा० २२।६।१।।
२. तै० सं० ७।४।६।२ (षट्त्रिंशद्रात्रे) ।

भवन्ति[1]। तत्र सन्देहः। किं द्वादशाहिकानामह्नां प्रवृत्तिः, उत षडहस्येति? किं प्राप्तम्?

कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ॥६॥

कालाभ्यासेऽपि बादरिः। षडहकालाभ्यासेऽप्येतस्मिन् श्रूयमाणे बादरिचार्यो द्वादशाहिकानामह्नां[2] प्रवृत्तिं मन्यते स्म। कुतः? कर्मभेदात्। षड्हशब्देनात्राहर्मितानि षट् सौत्यानि कर्माण्युच्यन्ते। तेषां च षट्कानां भेदो गम्यते। **चत्वारः षडहा** इति पृथक्त्वनिवेशात् संख्यायाः यद्येकस्यैव कर्मषट्कस्य पार्ष्ठिकस्याऽऽभिप्लविकस्य वाऽभ्यासः कल्प्येत, ततश्चतुःषडहा इति स्यात्। अथ पुनः, **चत्वारः षडहा** इत्युक्ते चतुर्विंशत्यहानि प्रतीयन्ते, साऽहःसङ्घातचोदना प्रकृतिलिङ्गत्वाद् द्वादशाहिकीमहःप्रवृत्तिं गृह्णाति तस्मान्नानाह्नां द्वादशाहिकानां प्रवृत्तिः ॥६॥

पञ्चाहा भवन्ति (=षडह होते हैं, चार होते हैं, पञ्चाह होते हैं)। इनमें सन्देह है कि द्वादशाह के दिनों की प्रवृत्ति होती है, अथवा षडह की? क्या प्राप्त होता है?

कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(कालाभ्यासे) षडहकाल के अभ्यास में (अपि) भी (बादरि.) बादरि आचार्य द्वादशाहिक दिनों की प्रवृत्ति मानता है (कर्मभेदात्) कर्म के भेद से अर्थात् षडह शब्द से यहां दिन से नापे गये छः सौत्य कर्म कहे जाते हैं।

व्याख्या—काल के अभ्यास में भी बादरि, षडहकाल के अभ्यास में भी इस श्रूयमाण कर्म में बादरि आचार्य द्वादशाहिक दिवसों की प्रवृत्ति मानते हैं। किस हेतु से? कर्मभेद से। षडह शब्द से यह दिन से नापे गये छः सुत्या में होने वाले कर्म कहे जाते हैं। और उनका षट् संख्यामित [सौत्य कर्मों] का भेद जाना जाता है। चत्वारः षडहाः से संख्या के पृथक्त्व निवेशिनी होने से यदि एक ही छः कर्म परिमाणवाले पृष्ठ्य संज्ञक कर्मों का अथवा अभिप्लव-संज्ञक कर्मों के अभ्यास की कल्पना की जाये तो चार षडह होवें। और चत्वारः षडहाः ऐसा कहने पर चौबीस अहः प्रतीत होते हैं। यह अहःसङ्घात की चोदना प्रकृति लिङ्गत्व से द्वादशाहिकी अहःप्रवृत्ति को ग्रहण करती है इससे द्वादशाहिक के नाना दिनों की प्रवृत्ति जाननी चाहिये ॥६॥

विवरण—प्रकृत सूत्र का भाष्य अस्पष्ट सा है। अन्य ग्रन्थों के साहाय्य से हमने जो अभिप्राय समझा है वह इस प्रकार है—

चत्वारः षडहः में 'षडह' शब्द विचारणीय है। यदि द्वादशाहिक के पृष्ठ्य संज्ञक षडह

---

१. तै० सं० ७।४।५।२ (त्रयस्त्रिंशद्रात्रे)। २. 'नानाह्नां'—पाठान्तरम्।

तदावृत्तिं तु जैमिनिरह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥७॥ (सि०)

तदावृत्तिं, पार्ष्ठिकस्यैव प्रज्ञातस्य षडहस्याऽऽवृत्तिं जैमिनिराचार्यो मेने। कुतः? अह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात्। चतुर्विंशतिरह्नामप्रत्यक्षा संख्याऽनुमानाद् गम्यते। तस्याश्च षडहचतुष्टयेनैवानुमानम्। तेन पूर्वं तावत् षडहचतुष्टयमेव प्रत्येति। ततसमाहृत्य[1] चतुर्विंशतिसंख्याम्। यथा, पूर्वं धूमं प्रतिपद्यते, पश्चादग्निम्। यच्च धूमप्रत्ययेनैव कृतार्थो भवति नासावग्निप्रत्ययमाद्रियते। इहापि षडहप्रत्ययादेव तत्प्रवृत्तिः प्रसज्यते। तथा च कृतार्थः, किं चतुर्विंशतिसंख्यया प्रतीतया[2] करिष्यति? तस्मात् षडहाभ्यासः।

लिये जावें तो एक षडह के पश्चात् क्रमशः उनकी आवृत्ति होगी। और यदि षडह में अहःशब्द को अहःपरिमित सौत्य (=सुत्या सम्बन्धी) कर्मों का वाचक मानें तो छः सुत्याओं के साथ चतुष्ट्व संख्या का सम्बन्ध होने से २४ सुत्यादि वस होंगे। अतः द्वादशाहान्तर्गत दशरात्र की २४ संख्या पूर्त्यर्थ अभ्यास से प्रवृत्ति माननी होगी। दशाह की दो आवृत्तियों से २० सुत्याएं सम्पन्न होंगीं। तृतीय बारी में उसी दशाह की चार सुत्याएं जोड़ने पर २४ सुत्या दिवस उपपन्न होंगे। इस प्रकार द्वादशाह के नाना सुत्या दिवस अर्थ जानना चाहिये। [पञ्चाहा भवन्ति के सम्बन्ध में यहां कुछ नहीं कहा।] ॥६॥

तदावृत्तिं तु जैमिनिरह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (तदावृत्तिं) पृष्ठ्य षडह की आवृत्ति को ही (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य मानते हैं (अह्नाम्) दिनों की (अप्रत्यक्षसंख्यत्वात्) २४ संख्या के अप्रत्यक्ष होने से। अर्थात् दिनों की २५ संख्या अनुमान से प्रतीत होती है।

व्याख्या—उसकी आवृत्ति=जाने गये पृष्ठ्य षडह की ही आवृत्ति को जैमिनि आचार्य मानते हैं। किस हेतु से? दिनों की संख्या के अप्रत्यक्ष होने से। दिनों की चौबीस संख्या अप्रत्यक्ष है अनुमान से जानी जाती है और उस संख्या का षडह के चतुष्टय से ही अनुमान होता है। इससे पूर्व षडह चतुष्टय को जनाता है, उस (=षडह चतुष्टय) को इकट्ठा करके २४ संख्या को जनाता है। जैसे पूर्व धूएं को प्राप्त होता है (=देखता है) पीछे अग्नि को प्राप्त होता है अर्थात् अग्नि की प्रतीति होती है। और जो धूएं के ज्ञान से ही कृतार्थ हो जाता है, आगे जानना नहीं चाहता वह अग्नि के ज्ञान का आदर नहीं करता (=अग्नि के ज्ञान के प्रति प्रवृत्त नहीं होता है)। इसी प्रकार यहां भी षडह के ज्ञान से ही उसकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है उससे वह कृतार्थ होता है (=उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है) तो वह प्रतीत हुई २४ संख्या से क्या करेगा? इसलिये षडह का अभ्यास होता है।

---

१. 'परतः समाहृत्य'—पाठान्तरम्। २. 'प्रतीतयाऽपि'—पाठान्तरम्।

अथ यदुक्तं, पृथक्त्वनिवेशिनी संख्याऽऽवृत्तौ बाध्येतेति। तत्र ब्रूमः। षडह इति प्रज्ञातः षडहः संनिहितो गृह्यते। तस्य चतुःसंख्यासम्बन्धः साक्षान्नास्तीत्यावृत्त्या भविष्यति। यथा, उपसदां प्रयाजानुयाजानां च। यस्यापि, चतुर्विंशतिरात्रश्चत्वारः षडहा इत्येवं चोद्यते, तस्यापि दशरात्रे प्रवर्तमानं आवृत्त्यैव संख्यापूरणम्। भिन्नानां षडहानामभावात्। यश्चोभयोर्दोषो नासावेकं पक्षं निवर्तयति ॥७॥

———

और जो यह कहा—पृथक्त्व में रहने वाली संख्या आवृत्ति में बाधित होवे। इस विषय में कहते हैं—षडह से जाना गया षडह [बुद्धि में] सन्निहित हुआ गृहीत होता है। उसका चतुःसंख्या से सम्बन्ध साक्षात् नहीं है इसलिये आवृत्ति से [चतुःसंख्या का सम्बन्ध] होगा जैसे—उपसदों के प्रयाज और अनुयाजों की [संख्या की पूर्ति आवृत्ति से होती है]। और जिसके यहां चतुर्विंशतिरात्रश्चत्वारः षडहाः (=चतुर्विंशतिरात्र चार षडह होते हैं) इस प्रकार विधान किया जाता है उसके भी दशरात्र के प्रवर्तमान होने पर [षडह की] आवृत्ति से ही संख्या का पूरण होता है। अन्य षडहों के अभाव होने से। इसलिये जो दोष दोनों पक्षों में है वह एक पक्ष को निवृत्त नहीं करता ॥७॥

विवरण—यथा उपसदां प्रयाजानुयाजानां च—इसका तात्पर्य है कि प्रकृतियाग अग्निष्टोम में ३ उपसद् कहे गये हैं और अग्निचयन में ६ उपसदों का विधान है। इसी प्रकार प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास में ५ प्रयाज और ३ अनुयाज होते हैं परन्तु चातुर्मास्य में ९ प्रयाजों और ९ अनुयाजों का तथा पशुयाग में ११ प्रयाजों और ११ अनुयाजों का विधान है। यहां सर्वत्र बढ़ी हुई संख्या की पूर्ति आवृत्ति से होती है वैसे ही प्रकृत में षडहों में भी जाननी चाहिये।

उपसदों की संख्या वृद्धि के विषय में मीमांसा ५।३। अधि० २ (सूत्र ३) में विचार किया है। उसमें कहा है कि दण्डकलितवत् तीन उपसदों का एकवार प्रयोग करके पुनः तीन की आवृत्ति नहीं करनी चाहिये अपितु स्वस्थान में वृद्धि होनी चाहिये अर्थात् प्रथम उपसद् दो बार करके द्वितीय उपसद् दो बार, तदनन्तर तृतीय उपसद् दो बार, इस प्रकार छः संख्या की पूर्ति करनी चाहिये। यह स्वस्थान में वृद्धि इसलिये कही गई है कि उपसदों का क्रम नियत है—प्रथमां कृत्वा मध्यमा कर्तव्या तत उत्तमा।

प्रयाजों और अनुयाजों में चातुर्मास्य में विहित ९ संख्या एवं पशुयाग में विहित ११ संख्या में अभ्यास से संख्या पूर्ति करनी चाहिये। यह मीमांसा ५।३। अधि० १ (सूत्र १) में कहा है। परन्तु कैसे करनी चाहिये यह वहां स्पष्ट नहीं कहा है। संकर्ष काण्ड (२।३।१७-२०) में एकादश संख्या की पूर्ति इस प्रकार दर्शाई है—३ अनुयाजों में प्रथम बर्हि और द्वितीय नराशंस की ४-४ बार आवृत्ति (४+४=८) तथा तृतीय स्विष्टकृत् अनुयाज की २ बार

[शतोक्थ्यादिसंस्थागणेषु द्वादशाहिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ।।४।।]

इह संस्थागणा उदाहरणम्—अग्निष्टोमः पञ्चोक्थ्यः[1], शताग्निष्टोमं भवति,[2] शतातिरात्रं भवति[3] इत्येवमादयः। अत्र चिन्त्यते—किं ज्योतिष्टोमस्यायमभ्यास उतैवंसंख्यानां संस्थाविशिष्टानामह्नां वाद इति ? किं प्राप्तम् ।

संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणग्रहणात् ।।८।। (पू०)

आवृत्ति, परन्तु दशम बर्हि के विधान के अनुसार ९वां स्विष्टकृत् करके १०वां बर्हि, पुनः ११वां स्विष्टकृत् होवे (द्र०—संकर्ष ३।२।१९ की व्याख्या) । प्रयाजों में ३ प्रयाज क्रमशः और चतुर्थ और पञ्चम की चार चार बार आवृत्ति होती है (द्र०—संकर्ष ३।२।२०) ।।७।।

———

व्याख्या—यहां संस्थागण उदाहरण हैं—अग्निष्टोमः पञ्चोक्थ्यः (=अग्निष्टोम पांच उक्थ्य), शताग्निष्टोमं भवति (१०० अग्निष्टोम होते हैं), शतातिरात्रं भवति (=१०० अतिरात्र होते हैं)इत्यादि । इस विषय में विचार किया जाता है—क्या ज्योतिष्टोम (=अग्निष्टोम) का यह अभ्यास है अथवा इस संख्यावाले संस्था विशिष्ट दिनों का वाद है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—ज्योतिष्टोमस्यायमभ्यासः—ज्योतिष्टोम सोम की सब संस्थाओं का नाम है ।

यहां पर विचार यह किया जाता है कि पञ्चोक्थ्यः शताग्निष्टोमं शतातिरात्रम् विधियों में संस्थाविशेष जो उक्थ्य अग्निष्टोम अतिरात्र है उनका अभ्यास होवे अथवा द्वादशाह अन्तर्गत जो तत्तत् संस्था (जिन स्तोत्रों से कर्म की समाप्ति हुई है) विशिष्ट दिनों के अभ्यास का कथन है । संस्था का अभ्यास होवे यह पूर्व पक्ष है और द्वादशाह अन्तर्गत जो तत्तत् संस्थाविशिष्ट दिन हैं उनका अभ्यास होता है । संस्थाविशेष उक्थ्यादि के अभ्यास में दीक्षा प्रभृति सब कर्मों का अभ्यास होगा । संस्थाविशिष्ट दिन के अभ्यास केवल सुत्यादिन का अभ्यास होगा यह दोनों में भेद है ।

संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणग्रहणात् ।।८।।

सूत्रार्थः—(संस्थागणेषु) अग्निष्टोम आदि संस्थाओं के समुदाय में (तदभ्यासः) उसी प्रकृत अग्निष्टोम का अभ्यास (प्रतीयेत) जानें। (कृतलक्षणग्रहणात्) किया गया है लक्षण जिनका ऐसे अग्निष्टोम उक्थ्य आदि का ग्रहण होने से । संस्थाओं का नामकरण उनके अन्तिम

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—शताग्निष्टोमं सत्रमुपेयुः । शत० ११।५।५।२, ४।।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—शतातिरात्रं सत्रमुपेयुः । शत० ११।५।५।५, ६।।

संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत। तस्यैव प्रकृतस्य ज्योतिष्टोमस्यायमभ्यासः। कुतः ? कृतलक्षणग्रहणात्। तस्यैतत् कृतं लक्षणम्। अग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्र इति। तत्संयोगेनेताः संस्था उत्पन्नाः। स ताभिः शक्यते लक्षयितुम्। तं च लक्षयित्वा संख्यां केवलां विधास्यति। नानाह्नां तु वादे संस्था संख्या चोभयं विधीयते—उक्थ्यसंस्था[1] भवन्ति, ते च पञ्च भवन्तीति। तथा वाक्यं भिद्यते। तस्माज्ज्योतिष्टोमाभ्यासः ॥८॥

अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्याद् अभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ॥९॥ (सि०)

नैतदेवं, ज्योतिष्टोमाभ्यास इति। कथं तर्हि ? प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यात्। द्वादशाहिकान्यहानि संस्थाविशिष्टानि स्युः। कस्मात् ? अधिकारात्। तान्यत्र

स्तोत्र के आधार पर किया गया है अर्थात् विशिष्ट स्तोत्रों के संयोग से ही संस्थाओं का नामकरण है। उन्हीं संस्थाविशेषों का ग्रहण शताग्निष्टोमं भवति आदि वचनों में ग्रहण है।

व्याख्या—संस्था के गणों में उसका अभ्यास जाना जाये। उसी प्रकृत अग्निष्टोम का यह अभ्यास है। किस हेतु से ? कृत लक्षण (=कृतनामधेय) के ग्रहण से। उसका यह लक्षण किया है—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र। उसके संयोग से ये संस्था उत्पन्न हुई है अर्थात् जो जो स्तोत्र जिस जिस कर्म के अन्त में होते हैं उसी पर उस संस्था का नामकरण हुआ है। वह उन संस्थाओं से लक्षित किया जा सकता है। और उसको लक्षित करके केवल संख्या का विधान करेगा। नाना दिनों के वाद में यदि संस्था और संख्या दोनों का विधान किया जायेगा—उक्थ्य संस्था होती हैं और वे पांच होती हैं। ऐसा विधान करने पर वाक्यभेद होवे। इसलिये ज्योतिष्टोम का अभ्यास होता है ॥८॥

अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्याद अभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्त्यर्थ है। (अधिकारात्) अधिकार से (प्रकृतिः) प्रकृतिरूप द्वादशाह के दिन (तद्विशिष्टा) तत्तत् संस्थाविशिष्ट (स्यात्) होवे। (अभिधानस्य) अग्निष्टोम उक्थ्य आदि नामों के (तन्निमित्तत्वात्) उस सस्था=जिस स्तोत्र से कर्म की समाप्ति होती है, के कारण होने से।

व्याख्या—ऐसा नहीं है कि ज्योतिष्टोम का अभ्यास है। तो कैसे है (=किसका अभ्यास है) ? प्रकृति तद्विशिष्ट होवे। द्वादशाह के दिन संस्थाविशिष्ट [अभ्यस्त] होवें। किस हेतु से ? अधिकार से। वे(=द्वादशाहिक तत्तत् संस्था से विशिष्ट दिन) चोदक से अधिकृत

---

१. 'उक्थ्याः संस्थाः' पाठान्तरम्।

चोदकेनाधिकृतानि । एवं चोदकानुग्रहो भविष्यति । ननु प्रत्यक्षविहितो ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोमादिभिः शब्दैः । नेत्याह । कथम् ? अभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् । अग्निष्टोमाद्यभिधानं संस्थानिमित्तं, न ज्योतिष्टोमाभिधायकम्[1] । तत्तत्संस्थं[2] क्रतु वदितु शक्नोति, न ज्योतिष्टोममेव । यत्तु अनेकार्थत्वमिति[3] । नानेकार्थत्वं[4] भविष्यति । गणचोदनया प्राप्तानामह्नां पञ्चानां संस्थामात्रं विधायिष्यते । शताग्निष्टोममित्यपि समास उभयविशेषणविशिष्टं गणमाह । स एक एवार्थः । यथा—लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति[5] इति । पृथक्त्वनिवेशिनी चैवं संख्याऽनुगृहीता भविष्यति । तस्माद् द्वादशाहिकानां नानाह्नां वादः ।।६।।

———

हैं । इस प्रकार चोदक का अनुग्रह होगा । (आक्षेप) प्रत्यक्ष विहित ज्योतिष्टोम है अग्निष्टोम आदि शब्दों के द्वारा । (समाधान) नहीं है (=अग्निष्टोम आदि शब्दों से ज्योतिष्टोम अभिहित नहीं है)। कैसे ? अभिधान के तन्निमित्त होने से । अग्निष्टोमादि नाम संस्थानिमित्तक हैं, ज्योतिष्टोम के वाचक नहीं हैं । उस उस संस्था (=समाप्ति) वाले क्रतु को कह सकता है, केवल ज्योतिष्टोम को ही नहीं कहता । और जो यह कहा कि [ऐसा मानने पर] अनेकार्थत्व (=द्वादशाहिक के दिनों के पक्ष में संख्या और संस्था दोनों को कहना) होगा । अनेकार्थत्व नहीं होगा । गणचोदना से प्राप्त पांच दिनों का संस्थामात्र का विधान करेगा । शताग्निष्टोमम् यह भी उभय विशेषण (=संख्या और संस्था) विशिष्ट गण को कहता है । और वह एक ही अर्थ है । जैसे लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति (=लाल पगड़ीवाले ऋत्विक् कर्म करते हैं) में [लोहितोष्णीष विशिष्ट ऋत्विक् का विधान है] । ऐसा होने पर पृथक्त्व में रहने वाली संख्या अनुगृहीत होगी । इससे द्वादशाहिक के नाना (=तत्तत् संस्थावाले) दिनों का कथन है ।।६।।

विवरण- तान्यत्र चोदकेनाधिकृतानि—द्रष्टव्य—गणेषु द्वादशाहस्य (मी० ८।१।१७) अर्थात् गणों की चोदना में द्वादशाहिक विध्यन्त होता है । अर्थात् गणों की द्वादशाह प्रकृति होती है ।।६।।

———

१. 'ज्योतिष्टोमवाचकम्' पाठान्तरम् । २. 'तत्संस्थं' पाठान्तरम् ।
३. 'अनेकार्थमिति' पाठान्तरम् । ४. 'नानेकार्थम्' पाठान्तरम् ।
५. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—लोहितोष्णीषा लोहितवाससे निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति । षड्विंश ब्रा० ३।८।।.........लोहितवसना......... । आप० श्रौत २२।४।२३।।

[शतोक्थ्यादौ ज्यौतिष्टोमिकोक्थ्यादिस्तोत्रानुष्ठानाधिकरणम् ॥५॥]

शतोक्थ्यं भवति,[1] शतातिरात्रं भवति[2] इति श्रूयते। तत्र द्वादशाहिकान्यहानि प्रवर्तन्ते। तानि च प्रायेणोक्थ्यसंस्थानि। द्वावग्निष्टोमौ। **शतोक्थ्यं भवति** इत्युक्तं, अग्निष्टोमयोरुक्थ्यस्तोत्रोपचयः प्राप्तः। **शतातिरात्रं भवति** इति सर्वेषु रात्रिपर्यायोपचयः। तत्र चिन्त्यते। किं द्वादशाहादुपचयः कर्तव्य उत ज्योतिष्टोमादिति ? किं प्राप्तम् ?

गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ॥१०॥ (पू०)

व्याख्या—शतोक्थ्यं भवति (=१०० उक्थ्य होते हैं), शतातिरात्रं भवति (=१०० अतिरात्र होते हैं) ऐसा सुना जाता है। इनमें द्वादशाहिक अहःप्रवृत्त होते हैं। और वे प्रायः उक्थ्य संस्थावाले हैं, दो अग्निष्टोम हैं। शतोक्थ्यं भवति ऐसा कहा है [इससे] दो अग्निष्टोमों में उक्थ्य स्तोत्र का उपचय प्राप्त होता है। शतातिरात्रं भवति में सब (अग्निष्टोमों और उक्थ्यों) में रात्रिपर्याय का उपचय प्राप्त होता है। उसमें विचार किया जाता है - क्या द्वादशाह से उपचय करना चाहिये अथवा ज्योतिष्टोम से ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—प्रायेणोक्थ्यसंस्थानि, द्वावग्निष्टोमौ—द्वादशाह के प्रायणीय और उदयनीय दिनों को छोड़कर शेष मध्य के दिनों में विभिन्न संस्थाएँ इस प्रकार हैं—दूसरे और दसवें दिन अग्निष्टोम (२), तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम दिन उक्थ्य (७). पञ्चम दिन षोडशी (१) (द्रष्टव्य पूर्वत्र मी० ८।३।३ भाष्य व्याख्या, पृष्ठ २२४८)। पञ्चम दिन १ षोडशी होने से भाष्यकार ने **प्रायेणोक्थ्यसंस्थानि** में प्रायः शब्द का प्रयोग किया है। **अग्निष्टोमयोरुक्थ्यस्तोत्रोपचयः**—दश दिनों में जो दो अग्निष्टोम संस्थाएं हैं उनमें उक्थ्य स्तोत्र का उपचय (=वृद्धि=वर्धन) प्राप्त होता है। इसी प्रकार **शतातिरात्रं** में सब (=अग्निष्टोम और उक्थ्यों) में रात्रिपर्याय का उपचय होगा। **ज्योतिष्टोमात्**—ज्योतिष्टोम से सभी अग्निष्टोमादि संस्थाओं का ग्रहण होता है। अतः शत अतिरात्र में ज्योतिष्टोम की अग्निष्टोमादि सभी संस्थाओं में रात्रि पर्याय का उपचय प्राप्त होता है।

गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(गणात्) गण=द्वादशाह के अग्निष्टोमादि से (उपचयः) उक्थ्य और रात्रिपर्याय के धर्मों का उपचय होगा। (तत्प्रकृतित्वात्) अहर्गणों की द्वादशाह प्रकृति होने से।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'शतोक्थेन' शब्द शत० ११।५।५।२,४॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शतातिरात्रं सत्रमुपेयुः। शत० ११।५।५।६॥

गणादुपचयः । कुतः ? तत्प्रकृतित्वात् । द्वादशाहप्रकृतय एतेऽहर्गणाः । तेषु द्वादशाहिको विध्यन्तः प्राप्यते । यदि द्वादशाहादुपचयः,एवं चोदकानुग्रहो भविष्यति। तस्माद् गणादुपचयः ॥१०॥

एकाहाद्वा तेषां समत्वात् स्यात् ॥११॥

एकाहाद्वा ज्योतिष्टोमादुपचयो, न द्वादशाहात् । कस्मात् ? तेषां समत्वात् । द्वादशाहिकानामह्नामितरैर्वैकृतैः समत्वं भवति । तान्यप्यन्यतः संस्थामाकाङ्क्षन्ति, इमान्यपि । न च भिक्षुका भिक्षुकादाकाङ्क्षन्ति, सत्यन्यस्मिन् प्रसवसमर्थेऽभिक्षुके । किमेतदुक्तं भवति । द्वादशाहे संस्थास्तोत्राण्यनाम्नातानीत्यतो यत्राऽऽम्नातानि तत आकाङ्क्षन्ति । वैकृतेष्वहःसु तानि नाऽऽम्नातानीति । तस्माद् वैकृतान्यहानि यत्र विहितानि तत एवाऽऽकाङ्क्षितुमर्हन्ति । ज्योतिष्टोमे च तान्याम्नातानि । तस्मा-

---

व्याख्या—गण से उपचय होगा । किस हेतु से ? तत् प्रकृति होने से । ये [शतोक्थ्य शतातिरात्र रूप अहर्गणों की] द्वादशाह प्रकृतिवाले हैं । उनमें द्वादशाहिक विध्यन्त होगा । इस कारण गण (=द्वादशाह) से उपचय होगा ॥१०॥

एकाहाद्वा तेषां समत्वात् स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (तेषाम्)उनके(= द्वादशाहिक अग्निष्टोमादि के और शतोक्थ्यादि) के(समत्वात्)समान होने से(एकाहात्) एकाह रूप जो ज्योतिष्टोम की संस्थाएं हैं उनसे उपचय (स्यात्) होवे । अर्थात् द्वादशाहिक अग्निष्टोमादि और शतोक्थ्यादि दोनों अपने सस्था धर्मों की आकाङ्क्षा रखते हैं अतः दोनों के समान आकाङ्क्षावाले होने जैसे द्वादशाहिक एकाह ज्योतिष्टोम एकाहरूप प्रकृति से धर्मों का ग्रहण करते हैं वैसे ही ये शतोक्थ्यादि भी ज्योतिष्टोम से धर्मों का ग्रहण करेंगे ।

व्याख्या—अथवा एकाह ज्योतिष्टोम से उपचय होवे द्वादशाह से उपचय न होवे । किस हेतु से ? उनके समान होने से । द्वादशाहिक अग्निष्टोमादि दिनों के इतर वैकृत कर्मों से समानता है । वे (=द्वादशाहिक दिन) भी अन्य स्थान से अर्थात् प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम रूप एकाह से संस्था की आकाङ्क्षा करते हैं, ये शतोक्थ्य आदि भी । भिक्षुक भिक्षुक से आकाङ्क्षा (=याचना) नहीं करते । अन्य प्रसव समर्थ (=वितरण समर्थ) अभिक्षुक के होने पर अर्थात् ज्योतिष्टोम एकाह के विद्यमान होने पर । इससे क्या कहा जाता है ? द्वादशाह में संस्था के स्तोत्र आम्नात (=पठित) नहीं हैं अतः जहां संस्था के स्तोत्र पठित हैं उससे आकाङ्क्षा करते हैं । वैकृत दिनों में वे संस्था स्तोत्र आम्नात नहीं हैं । इससे वैकृत दिन जहां संस्था स्तोत्र विहित हैं उससे ही आकाङ्क्षा कर सकते हैं । ज्योतिष्टोम में वे संस्था स्तोत्र

ज्ज्योतिष्टोमादुपचयः ॥११॥

[बृहस्पतिसवादौ दाशतयीभ्य उत्पन्नगायत्रीणां समानयनाधिकरणम् ॥६॥]

उपचयश्चिन्तितः। अपचय इदानीं चिन्त्यते। इदं श्रूयते—वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत[1] इति। तत्रेदं समाम्नातं—गायत्रमेतदहर्भवति[2] इति। अत्र विचार्यते—किं प्राकृतीनां त्रिष्टुब्जगतीनामक्षरावलोपं कृत्वा गायत्रं तदहः कर्तव्यम् उतोत्पत्तिगायत्रीणां दाशतयीभ्य आगमं कृत्वेति ? अत्र सूत्रेणैवोपक्रमः—

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रकृत्यधिकारात् संख्यात्वाद् अग्निष्टोमवद्व्यतिरेकात् तदाख्यत्वम् ॥१२॥ (पू०)

आम्नात हैं। इससे ज्योतिष्टोम से उपचय होगा ॥११॥

व्याख्या—उपचय (=वृद्धि=बढ़ाना) का विचार किया। अब उपचय(=ह्रास=न्यून करना) का विचार किया जाता है। यह सुना जाता है - वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत (=वाजपेय से यजन करके बृहस्पतिसवन यजन करे)। वहां यह आम्नात है—गायत्रमेतदहर्भवति (=यह दिन गायत्र=गायत्री छन्दवाला होता है)। यहां विचार किया जाता है—क्या प्रकृतिगत त्रिष्टुप् जगती छन्दों के अक्षरों का लोप करके उस दिन का गायत्री छन्दवाला करना चाहिये अथवा उत्पत्ति रूप गायत्री (=स्वभावतः गायत्रछन्द) रूप से पठित ऋचाओं का दाशतयियों (=१० मण्डल वाली ऋग्वेद की शाखाओं) से आगम करके [गायत्र अह सम्पन्न करना चाहिये]। इसमें सूत्र से ही आरम्भ करते हैं—

विवरण—प्राकृतीनां त्रिष्टुब्जगतीनामक्षरावलोपं कृत्वा—प्रकृति में पठित त्रिष्टुप् के ३६ अक्षरों में से १२अक्षरों का लोप और जगती के ४८ अक्षरों में से २४ का लोप करके उक्त छन्दों को २४ अक्षरों वाली गायत्री का रूप दिया जाये [जगती के ४८ अक्षरों में २४ का लोप बिना किये दो गायत्री भी बनाई जा सकती हैं]।

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रकृत्यधिकाराद् संख्यात्वाद् अग्निष्टोमवद्व्यतिरेकात् तदाख्यत्वम् ॥१२॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। आप० श्रौत १८।७।१७ सूत्रे वाजपेयानन्तरं बृहस्पतिर्विधीयते।

२. शत० १२।२।४।७॥ एतद् ससमहः।

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः—गायत्रीषु श्रूयमाणासु गायत्रमेतदहर्भवतीति, प्राकृतीनां त्रिष्टुब्जगतीनामवच्छेदोऽक्षरावलोपः कर्तव्यः। कुतः? प्रकृत्यधिकारात्। चोदकेनात्र प्राकृत्यस्त्रिष्टुब्जगत्यः प्राप्ता अधिकृता विद्यन्ते। यद्यन्यानामृचामागमः क्रियेत, प्राकृतः प्रत्ययो बाध्येत।

ननु प्रत्यक्षश्रुता गायत्र्यः ताभिश्चोदकप्राप्ता इतरा बाधितव्याः। नेत्याह। कस्मात्? संख्यात्वात्। अयं गायत्रीशब्दः संख्यावाचकः। कथं ज्ञायते? अव्यतिरेकात् चतुर्विंशतिसंख्यामेष न व्यभिचरति। न क्वचित् चतुर्विंशतिसंख्यया विना दृष्टः। चतुर्विंशतिसंख्याहीनासु त्रिष्टुब्जगतीषु न कदाचिद् भवति। तस्मात् संख्याशब्दोऽयम्। संख्याशब्दश्चेदक्षरावलोपः कर्तव्यः। अग्निष्टोमवत्। यथा—शताग्निष्टोमं भवति[1] इत्युक्ते द्वादशाहिकानामह्नामुक्थ्यावलोपः क्रियते। एवमिहापि ॥१२॥

सूत्रार्थः—(गायत्रीषु) यह दिन गायत्रीछन्दवाला होता है रूप से गायत्रियों के सुने जाने पर (प्राकृतीनाम्) प्रकृतिगत त्रिष्टुप् और जगती छन्द के अक्षरों का (अवच्छेदः) लोप करना चाहिये (प्रकृत्यधिकारात्) चोदकवचन से प्रकृतिगत त्रिष्टुप् जगती छन्दों के अविकृत होने से। (संख्यात्वात्) गायत्री के २४ संख्या के (अव्यतिरेकात्) व्यतिरेक के अभाव=अव्यभिचार से (तदाख्यत्वम्) उस संज्ञावाचक अर्थात् गायत्री शब्द के २४ संख्यावाची होने से। (अग्निष्टोमवत्) शताग्निष्टोमं भवति में जैसे द्वादशाहिक उक्थ्य दिनों का लोप किया है, तद्वत्।

व्याख्या—गायत्रियों में प्रकृत छन्दों का अवच्छेद (=ह्रास=लोप) करना चाहिये। गायत्रमेतदहर्भवति में गायत्रियों के श्रूयमाण होने पर प्रकृति से प्राप्त त्रिष्टुप् और जगती छन्दों में [गायत्री के सम्पादन के लिये] अक्षरों का लोप करना चाहिये। किस हेतु से? प्रकृति के अविकृत होने से [प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस]चोदक वचन से यहां प्रकृतिगत त्रिष्टुप् और जगती [छन्दस्क ऋचाएं] प्राप्त हुई अधिकृत हैं। यदि अन्य गायत्रीछन्दस्क ऋचओं को आरम्भ करें तो प्राकृत प्रत्यय बाधित होवे।

(आक्षेप) प्रत्यक्ष श्रुत गायत्री ऋचाएं हैं उनसे चोदक प्राप्त अन्य [त्रिष्टुप् जगती ऋचाएं] बाधित होवें। (समाधान) ऐसा नहीं होवे। किस हेतु से? संख्यात्व के कारण। यह गायत्री शब्द संख्यावाचक है। कैसे जाना जाता है? अव्यतिरेक से। यह गायत्री शब्द चतुर्विंशति संख्या को व्यभिचरित नहीं करता (=नहीं छोड़ता)। कहीं भी चतुर्विंशति संख्या के विना [यह गायत्री शब्द] नहीं देखा गया। चतुर्विंशति संख्या से हीन (=रहित) त्रिष्टुप् जगती में [यह गायत्री शब्द] कभी नहीं होता है। इससे यह गायत्री संख्या शब्द है। यदि संख्या शब्द होवे तो [त्रिष्टुप् जगती के] अक्षरों का लोप करना होगा। अग्निष्टोम के समान। जैसे शताग्निष्टोमं भवति ऐसा कहने पर द्वादशाहिक उक्थ्य दिनों का लोप करते हैं। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये॥१२॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शताग्निष्टोमं सत्रमुपेयुः। शत० ११।५।५।२,४।

तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनम् ॥१३॥

तन्नित्यवत् संख्यामात्रं ब्रुवन्तं गायत्रीशब्दं मत्वा, पृथक्सतीषु पृथग्भूतासु गायत्रीभ्यो जगतीषु, अगायत्रीषु तद्वचनं भवति, गायत्रीवचनं भवति—ये हि द्वे गायत्र्यौ, सैका जगती[1] इति। यदि संख्यायां गायत्रीशब्दस्ततो जगत्यां द्वे चतुर्विंशतिसंख्ये इत्येतद्वचनमुपपद्यते, अथ ऋचि ततो द्वे ऋचौ जगत्यां न स्त इत्येतद्वचनमनुपपन्नं स्यात्। तस्मादपि संख्यायां गायत्रीशब्दः। तथेदमपरं च दर्शनम्। तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्रीः करोतीति ॥१३॥

न विंशतौ दशेति चेत् ॥१४॥

अथ, कश्चिद् ब्रूयात्, न विंशतौ दशसंख्याऽस्ति। न संख्या संख्यान्तरे वर्तते। गुणो हि संख्या। न च गुणा गुणेषु वर्तन्ते। एवमष्टाचत्वारिंशत् संख्या चतुर्विंशति-

---

तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनम् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तन्नित्यवत्) उस नित्यवत् संख्यामात्र को कहते गायत्री शब्द को मानकर (च) भी (पृथक्सतीषु) गायत्री से भिन्न जगतियों में अर्थात् अगायत्रियों में (तद्वचनम्) गायत्री शब्द का वचन होता है। यथा—ये हि द्वे गायत्र्यौ सैका जगती अर्थात् जो दो गायत्रिया हैं वह एक जगती हैं अर्थात् ४८ अक्षर वाली जगती में २४·२४ अक्षरों की दो गायत्रियां मानी जाती हैं। इससे भी गायत्री शब्द २४ अक्षरों का ही वाचक है।

व्याख्या—गायत्री शब्द को नित्यवत् २४ संख्यामात्र का वाचक मानकर गायत्रियों से पथक भूत जगतियों में अर्थात् अगायत्रियों में उस गायत्री का वचन होता है—ये हि द्वे गायत्र्या सका जगती (=जो दो गायत्रियां हैं, वह एक जगती है)। यदि २४ संख्या अर्थ में गायत्री शब्द होवे तो जगती में दो २४ संख्यावाले यह वचन उपपन्न होवे। इससे भी २४ संख्या में गायत्री शब्द है। तथा यह दूसरा दर्शन है—तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्रीः करोति (=तीन अनुष्टुभों [३२×३=९६] को चार गायत्रियां [२४×४=९६] बनाता है ॥१३॥

न विंशतौ दशेति चेत् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(विंशतौ) २० संख्या में (दश) १० संख्या (न इति चेत्) नहीं है ऐसा कहो तो!

व्याख्या—यदि कोई कहे कि विंशति (२०) में दश संख्या नहीं है। संख्या अन्य संख्या में वर्तमान नहीं होती। संख्या गुण है। गुण गुण में वर्तमान नहीं रहता। इस प्रकार अड़तालीस संख्या चौबीस संख्या में नहीं है। इससे गायत्री शब्द के संख्या अर्थ में होने पर भी

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—ये हि द्वे गायत्र्यौ सा जगती। मैत्रा० स० ३।२।२॥

संख्यायां नास्ति । तस्मात् संख्यार्थेऽपि गायत्रीशब्दे, एका जगती, द्वे गायत्र्यौ, इत्येतदनुपपन्नमेव । यश्चोभयो दोषो नासावेकस्य वाच्यः ॥१४॥

ऐकसंख्यमेव स्यात् ॥१५॥

अत्रोच्यते । न ब्रूमः संख्यायां संख्या वर्तत इति । किं तर्हि ? अष्टाचत्वारिंशतसंख्यापरिच्छिन्नेष्वक्षरेष्ववयवभूते द्वे चतुर्विंशतिसंख्ये, न तु द्वे ऋचौ इति । न च संख्या संख्यान्तरं निवर्तयति । यदि निवर्तयेदैकसंख्यमेव स्यात् । यस्य दश गावस्तस्य द्वौ पञ्चकौ गवामित्येतद्वचनं न स्यात् । भवति च तत् । तस्मान्न संख्या संख्यान्तरं निवर्तयति ।

[चतुर्दशपञ्चदशसूत्रयोरपरा व्याख्या]

एवं वा—

न विंशतौ दशेति चेत् । यद्यपि संख्यायां गायत्रीशब्दः, एवमपि नाक्षराव-

---

एक जगती दो गायत्रियां हैं यह कथन उपपन्न ही नहीं होता । और जो दोनों का दोष होता है वह एक का वाच्य नहीं होता ॥१४॥

विवरण—न गुणा गुणेषु वर्तन्ते—गुण का जो लक्षण वैशेषिक दर्शन में किया है उसमें गुण को द्रव्याश्रयी और अगुणवान् कहा है—द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमपेक्ष इति गुणलक्षणम् (१।३।१६) । अगुणवान् का अर्थ है जिसमें गुणान्तर न रहता हो ॥१४॥

ऐकसंख्यमेव स्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—यदि संख्या संख्यान्तर की निवर्तिका होवे तो (ऐकसंख्यम्) एक संख्या (एव) ही (स्यात्) होवे । यतः दश गायें देवदत्त की हैं । ऐसे कथन के स्थान में पांच पांच गायों के दो समुदाय हैं ऐसा भी कथन होता है ।

व्याख्या—यहां कहते हैं—हम यह नहीं कहते कि संख्या में दूसरी संख्या है । तो क्या कहते हैं ? अड़तालीस संख्या से परिच्छिन्न (=नपे हुए) अक्षरों में अवयवभूत दो चौबीस संख्यावाले हैं. न कि दो ऋचाएं हैं । संख्या संख्यान्तर को निवर्तित नहीं करती । यदि निवृत्ति करे तो ऐकसंख्य ही होवे । जिसकी दश गायें हैं, उसकी द्वौ पञ्चकौ गवाम् (गायों के दो पञ्चक=पांच पांच के समुदाय हैं) यह कथन न होवे । परन्तु ऐसा कथन होता है । इससे संख्या संख्यान्तर को निवर्तित नहीं करती ।

[चतुर्दशपञ्चदशसूत्रयोरपरा व्याख्या]

एवं वा—अथवा इस प्रकार से [सूत्र व्याख्या समझें] ।

न विंशतौ दशेति चेत् (=विंशति संख्या में दश संख्या नहीं है, ऐसा कहो तो) । यद्यपि [२४] संख्या में गायत्री शब्द है, इस प्रकार भी अक्षरों का लोप नहीं करना चाहिये ।

लोपः कर्तव्यः । किं कारणम् ? विंशतौ दश विद्यन्ते । किमतः ? इदं तावदतः । येन विंशतिरुपात्ताः, उपात्तास्तेन दश भवन्ति । एवं येन त्रिष्टुब्जगत्यः प्रयुक्ताः प्रयुक्तास्तेन तदन्तर्गता गायत्र्यो भवन्ति । तस्मादविकारेण प्रयोगः । एवं चोदकानुग्रहश्च भवति । गायत्रं चाहः कृतं भवति ।

ऐकसंख्यमेव स्यात् । अत्राऽऽह । जगत्यां त्रिष्टुभि चोपात्तायां न गायत्र्य उपात्ता भवन्ति । कथम् ? साधनं परिच्छिन्दती संख्या कर्मणि अङ्गी भवति । न जगत्याः, त्रिष्टुभो वाऽवयवः साधनम् । किं तर्हि ? त्रिष्टुब्जगत्यः । अथोच्येत, गायत्रमेतदहर्भवतीति वचनादवयव एवात्र साधनमिति । तथा सत्यक्षरावलोप एव प्राप्नोति । उत्तरस्यावयवस्यानङ्गत्वात्। न चानङ्गेऽनुपादीयमाने चोदको बाध्यते। तस्माद् यदुक्तं, यद्यपि संख्यायां गायत्रीशब्दः, एवमप्यविकारेण प्रयोग इति ।

एतदयुक्तम् । दर्शयति च—नोत्तरस्यां संख्यायामुपात्तायां पूर्वाः संख्या उपात्ता भवन्तीति। यदयम् एका च दश च शतं च सहस्रं च परार्धं चेति सर्वसंख्या अनुक्रामति । यदि चोत्तरस्यां संख्यायामुपात्तायां पूर्वाः संख्या उपात्ता भवन्ति

क्या कारण है ? बीस संख्या में दश संख्या हैं । इससे क्या होगा ? इससे यह होगा—जिसने बीस संख्या का उपादान (=ग्रहण) किया है उससे दश संख्या गृहीत होती हैं । इसी प्रकार जिसने त्रिष्टुपों और जगतियों का प्रयोग किया है, उसके द्वारा उनके अन्तर्गत गायत्रियां भी प्रयुक्त हुई हैं । इसलिये विना विकार(=लोप) के प्रयोग होगा । इस प्रकार चोदक का अनुग्रह भी होता है और दिन भी गायत्री वाला उपपन्न हो जाता है ।

ऐकसंख्यमेव स्यात् (=ऐकसंख्य ही होवे) । इस विषय में कहते हैं—जगती और त्रिष्टुप् के उपादान करने पर गायत्रियां गृहीत नहीं होती हैं । कैसे ? साधन के परिच्छिन्न(=नापती हुई) संख्या कर्म में अङ्गी होती है । जगती और त्रिष्टुप् का अवयव साधन नहीं है । तो क्या साधन है ? त्रिष्टुप् और जगतियां । यदि यह कहो कि गायत्रमेतदहर्भवति इस वचन से अवयव ही यहां साधन है । ऐसा होने पर अक्षरों का लोप ही प्राप्त होता है, उत्तर अवयव के अनङ्गत्व होने से । और अनङ्ग के उपादान न करने पर चोदक बाधित नहीं होता है । इसलिये जो कहा है—यद्यपि संख्या में गायत्री शब्द है अर्थात् २४ संख्या का वाचक गायत्री शब्द है, उस प्रकार भी विना विकार के प्रयोग हो जायेगा ।

यह युक्त नहीं है—यह दर्शाता है कि उत्तर संख्या के उपादान करने पर पूर्व संख्याएं उपात्त नहीं होती हैं । जो यह एका च दश च शतं च सहस्रं च परार्धं च के रूप में सब संख्याओं का अनुक्रमण (=कथन)होता है । यदि उत्तर संख्या के ग्रहण करने पर पूर्व संख्याएं गृहीत होवें तो ऐकसंख्य ही (=एक ही संख्या) होवे । एक ही परार्ध संख्या होवे । क्योंकि

ऐकसंख्यमेव स्यात् । एकैव परार्धसंख्या भवेत् । सा हि सर्वाभ्य उत्तरा । यतस्त्वेकाद्या अप्यनुक्रान्ताः, अतो विज्ञायते, नोत्तरस्यां संख्यायामुपात्तायां पूर्वा संख्या उपात्ता भवन्तीति ॥१५॥

गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ॥१६॥ (उ०)

नैतदेवं[1] संख्यायां गायत्रीशब्द इति । कथं तर्हि ? गुणाद् द्रव्यशब्दः स्यात् । चतुर्विंशत्यक्षरयुक्तस्य द्रव्यस्य वाचकः । कस्मात् ? असर्वविषयत्वात् । यदि संख्याशब्दः स्यात्, सर्वस्मिश्चतुर्विंशतिसंख्यासंख्येये[2] वर्तेत गोयूथादौ । न च वर्तते । तस्मान्न संख्याशब्दः ॥१६॥

वही सबके अन्त में है । जो एक आदि संख्याओं का कथन किया है इससे जाना जाता है कि उत्तर संख्या के उपादान करने पर पूर्व संख्याएं गृहीत नहीं होती हैं ॥१५॥

विवरण—एतदयुक्तम् इससे १४-१५ सूत्रों की जो दूसरी शाखा दर्शाई है उसकी अयुक्तता दर्शाई है । इस प्रकार ऐकसंख्यमेव स्यात् का सूत्रार्थ होगा—उत्तर संख्या के उपादान करने पर पूर्व संख्या गृहीत नहीं होती है । ऐसा मानने पर केवल अन्तिम परार्ध एक ही संख्या होवे एक दश शत आदि का निर्देश न होवे ॥१५॥

गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (गुणात्) गुण = २४ संख्या के सम्बन्ध से (द्रव्यशब्दः) २४ अक्षर युक्त ऋक् द्रव्य का वाचक गायत्री शब्द (स्यात्) होवे । (असर्वविषयत्वात्) गायत्री शब्द के सभी २४ संख्या युक्त द्रव्यों का विषय न होने से । अर्थात् गायत्री शब्द यदि २४ संख्या का वाचक होवे तो जो जो पदार्थ २४ संख्या युक्त होवे उन सब में गायत्री शब्द वर्तमान होवे, परन्तु ऐसा नहीं है अतः गायत्री शब्द २४ अक्षर युक्त द्रव्य विशेष ऋचा का ही वाचक है ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है कि गायत्री शब्द संख्या का वाचक है । तो कैसा है ? गुण से द्रव्य का वाचक होवे । २४ अक्षर युक्त [ऋक्] द्रव्य का वाचक है । किस हेतु से ? असर्वविषयक होने से । यदि गायत्री शब्द २४ संख्या शब्द होवे तो सभी २४ संख्या से संख्येय (=गिने जानेवाले) गोयूथ (= गौवों का समुदाय) में वर्तमान होवे । [किन्तु गोयूथ आदि में गायत्री शब्द] वर्तमान (= प्रयुक्त) नहीं होता है । इस कारण गायत्री संख्या शब्द नहीं है ॥१६॥

---

१. 'न चैतदेवं' इति पाठान्तरम् ।

२. 'चतुर्विंशतिसंख्येये' इति पाठान्तरम् ।

गोत्ववच्च समन्वयः ॥१७॥

यथा, गौरिति सत्यपि गमननिमित्ते सामान्यद्रव्याभिधाने सास्नादिमत्येव समन्वयो, नान्यत्रेति तद्वचन एव गोशब्दो विज्ञायते। एवमयमपि ऋग्वचन एव विज्ञातुं न्याय्यः ॥१७॥

संख्यायाश्च शब्दत्वात् ॥१८॥

चतुर्विंशतिसंख्यावाचकः शब्दोऽस्ति, चतुर्विंशतिरिति। नास्यान्तरेण गायत्रीशब्देनार्थः। संज्ञाया व्यवहारार्थत्वादेकेन व्यवहारसिद्धेः ॥१८॥

इतरस्याश्रुतित्वाच्च ॥१९॥

गोत्ववच्च समन्वयः ॥१७॥

सूत्रार्थः—(गोत्ववत्) गोत्व के समान (समन्वयः) सास्नादि द्रव्य में ही समन्वय होने से (च) भी। अर्थात् जैसे गो शब्द गच्छतीति गौः व्युत्पत्ति से सब गतिमान् अर्थ में प्रयुक्त न होकर गोत्व जाति के योग से सास्नादियुक्त पशु में ही प्रयुक्त होता है इसी प्रकार गायत्री शब्द सब २४ संख्यायुक्त पदार्थों के साथ समन्वित न होकर केवल ऋक् को ही कहेगा।

व्याख्या—जैसे गौ शब्द का गमन निमित्त होने पर सामान्य गतिवाले द्रव्य के अभिधायकत्व की प्राप्ति होने पर भी सास्नादि से युक्त प्राणी में ही समन्वय होता है उसी प्रकार यहां भी गायत्री शब्द २४ संख्यावाचक होने पर भी ऋग्वाचक ही जानना न्याय्य है ॥१७॥

संख्यायाश्च शब्दत्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(संख्यायाः) २४ संख्या का (शब्दवत्वात्) शब्दवान् अर्थात् चतुर्विंशति शब्द के विद्यमान होने से (च) भी गायत्री शब्द २४ संख्या का वाचक नहीं है।

व्याख्या—चतुर्विंशति संख्या का वाचक 'चतुर्विंशति' शब्द है। उस संख्या को कहने के लिये अन्य गायत्री शब्द से प्रयोजन नहीं है, संज्ञा के व्यवहारार्थ होने से एक संज्ञा से ही व्यवहार की सिद्धि होने से ॥१८॥

विवरण—एकेन व्यवहारसिद्धेः—इस विषय में अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् (मी० १।३। ३६) सूत्र द्रष्टव्य है। इस सूत्र द्वारा एक अर्थ के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग अन्याय्य माना है। इस पर हमारा विवरण देखें (भाग १, पृष्ठ २६४, २६५) ॥१८॥

इतरस्याश्रुतित्वाच्च ॥१९॥

सूत्रार्थः—(इतरस्य) अन्य ऋक् द्रव्य के (अश्रुतित्वात्) अशब्द=शब्द से व्यवहृत न होने से (च) भी गायत्री शब्द २४ संख्या का वाचक नहीं है।

इतरस्य ऋग्द्रव्यस्याश्रुतित्वात् । अशब्दत्वादित्यर्थः । तस्यापि व्यवहारार्थेन संज्ञाशब्देन प्रयोजनम्[1]। तत्रायं गायत्रीशब्दोऽर्थवान् भवति । संख्यायां निष्प्रयोजनः। तस्मादपि ऋक्शब्दो न्याय्यः । अतो गायत्रीणामृचामागमः कर्तव्य इति ॥१९॥

द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात् ॥२०॥

यदुपवर्णितम्, अग्निष्टोमवदिति । तत्र ब्रूमः—अग्निष्टोमशब्दस्य द्रव्यान्तरे कस्मिंश्चिन्निवेशो नास्ति । यथा गायत्रीशब्द ऋग्द्रव्ये । अयं हि केवलाग्निष्टोमान्ततां ब्रूते । न चोक्थ्यलोपमन्तरेण द्वादशाहिकानामह्नामग्निष्टोमान्तता भवतीत्यवश्यकार्य उक्थ्यलोपः । अयं पुनर्गायत्रीशब्द ऋग्द्रव्यस्य वाचक इत्युक्तम् । न

व्याख्या—इतर ऋक् द्रव्य के अश्रुति होने से अर्थात् अशब्दत्व (=शब्द रहित) होने से । उस (=२४ अक्षरयुक्त ऋक् द्रव्य) को भी व्यवहार के लिये संज्ञा शब्द से प्रयोजन (=आवश्यकता) है । वहां यह गायत्री शब्द अर्थवान् होता है । संख्या में निष्प्रयोजन है । इससे भी गायत्री का ऋक् शब्द न्याय्य है । इसलिये गायत्री छन्दवाली ऋचाओं का आगम करना चाहिये ॥१९॥

द्रव्यान्तरेऽनिवेशाद् उक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—अग्निष्टोम के (द्रव्यान्तरे) अन्य द्रव्य में (अनिवेशात्) निवेश न होने से अर्थात् द्रव्यान्तर को न कहने से शताग्निष्टोम में अग्निष्टोम शब्द (उक्थ्यलोपैः) उक्थ्य संस्थाओं के लोप से (विशिष्टम्) विशिष्ट (स्यात्) होवे । [यह १२ में सूत्र में अग्निष्टोमवत् दृष्टान्त के विषय में है ।]

विशेष—भाष्य की मुद्रित पुस्तकों में तथा कुतूहलवृत्ति में द्रव्यान्तरे निवेशात् पाठ मिलता है । सुबोधिनी वृत्ति में द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपे विशिष्टं स्यात् पाठ है । हमें अनिवेशात् पाठ युक्त प्रतीत होता है ।

व्याख्या—जो कहा है—अग्निष्टोम के समान [जैसे शताग्निष्टोम में द्वादशाहिक उक्थ्यों का लोप किया जाता है तद्वत् त्रिष्टुप् जगती के अक्षरों का लोप हो जायेगा] । उस विषय में कहते हैं—अग्निष्टोम शब्द का किसी [उक्थ्यादि] में निवेश नहीं है । जैसे गायत्री शब्द का ऋक् द्रव्य में है । यह (=अग्निष्टोम शब्द केवल अग्निष्टोम की अन्तता(=समाप्ति में होना) को कहता है । उक्थ्य लोप के विना द्वादशाहिक दिनों की अग्निष्टोमान्तता नहीं होती अतः उक्थ्य लोप अवश्य किया जाने योग्य है । यह गायत्री शब्द ऋग्द्रव्य का वाचक है,

---

१. 'कार्यं प्रयोजनम्' इति पाठान्तरम् ।

चाक्षरावलोपेन तदृग्द्रव्यं प्राप्यते। तस्माद् विषमोऽयमुपन्यास इति ॥२०॥

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥२१॥

अशास्त्रलक्षणानि चोक्थस्तोत्राणि शताग्निष्टोमे, तानि शास्त्रलक्षणयाऽग्निष्टोमान्ततया बाध्यन्ते। इह पुनर्विपरीतं, शास्त्रलक्षणा गायत्र्यः, अनुमानिक्यस्त्रिष्टुब्जगत्यः। ता न शक्नुवन्ति गायत्रीं बाधितुम् ॥२१॥

उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ॥२२॥

अथ यदुक्तं, संख्यायां गायत्रीशब्दो दृष्टः। ये हि द्वे गायत्र्यौ, सैका जग-

---

यह कह चुके। [त्रिष्टुप् और जगती के] अक्षरों के लोप से वह [गायत्र संज्ञक] ऋक् द्रव्य प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह [अग्निष्टोम का] निर्देश विषम है ॥२०॥

विवरण—अग्निष्टोम उक्थ्य आदि स्तोत्र विशेषों के नाम हैं। ये स्तोत्र जिन ज्योतिष्टोमों के अन्त में होते हैं उनकी वह संज्ञा होती है। न चोक्थ्यलोपान्तरेण······अग्निष्टोमान्तता भवति-उक्थ्य संस्था में अग्निष्टोम स्तोत्र के अनन्तर उक्थ्य स्तोत्र होता है। अतः द्वादशाहिक उक्थ्यों के उक्थ्य के लोप के विना उन दिनों की अग्निष्टोमान्तता नहीं होती ॥२०॥

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥२१॥

सूत्रार्थः—(अशास्त्रलक्षणत्वात्) शास्त्रलक्षण से रहित होने के कारण (च) भी शताग्निष्टोम में उक्थ्यों का लोप होता है।

व्याख्या—शताग्निष्टोम में उक्थ्य स्तोत्र शास्त्रलक्षण से विपरीत हैं। वे शास्त्रलक्षण अग्निष्टोमान्तता से बांधे जाते हैं। यहां पुनः विपरीत है। गायत्रियां शास्त्रलक्षण वाली है (गायत्रमेतदहर्भवति वचन से प्राप्त हैं)। त्रिष्टुप् जगतियां [प्रकृतिवद् अतिदेश से प्राप्त होने के कारण] आनुमानिक हैं। वे [आनुमानिक त्रिष्टुप् जगतियां] गायत्री को नहीं बांध सकतीं ॥२१॥

उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—गायत्री के (उत्पत्तिनामधेयत्वात्) औत्पत्तिक [नित्य] ऋचा का नामधेय होने से (भक्त्या) जगती के अवयव २४ अक्षरों में परिमाण सामान्य भक्ति=लक्षणा से (पृथक्सतीषु) पृथक् रूप से वर्तमान जगतियों में 'ये हि द्वे गायत्र्यौ सैका जगती' प्रयोग (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जो यह कहा कि [२४] संख्या में गायत्री शब्द देखा गया है—ये हि द्वे

तीति । तस्य कः परिहारः ? उच्यते—औत्पत्तिकमेतदृचो नामधेयमित्युक्तम् । अत उत्पत्तिनामधेयत्वाद् योऽयं जगत्यवयवे चतुर्विंशत्यक्षरे पदसंचये प्रयोगः, स भक्त्या[1] विज्ञेयः । न ह्येकस्य शब्दस्यानेकार्थता सत्यां गतौ न्याय्या[2] । कया पुनर्भक्त्या ? परिमाणसामान्यात् । यत्परिमाणं द्वयोर्गायत्र्योस्तदेकस्या जगत्याः । अत एतदुक्तम् —**ये हि द्वे गायत्र्यौ, सैका जगती** इति । तथा—यौ द्वौ कौरवौ स एको बाहीक इति । एतच्च गायत्रीद्वयप्रशंसार्थं वचनम् । कथम् ? इदं श्रूयते—**द्वाभ्यां गायत्रीभ्यां वैश्यस्य**[3] इति । तद्वेतदयुक्तमिवोच्यते । जगत्या वैश्यस्य कार्यम् । **जागतो हि वैश्यः**[4] । तदेतद्द्वाभ्यां गायत्रीभ्यां क्रियते । जगत्यैव तत्कृतं भवति—**ये हि द्वे गायत्र्यौ सैका जगती** इति । तस्मादहेतुरयं संख्यार्थत्वे गायत्रीशब्दस्य ॥२२॥

गायत्र्यौ सैका जगती, उसका क्या परिहार है ? [परिहार] कहते हैं—[गायत्री] यह ऋचा का नामधेय औत्पत्तिक (नित्य[5]) है । अतः उत्पत्ति नामधेय होने से जो यह [गायत्री शब्द] जगती के अवयवभूत चौबीस अक्षरों के पद समुदाय में प्रयोग है वह भक्ति से जानना चाहिये । एक शब्द की अनेकार्थता न्याय्य नहीं है । किस भक्ति से [प्रयुक्त] है ? परिमाण सामान्य से । जो अक्षर परिमाण दो गायत्रियों का होता है वही एक जगती का है । इसी से यह कहा है— ये हि द्वे गायत्र्यौ सैका जगती । तथा—जो दो कौरव है वह एक बाहीक है । यह यौ द्वौ आदि वचन दो गायत्री की प्रशंसार्थ है । कैसे ? यह सुना जाता है—द्वाभ्यां गायत्रीभ्यां वैश्यस्य (=दो गायत्री से वैश्य का [अग्निचयन में अग्नि का आधान करे]) । यह अयुक्त के समान कहा जाता है ! जगती ऋचा से [वैश्य का आधान] करना चाहिये । क्योंकि जागतो हि वैश्यः (=वैश्य जागत है=जगती से सम्बद्ध है) । यह (=जागतत्व) दो गायत्रियों से किया जाता है । जगती से ही वह किया हुआ होता है—ये हि द्वे गायत्र्यौ सैका जगती वचन से । इसलिये यह हेतु नहीं है गायत्री शब्द के संख्यार्थत्व में ॥२२॥

विवरण—यौ द्वौ कौरवौ स एको बाहीकः—इसका ठीक तात्पर्य हमारी समझ में नहीं आया । हमारे विचारानुसार इसका तात्पर्य यह है कि कौरव कुल की अर्थात् सोम (=चन्द्र) वंश की चक्रवर्तीसुहोत्र पर्यन्त राजधानी प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग) थी । सुहोत्र के पुत्र हस्ती ने गङ्गा के किनारे हस्तिनापुर वसाया था ।[6] तब से चान्द्रवंश की राजधानी हस्तिनापुर हुई ।

---

१. 'भाक्तः' इति पाठान्तरम् ।

२. मी० भाष्ये १।३।३ इत्येवमनेकत्र उक्तम्—'अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्' इति वचनमत्रानुसन्धेयम् ।

३. मै० सं० ३।२।२॥

४. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—जागतो वै वैश्यः । ऐ० ब्रा० १।२८॥

५. द्र०—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (मी० १।१।६) में कहा है—औत्पत्तिकमिति नित्यं ब्रूमः ।

६. पं० भगवद्दत्त कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग २, पृष्ठ ९६ ।

वचनमिति चेत् ॥२३॥

शक्यं तावत् तत्रैतद्वक्तुं, यत्रानुवादो गायत्रीशब्दः। यत्र तु विधिस्तत्र कथम्? यथा—तिस्रोऽनुष्टुभः चतस्रो गायत्रीः करोति[1] इति। कः पुनर्विधौ विशेषः? विधौ शब्दार्थेन व्यवहारो भवति। तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्र्यो न शक्याः कर्तुम्। शक्यास्तु चतस्रश्चतुर्विंशतयः। तस्मात्तत्र संख्यायां गायत्रीशब्द इति ॥२३॥

अथ ब्रूमः—

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः (मनु० १।२१) के अनुसार प्रयाग प्राग् देश के अन्तर्गत है। बाह्लीक नाम सतलज से लेकर सिन्ध नदी पर्यन्त भाग का है (महाभारत कर्ण० ४४।७)। तदनुसार इसका अर्थ लौकिक किंवदन्ती दो पुरबइये और एक पञ्जाबी के रूप में समझा जा सकता है। शारीरिक बल आदि की दृष्टि से प्रायः पञ्जाबी दो पुरबइये के बराबर आज भी देखा जाता है ॥२२॥

वचनमिति चेत् ॥२३॥

सूत्रार्थः—लक्षणा से (वचनम्) विधि कैसे होगी (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—यह वहां कहा जा सकता है जहां गायत्री शब्द अनुवाद हो। जहां तो विधि है वहां कैसे होगा? जैसे तिस्रोऽनुष्टुभः चतस्रो गायत्रीः करोति (=तीन अनुष्टुभों [३२×३=९६] को चार गायत्रियां [२४×४=९६] बनाता है। विधि में क्या विशेषता है? विधि में शब्दार्थ से व्यवहार होता है। तीन अनुष्टुप् चार गायत्रियां नहीं बनाई जा सकतीं। चार चौबीस बनाये जा सकते हैं। इससे वहां संख्या में गायत्री शब्द है ॥२३॥

विवरण—यत्र तु विधिस्तत्र कथम्—इसका जो विधिपरक वचन उद्धृत किया है वह हमें नहीं मिला। तै० सं० ५।४।१२।१ में तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्रियः वचन मिलता है परन्तु वह विधिपरक नहीं है। विधौ शब्दार्थेन व्यवहारः—'शब्दार्थेन=अभिधावृत्त्या=मुख्यार्थेन।' विधि में लक्षणा नहीं होती, यह भाष्यकार ने मी० १।२।२९ के भाष्य में इस प्रकार कहा है—विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते। न विधौ परः शब्दः इस रूप में यह न्याय मीमांसकों के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। द्र०—मीमांसा कोष भाग ४, पृष्ठ २२९४ ॥२३॥

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तिस्रोऽनुष्टुभश्च तिस्रो गायत्रियः। तै० सं० ५।४।१२।१॥

यावदुक्तम् ॥२४॥

इहैवैकत्र संख्यार्थो नान्यत्र । क्वचिद् दर्शनात् । आह । यद्येवं न संख्यावचनः । कथमिह संख्यार्थो जात इति ? उच्यते । लक्षणयाऽपि विधानं भवति । तथा लोके—अमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामिति । वेदेऽपि—पृष्ठैरुपतिष्ठते[1] इति । न[2] च तत्र सिंहशब्दः प्रतिकृतिवचनो दृष्ट इत्यन्यत्रापि प्रतिकृतिवचनो विज्ञायते । पृष्ठशब्दो वा पृष्ठसाधनमन्त्रवचनः[3] । न च लक्षणया प्रयोगे शब्दार्थः परिच्छिद्यते । यत्कारणं, स्वार्थ एव वर्तमानोऽर्थान्तरं लक्षयति । स्वार्थं जहन्नेव लक्षयेत् । तस्मादयमप्यहेतुः ॥२४॥

यावदुक्तम् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(यावदुक्तम्) अभिधा लक्षणा आदि जितनी वृत्तियां हैं उनसे विधान किया जाता है ।

विशेष—सुबोधिनी वृत्ति में यही सूत्र पाठ है और अर्थ भी उसी के अनुसार दर्शाया है । कुतूहलवृत्ति में वचनमिति चेत् पूर्व सूत्रपाठ के अनन्तर यावदर्थमिहैवैकत्र संख्यार्थो नान्यत्र क्वचिद् दर्शनात् सूत्रपाठ मुद्रित है । यह पाठ भाष्य में देखा जाता है ।

व्याख्या—यहां एक स्थान पर संख्यार्थ है, अन्यत्र नहीं है । क्वचिद् दर्शन होने से । (आक्षेप) यदि इस प्रकार [गायत्री शब्द] संख्या को कहनेवाला नहीं है तो कैसे यहां संख्यार्थवाला हो गया ? (समाधान) लक्षणा से भी विधान होता है । जैसे लोक में—ये आटे के पिण्ड सिंह बनाए जायें । अर्थात् इन आटे के पिण्डों को सिंहाकृति दो । वेद में भी—पृष्ठैरुपतिष्ठते (=पृष्ठों से उपस्थान करता है) । वहां ('पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्ताम्' में) सिंह शब्द प्रतिकृतिवाचक देखा जाता है । इससे अन्यत्र ('वने सिंहाः प्रचरन्ति' में) भी प्रकृति वचन नहीं जाना जाता है, और पृष्ठ शब्द ('पृष्ठैः स्तुवते' में) पृष्ठ साधन मन्त्र वाचक है [तो वह अन्यत्र 'पृष्ठैः स्तुवते' में भी पृष्ठ साधन मन्त्र का वाचक नहीं होता है] । और लक्षणा से प्रयोग में शब्दार्थ का परिच्छेद (=परित्याग) नहीं होता है । इसका कारण है—स्वार्थ में ही वर्तमान होता हुआ अर्थान्तर को लक्षित करता है । स्वार्थ का त्याग करके [अन्य को] लक्षित नहीं करेगा । इससे यह भी हेतु नहीं है ॥२४॥

विवरण—न च तत्र सिंहशब्दः—'न च' का सम्बन्ध उत्तर वाक्य के साथ है न च अन्यत्रापि । व्याख्या में जो भाषार्थ किया है वह इसी के अनुसार है । पृष्ठशब्दो वा पृष्ठसाधन-

---

१. तं० सं० ५।५।८।१॥

२. 'न च' उत्तरान्वयी—'दृष्ट इति न च अन्यत्रापि' इत्येवं योजना कर्तव्या ।

३. अत्र मी० ७।३। अधि० १४। ३६ भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

अपूर्वे च विकल्पः स्याद् यदि संख्याविधानम्॥२५॥

अपूर्वे च दर्शपूर्णमासकर्मणि विकल्पः स्यात्, यदि संख्यायां गायत्रीशब्दः। तत्र हि श्रूयते—**गायत्र्या परिदध्याद्**[1] इति। एवं श्रुते, 'आजुहोतायाश्चतुर्विंशत्यक्षरस्य पदसंचयस्य च विकल्पः स्यात्। विकल्पे पक्ष आजुहोताया बाधः। स चायुक्तः सत्यां गतौ। तस्मादपि नैतत् संख्याविधानम् ॥२५॥

मन्त्रवचनः—'पृष्ठैरुपतिष्ठते' में पृष्ठ स्तोत्र साधन मन्त्र को कहता है इसलिये 'पृष्ठैः स्तुवते' में भी पृष्ठ स्तोत्र साधन मन्त्र का वाचक नहीं होगा। मीमांसा ७।३। अधि० १७ का ३५वां सूत्र पूर्वपक्ष का है। ३६वें सूत्र के भाष्य में पृष्ठ शब्द की पृष्ठसाधनभूत मन्त्रवचनों का विस्तार से वर्णन किया है। परन्तु वहां उपतिष्ठन्ते में उपान्मन्त्रकरणे (अष्टा० १।३।२५) से मन्त्रकरण में विहित आत्मनेपद का आश्रय लिया है और यहां लक्षणा का यह भेद है। स्वार्थं जहन्नैव लक्षयेत् —यह नियम अजहत् स्वार्था लक्षणा के विषय में है। जहत्स्वार्था लक्षणा में स्वार्थ को छोड़कर ही अर्थान्तिर को लक्षित करता है। द्र०—साहित्यदर्पण, परि० २, तथा महाभाष्य १।१।१९; २।१।१॥ ॥२४॥

अपूर्वे च विकल्पः स्याद् यदि संख्याभिधानम् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(अपूर्वे) अपूर्व दर्शपूर्णमास कर्म के गायत्र्या परिदध्यात् में (विकल्पः) विकल्प (च) भी (स्यात्) प्राप्त होवे (यदि) यदि गायत्री शब्द (संख्याभिधानम्) संख्या का अभिधायक होवे।

व्याख्या—अपूर्व दर्शपूर्णमास कर्म में विकल्प होवे, यदि संख्या में गायत्री शब्द होवे अर्थात् गायत्री शब्द २४ संख्या का वाचक होवे। वहां सुना जाता है—गायत्र्या परिदध्यात् (=गायत्री से सामिधेनियों की समाप्ति करे)। ऐसा सुनने पर आजुहोत[दुवस्यत] इस चतुर्विंशत्यक्षर पदसमुदाय का विकल्प होवे। विकल्प पक्ष में आजुहोत[2] ऋचा का बाध होवे। वह अयुक्त है ज्ञान होने पर। इससे भी यह [गायत्र्या परिदध्यात्] में गायत्री से संख्या का विधान नहीं है ॥२५॥

---

१. गायत्रिया परिदध्यात्। तै० सं० २।५।१०॥

२. तै० ब्राह्मणे (३।५।२) 'आजुहोत दुवस्यत' सामिधेनी पठिता। ऋग्वेदे (५।२८।६) 'आजुहोता दुवस्यत' इति पाठः। तत्र छान्दसं दीर्घत्वम्।

३. तै० ब्रा० ३।५।२ में 'आजुहोत दुवस्यत' पाठ है। ऋग्वेद ५।२८।६ में 'आजुहोता दुवस्यत' पाठ है। यहां छान्दस दीर्घत्व है। भाष्य में 'अजुहोतायाः' पाठ में 'आजुहोत' प्रतीक में ऋक्त्व के कारण स्त्रीलिङ्गविषयक यप् जानना चाहिये। पञ्चदश सामिधेनियों में 'आजुहोत दुवस्यत' अन्तिम है।

अत्रोच्यते—

ऋग्गुणत्वान्नेति चेत् ॥२६॥

न प्रकृतौ विकल्पो भविष्यति । कुतः ? ऋग्गुणत्वात् । ऋग्गुणो हि तत्र प्रयोगोऽङ्गीकृतः । ऋचस्तस्य सामिधेन्य आम्नाताः । यदि, अनृचा परिदधीत, ऋग्गुणत्वं बाध्येत । तस्मात्तत्राऽऽजुहोतयैव परिधास्यति । तथा सति गायत्र्या परिहितं भविष्यति । ऋग्गुणत्वं चोपसंगृहीतम्[3] ॥२६॥

तथा पूर्ववति स्यात् ॥२७॥

विवरण — गायत्र्या परिदध्यात् —गायत्रीछन्दस्क ऋचा से सामिधेनियों की परिसमाप्ति करे। वह गायत्रीछन्दस्क आजुहोत दुवस्यत मन्त्र तै० ब्रा० ३।५।२ में निर्दिष्ट है। यदि गायत्री शब्द २४ संख्या का वाची होवे तो साक्षात् विधान सामर्थ्य से आजुहोत दुवस्यत मन्त्र प्राप्त होवे और २४ संख्या वाचक गायत्री शब्द को मानने पर किसी भी ऋचा के २४ अक्षर समुदाय प्राप्त होगा। इस प्रकार विकल्प होने पर पक्ष में आजुहोत ऋचा की बाधा प्राप्त होगी। परन्तु आजुहोत गायत्री ऋचा के नित्यवत् ज्ञान होने पर पक्ष में बाधा अनुचित है ॥२५॥

व्याख्या—इस (=विकल्प के) विषय में कहते हैं—

ऋग्गुणत्वान्नेति चेत् ॥२६॥

सूत्रार्थः—दर्शपूर्णमास में सामिधेनियों में ऋचाएं ही पठित हैं। अतः (ऋग्गुणत्वात्) दर्शपूर्णमास के ऋक् गुणवाला होने से गायत्री शब्द से आजुहोत ऋक् ही ली जायेगी, किसी अन्य ऋचा के २४ अक्षर नहीं लिये जायेंगे। अतः विकल्प प्राप्त नहीं होगा ऐसा होवे तो।

व्याख्या—प्रकृति में विकल्प नहीं होगा। किस हेतु से ? ऋग्गुणत्व से। ऋक् गुण वाला ही वहां (=प्रकृति में) प्रयोग स्वीकार किया है। वहां ऋचाएं सामिधेनी संज्ञक पठित हैं। यदि अनृक् (=किन्हीं २४ अक्षरों के समुदाय) से परिहित (=समाप्ति) होवे तो [सामिधेनियों का] ऋग्गुणत्व बाधित होवे। इसलिये वहां आजुहोत ऋचा से ही समाप्ति होगी। ऐसा होने पर 'गायत्री से समाप्ति' उपपन्न होगी और ऋग्गुणत्व भी संगृहीत होगा ॥२६॥

तथा पूर्ववति स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(तथा) दर्शपूर्णमास के समान (पूर्ववति) बृहस्पति सव के 'गायत्रमेतत् तदहर्भवति' में भी बृहस्पति सव की प्रकृतिभूत अग्निष्टोम के ऋग्गुणवाला होने से वहां भी गायत्री

---

३. 'उपमृहीतं'—पाठान्तरम्।

पूर्ववत्यपि बृहस्पतिसवे तथा स्यात्, यथाऽपूर्वे। अत्रापि ऋग्गुणकः प्रयोगोऽङ्गीकृतश्चोदकेन। तत्रापि ऋक्षूपादीयमानासु गायत्रं चैवाहः कृतं भवति। ऋग्गुणकत्वं च न बाधितम्। तस्मान्नाक्षरावलोपः ॥२७॥

गुणावेशश्च सर्वत्र ॥२८॥

तुशब्दस्य स्थाने चशब्दः। दृष्टश्च तुशब्दस्यार्थे चशब्दः। यथा, किंचेह भवतीति। गुणस्य चतुर्विंशतिसंख्यायाः सर्वत्राऽऽवेशः कृत्स्नायामाजुहोतायां, नाव-

---

ऋचाओं का ही ग्रहण (स्यात्) होवे। अर्थात् २४ संख्या अर्थ मानकर पूर्वपक्षी ने जो ऋगक्षर लोप कहा है वह न होवे।

व्याख्या—पूर्ववान् (=पूर्व उक्त) बृहस्पति सव में भी उसी प्रकार (=दर्शपूर्णमास के समान) होवे, जैसा अपूर्व में (=जिसकी कोई पूर्व प्रकृति नहीं है उस दर्शपूर्णमास में ऋग्गुणत्व से गायत्री का २४ संख्या अर्थ नहीं है)। यहां (=बृहस्पति सव में) भी ऋग्गुणवाला ही प्रयोग चोदकवचन से स्वीकृत (=स्वीकार किया गया) है। वहां (='गायत्रमेतदहर्भवति' में) भी ऋचाओं के उपादीयमान (=गृहीत) होने से गायत्र ही वह दिन किया जाता है। और ऋग्गुणत्व भी बाधित नहीं होता। इससे [त्रिष्टुप् जगती के] अक्षरों का लोप नहीं होगा [दाशतयी से गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं का आगम होगा] ॥२७॥

गुणावेशश्च सर्वत्र ॥२८॥

सूत्रार्थः—भाष्यकार ने इस सूत्र का दो प्रकार से व्याख्यान किया है। प्रथम व्याख्यान में सूत्रस्थ 'च' शब्द को 'तु' के स्थान पर माना है। हम नीचे यथा भाष्य दोनों अर्थ दे रहे हैं—

१—(गुणावेशः) २४ संख्या का आवेश=निवेश (तु) तो (सर्वत्र) कृत्स्न 'आजुहोत' ऋक् में होता है उसके किसी अवयव में नहीं होता है। अतः 'आजुहोत' के ग्रहण में गायत्री शब्द से ऋक् और २४ संख्या दोनों गृहीत होती हैं।

२—यदि (गुणावेशः) गायत्रीशब्द गायत्रीगत २४ अक्षर संख्या को कहता है तो वह २४ संख्या रूप गुण (सर्वत्र) सभी २४ संख्या से संख्येय द्रव्यों का (च) भी गायत्री शब्द वाचक प्राप्त होता है।

व्याख्या—'तु' शब्द के स्थान में 'च' शब्द है। 'तु' शब्द के अर्थ में 'च' शब्द [लोक में] देखा गया है—किन्तु यहां यह होता है। २४ संख्या रूपी गुण की सर्वत्र कृत्स्न 'आजुहोत' ऋक् में आवेश (=समावेश) प्राप्त होता है अवयव में नहीं। अतः उस (='आजुहोत') का

यवे। अतस्तस्यामुपादीयमानायामृग्गुणत्वं चोपगृहीतं भवति, संख्या च। बृहस्पतिसवे पुनर्या ऋचश्चोदकेनाङ्गीकृताः, तासामवयवे चतुर्विंशतिसंख्या निविष्टा। तस्मिन्नुपादीयमान ऋग्गुणत्वमनुपात्तं भवति। प्रकृतिगायत्रीषु तूपात्तं भवति। तस्मान्न संख्याभिधाने गायत्रीशब्दे प्रकृतिगायत्रीणामागमः प्राप्नोति।

अपर आह। इदं तावदयं संख्यावादी प्रष्टव्यः। कस्मादक्षरगतायामेव संख्यायां भवानवस्थितो, न पुनरन्यसंख्येयगतायामपि, ग्रहगतायां चमसगतायां वा। यावताऽविशेषेण श्रुतं, गायत्रमेतदहर्भवतीति। एवं सति सर्वत्र गुणावेशः संख्यावेशः[1] प्राप्नोति॥२८॥

निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत्॥२९॥

स चेद् ब्रूयात्, यत्रायं निष्पन्नो गायत्रीशब्दः, प्रसिद्ध इत्यर्थः। तस्य ग्रहणं

ग्रहण करने पर ऋग्गुणत्व और संख्या दोनों उपगृहीत होते हैं, परन्तु बृहस्पति सव में जो (त्रिष्टुप् और जगती) ऋचाएं चोदक वचन से प्राप्त होती हैं उनके अवयव में २४ संख्या निविष्ट होती है (=रहती है)। उस (=२४ संख्या) के उपादान करने पर ऋग्गुणत्व गृहीत नहीं होता [क्योंकि त्रिष्टुप् (३६ अक्षर) और जगती (४८ अक्षर) के २४ अक्षरों में ऋक्त्वधर्म नहीं है।] प्रकृतिगत गायत्रियों में तो (=ऋग्गुणत्व और संख्या दोनों) गृहीत होते हैं। अतः संख्या को कहनेवाले गायत्री शब्द [के ग्रहण करने] में प्रकृतिभूत गायत्रियों का आगम प्राप्त नहीं होता है।

दूसरे आचार्य कहते हैं—पहले इस संख्यावादी से यह पूछो कि किस कारण [गायत्री शब्द की] अक्षरगत २४ संख्या अर्थ में ही अवस्थित है अर्थात् अक्षरगत २४ संख्या अर्थ तक ही क्यों सीमित है? अन्य संख्येय ग्रहगत वा चमसगत २४ संख्या में भी [गायत्री शब्द को] क्यों नहीं स्वीकार करते? जबकि यह (=गायत्री शब्द) सामान्यरूप से श्रुत है—गायत्रमेतदहर्भवति। ऐसा स्वीकार करने पर सर्वत्र गुणावेश=संख्या का आवेश प्राप्त होता है॥२८॥

निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत्॥२९॥

सूत्रार्थः—(निष्पन्नग्रहणात्) जहां यह गायत्री शब्द निष्पन्न=प्रसिद्ध है उसके ग्रहण के ही न्याय्य होने से (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—यदि वह (=गायत्री शब्द का अर्थ २४ संख्या मानने वाला) कहे—जहां (=जिस अर्थ में) यह (=गायत्री शब्द) निष्पन्न है अर्थात् प्रसिद्ध है। उसका ग्रहण न्याय्य

---

१. 'संख्यावेशः' इति क्वचिन्नास्ति।

न्याय्यम् । अयं चाक्षरगतायामेव संख्यायां प्रसिद्धो न सर्वत्र । तस्मान्न सर्वसंख्येयगतो गृह्यत इति ॥२९॥

स वक्तव्यः—

तथेहापि स्यात् ॥३०॥

यथाऽक्षरगतायामेव संख्यायां दृष्टो नान्यत्र, एवमृक्ष्वेव दृष्टो नान्यस्मिंश्चतुर्विंशत्यक्षरे गद्ये वा । यथा चाक्षरेष्वेव दृष्ट इति नानक्षरे विज्ञायते । एवमृक्षु दृष्ट इति नानृक्षु विज्ञातुं न्याय्यः ॥३०॥

अत्राऽऽह । यद्यप्ययमृक्षु[1] गायत्रीशब्दः, एवमप्यक्षरावलोप एव कार्यः । किं कारणम् ? प्रकृत्युपबन्धनात् । चोदकेनात्र प्राकृतयस्त्रिष्टुब्जगत्यः प्रापिताः । ता इमा नोज्झिता भविष्यन्ति । गायत्रीशब्दश्च संख्यासामान्याच्छक्नोति तदवयवान्

है । यह (=गायत्री शब्द) अक्षरगत २४ संख्या में ही प्रसिद्ध है, सर्वत्र (=सब संख्येयों में) प्रसिद्ध नहीं है । इससे सब संख्येय गत [२४ संख्या अर्थ] गृहीत नहीं होता है ॥२९॥

व्याख्या—उससे कहना चाहिये—

तथा इहापि स्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(तथा) जैसे गायत्री शब्द चतुर्विंशति अक्षरों के समुदाय में देखा गया, अन्यत्र=अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता उसी प्रकार (इह) यहां (अपि) भी (स्यात्) होवे । अर्थात् ऋचाओं में देखा गया गायत्री शब्द अन्य अर्थ २४ संख्या से भिन्न अक्षर समुदाय में अथवा गद्य में प्रयुक्त न होवे ।

व्याख्या—जैसे [गायत्री शब्द] अक्षरगत २४ संख्या में ही दृष्ट अन्यत्र (=अन्य अर्थ में) प्रयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार ऋचाओं में देखा गया [गायत्री शब्द] अन्य २४ संख्यावाले अक्षर समुदाय में वा गद्य में प्रयुक्त न होवे । जैसे अक्षरों में देखा गया अन्य अक्षर भिन्न में नहीं जाना जाता (=प्रयुक्त नहीं होता) इसी प्रकार ऋचाओं में देखा गया ऋक् भिन्न में [प्रयुक्त] जानना भी न्याय्य नहीं है ॥३०॥

व्याख्या—(आक्षेप) यद्यपि ऋचाओं में गायत्री शब्द है तो भी ['गायत्रमेतदहर्भवति' में प्रकृति से प्राप्त त्रिष्टुप् और जगती में] अक्षरों का लोप ही करना चाहिये । क्या कारण है ? प्रकृति का उपबन्ध होने से । चोदक वचन ने यहां प्रकृतिगत त्रिष्टुप् और जगती ऋचाएं प्राप्त कराई हैं । वे त्रिष्टुप् और जगतियां उज्झित (=त्यक्त) नहीं होंगीं । गायत्री शब्द भी [२४] संख्या सामान्य से उसके अवयवों को कह सकता है । इस प्रकार दोनों प्राकृत

---

१. 'यद्यप्यृक्षु' पाठान्तरम् ।

वक्तुम् । एवमुभौ विधी अनुगृहीतौ भविष्यतः—प्राकृतो वैकृतश्चेति ।

अत्र उत्तरं पठति ।

यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छरेष्वपि प्रसिद्धः स्यात् ॥३१॥

यद्यविशये—असंशयेऽपि, गायत्रीषु विहितासु प्रकृत्युपबन्धनादगायत्र्यां गायत्रीशब्दः कल्प्यते, शरेष्वपि—शरमयं बर्हिर्भवति[1] इति कुशेषु शरशब्दः कल्पयितव्यः । कौशमेव बर्हिः कार्यम् । वक्तव्यो वा विशेषः ॥३१॥

और वैकृत विधियां अनुगृहीत होंगी ।

इस [आक्षेप] के अनन्तर [सूत्रकार] पढ़ते हैं—

विवरण—उपर्युक्त आक्षेप सूत्र से बहिर्भूत है । अतः भाष्यकार ने कहा है कि इस आक्षेप को ध्यान में रखकर सूत्रकार समाधान करते हैं ।

यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छब्दान्तरेष्वपि प्रसिद्धः स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व सूत्र से बहिर्भूत आक्षेप की निवृत्ति के लिये है । (यदि) यदि (अविशये) विना संशय के भी विहित गायत्रियों में (प्रकृत्युपबन्धात्) प्रकृति के अनुग्रह से अगायत्रियों में गायत्री शब्दार्थरूप (नियमः) नियम स्वीकार किया जाये तो (शब्दान्तरेषु) शब्दान्तरों के विषय में (अपि) भी प्रकृत्युपबन्ध (प्रसिद्धः) प्रसिद्ध अर्थवाले बर्हि की कल्पना होवे ।

इसका भाव यह है कि ऋक् में प्रसिद्ध गायत्री शब्द के संशय के विना भी प्रकृति के अनुग्रह के लिये उससे प्राप्त त्रिष्टुप् और जगतियों में भी अक्षर लोप से गायत्री की कल्पना की तो अभिचार कर्म में उक्त शरमयं बर्हिर्भवति (=शरों का विकारभूत बर्हि=बर्हिस्थानीय होता है) में भी प्रकृति के अनुग्रह के लिये शरों के स्थान पर कुशारूप बर्हि से ही वेदि का आच्छादन करना होगा ।

व्याख्या—**यदि विना संशय के भी गायत्रियों के विहित होने पर भी प्रकृति के अनुग्रह से अगायत्रियों (=त्रिष्टुप् जगतियों) में भी गायत्री शब्द की कल्पना करते हैं तो शरों में भी शरमयं बर्हिर्भवति (=शरों के विकार बर्हिस्थानीय होते हैं) में कुशाओं में शरशब्द की कल्पना करनी चाहिये । कुशाओं को ही बर्हि बनाना चाहिये अर्थात् प्रकृति के अनुग्रह के लिये शरों को छोड़कर कुशाओं से ही वेदि का आस्तरण करना चाहिये । अथवा इसमें विशेष कहना चाहिये ॥३१॥**

विवरण—शरमयं बर्हिर्भवति यह विधि अभिचार कर्म में विहित है । शर नाम सरकण्डे

---

१. तै० संहितायां २।१।५।७ इत्यत्र 'शरमयं बर्हिः' अभिचारकर्मणि पठ्यते ।

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३२॥

अयं विशेषो दृष्टः । चतुर्विंशतिसंख्यायामक्षरगतायां गायत्रीशब्दस्य प्रयोगः—ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगती इति । तेन शक्यते कल्पयितुम् ॥३२॥

तथा शरेष्वपि ॥३३॥

शरशब्दस्यापि कुशेषु प्रयोगो दृश्यते—शरवणमेवेदं कुशवनमिति ॥३३॥

अत्रोच्यते—

भक्त्येति चेत् ॥३४॥

स तत्र शरशब्दो भाक्तः प्रयुज्यते । दीर्घत्वात् पृथुपत्रत्वात् सादृश्यवादोऽसौ,

---

का है, जिसका बाणों में उपयोग होता है । इस अभिचार कर्म की प्रकृति दर्शपौर्णमास में बर्हि (=कुशाओं) से वेदि का आस्तरण होता है अतः प्रकृति प्राप्त बर्हि के अनुग्रह के लिये शर शब्द की बर्हि अर्थ में कल्पना करनी होगी ॥३१॥

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३२॥

सूत्रार्थः—अक्षरगत २४ संख्या में गायत्री शब्द का (प्रयोगः) प्रयोग (दृष्टः) देखा गया है—ये द्वे गायत्री सैका जगती=जो चौबीस-चौबीस अक्षरों की दो गायत्रियां है वह ४८ अक्षर की एक जगती (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यह विशेष देखा गया है—अक्षरगत २४ संख्या में गायत्री शब्द का प्रयोग है—ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगती । इससे [अक्षरगत २४ संख्या में गायत्री शब्द के प्रयोग की] कल्पना की जा सकती है ॥३२॥

तथा शरेष्वपि ॥३३॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार (शरेषु) शरों में (अपि) भी जानना चाहिये । कुशाओं में शर शब्द का प्रयोग होता है ।

व्याख्या—शर शब्द का भी कुशों में प्रयोग देखा जाता है—शरों का वन ही यह कुशवन है अर्थात् यह कुशवन शरवण ही है ॥३३॥

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—

भक्त्या इति चेत् ॥३४॥

सूत्रार्थः—शर शब्द का कुशों में प्रयोग (भक्त्या) गौणी वृत्ति से होता है (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—वहां (=कुशवन में शरवण प्रयोग में) वह शर शब्द भाक्त (=गौणी वृत्ति से) प्रयुक्त होता है । दीर्घत्व एवं स्थूल पत्रत्व के सादृश्य से यह शरवणमेवेदं कुशवनम्

शरवणमेवेदं कुशवनमिति। स्वार्थे वर्तमानः सादृश्यं गमयति । स्वार्थं जहत्कथं गमयेत्। तस्माच्छरेष्वेव तत्र शरशब्दस्य प्रयोगो न कुशेष्विति ॥३४॥

तथेतरस्मिन् ॥३५॥

तथेतरस्मिन्नपि, **ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगती** इति भाक्त एव गायत्रीशब्द इत्युक्तम्। सोऽपि स्वार्थ एव वर्तमानस्तत्सदृशं गमयतीति, ऋक्ष्वेव प्रयुक्तो न संख्यायाम्। तस्मान्न संख्यायां गायत्रीशब्दः। अतो नाक्षरावलोपः कर्तव्यः ॥३५॥

अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ॥३६॥

अपि च त्रिष्टुब्जगतीनामेकदेशे वाक्यमपरिसमाप्तं भवति। न चापरि-

---

कहा जाता है। स्व अर्थ (=शरत्व) में वर्तमान सादृश्य को जताता है। स्वार्थ (=शरत्व) को छोड़कर सादृश्य को कैसे जनायेगा। इससे शरों में ही वहां शर शब्द का प्रयोग है न कि कुशों में ॥३४॥

तथेतरस्मिन् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार (इतरस्मिन्) ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगती में भी गायत्री शब्द का भाक्त प्रयोग है।

व्याख्या—इसी प्रकार इतर (=गायत्री के प्रयोग) में भी होगा। ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगती में गायत्री शब्द भाक्त ही है यह कह चुके। यह (=गायत्री शब्द) भी स्वार्थ में ही वर्तमान होकर तत् सदृश अर्थ (=२४ अक्षर संख्या) को बोधित करता है, इससे [गायत्री शब्द] ऋचाओं में ही प्रयुक्त होता है, २४ संख्या में प्रयुक्त नहीं होता। इसलिये २४ संख्या में गायत्री शब्द नहीं है। इससे [त्रिष्टुप् जगती ऋचाओं के] अक्षरों का लोप नहीं करना चाहिये। अर्थात् गायत्रमेतदहर्भवति में प्रकृति से चोदक वचन द्वारा प्राप्त त्रिष्टुप् और जगतियों के क्रमशः १२ और २४ अक्षरों का लोप करके उन्हें गायत्री नहीं बना सकते। दाशतयी से गायत्रियों का आगम ही करना चाहिये ॥३५॥

अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—त्रिष्टुप् और जगतियों में अक्षर लोप करके गायत्री बनाकर प्रयोग करने पर (अर्थस्य) अर्थ के (असमाप्तत्वात्) पूर्ण न होने से (च) भी (तासाम्) उनके (एकदेशे) एकदेश में गायत्री शब्द (न) नहीं (स्यात्) होवे।

व्याख्या—और भी—त्रिष्टुप् और जगतियों के एक देश में वाक्य परिमाप्त (=पूर्ण) नहीं होता है। अपरिसमाप्त वाक्यार्थ से कोई भी अर्थ नहीं कहा जाता है। अर्थ के अभिधान

समाप्तेन वाक्येनार्थः कश्चिदभिधीयते। अर्थाभिधानार्थश्च मन्त्रप्रयोगः। तत्र मन्त्रप्रयोग एवानर्थकः स्यात्। तस्मान्न तासां त्रिष्टुब्जगतीनामेकदेशे गायत्रीशब्दः स्यात्। तस्मादुत्पत्तिगायत्रीणामेव दाशतयीभ्य आगमः कर्तव्य इति ॥३६॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्येऽष्टमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

———

(=कथन) के लिये ही कर्मों में मन्त्र का प्रयोग होता है। ऐसा होने पर मन्त्र प्रयोग ही अनर्थक हो जावे। इसलिये उन त्रिष्टुप् और जगतियों के एकदेश में गायत्री शब्द न होवे। इस कारण उत्पत्यवस्था में ही जो गायत्रियां हैं उनका ही दाशतयी (=ऋग्वेद) से आगम करना चाहिये ॥३६॥

विवरण—तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (मी० २।१।३२) लक्षण द्वारा कर्मों में मन्त्रों का प्रयोग तत्तत् क्रियमाण कर्म को कहने के लिये ही होता है। यही बात एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति (गोपथ २।२।६) में भी कही है। इसी का यहां अर्थाभिधानार्थं च मन्त्रप्रयोगः द्वारा भाष्यकार ने निर्देश किया है। इतना ही नहीं—अर्थरहित का प्रयोग कर्मों में नहीं होता है। यह भी तत्र मन्त्रप्रयोग एवानर्थकः स्यात् से कहा है। इससे प्रथम भाग के आरम्भ में लिखे गये श्रौत-यज्ञ-मीमांसा निबन्ध के काल्पनिक विनियोग प्रकरण में हमने जो लिखा हैं उसकी पुष्टि होती है। द्रष्टव्य—प्र० संस्क० पृष्ठ ११२-११५, द्वि० संस्क० पृष्ठ १२५-१२८) ॥३६॥

————

अष्टमाध्याये चतुर्थः पादः

[दर्विहोमशब्दस्य कर्मनामधेयत्वाधिकरणम् ॥१॥]

यदेकया जुहुयात्,दर्विहोमं कुर्याद्[1] इति श्रूयते। अस्मिन् दर्विहोमशब्दे भवति संशयः—किं गुणविधिरुत कर्मनामधेयमिति ? किं प्राप्तम् ?

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ॥१॥ (उ०)

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं, कर्मनामधेयमित्यर्थः। कुतः ? होमसंयोगात्। होम-शब्दोऽत्र श्रूयते। तत्प्रधानश्चायं समासः। दर्विशब्द उपसर्जनं, होमश्च कर्म। अथवा जुहुयादिति कर्मोच्यते। तेन समुच्चितो, यदेकया जुहुयाद् इति। तस्मात्

व्याख्या—यदेकया जुहुयात् दर्विहोमं कुर्यात् (=एक ऋचा से होम करे तो दर्विहोम करे)। इस दर्विहोम शब्द में सन्देह होता है—क्या यह गुणविधि है अथवा कर्मनाम-धेय है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—आहिताग्नि को यदि प्रवास करना पड़े तो वह वास्तोष्पते प्रतिजानीहि (तै० सं० ३।४।१०।१) और वास्तोष्पते शग्मया (तै० सं० ३।४।१०।१) से होम करे। यह होम शकट में दो बैलों में से एक बैल जोतकर करे। एक बैल के जोतने से 'प्रयास्यन्' स्थिति यथावत् उपपन्न होती है (द्र०—तै० सं० ३।४।१० सायणीय भाष्य)। यदि वास्तोष्पति देवता वाली एक ऋचा से होम करे तो दर्विहोम करे। दर्विहोम में दर्वि=कड़छी से होम किया जाता है। किं गुणविधिः—उक्त होम में दर्विरूप गुण का विधान है अथवा यह कर्म का नाम है।

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(दर्विहोमः) दर्विहोम शब्द (यज्ञाभिधानम्) यज्ञ को कहनेवाला है, (होम-संयोगात्) होम के संयोग से।

व्याख्या—दर्विहोम शब्द यज्ञ को कहनेवाला है अर्थात् कर्म का नामधेय है। किस हेतु से ? होम के संयोग से। होम शब्द यहां सुना जाता है। उस (=होम) की प्रधानता वाला यह समास है। दर्वि उपसर्जन (=अप्रधान) है। होम कर्म है। अथवा जुहुयात् से कर्म कहा जाता है। उससे समुच्चित (=सम्बद्ध) यदेकया जुहुयात्। इसलिये यह कर्मनामधेय

---

१. तै० सं० ३।४।१०।४॥

कर्मनामधेयम् । स्थितं तावत्, ततोऽर्थान्तरं प्रक्रियते ॥१॥

[दर्विहोमशब्दस्य स्मार्तानां वैदिकानां च कर्मणां नामधेयताधिकरणम् ॥२॥]

यदा कर्मनामधेयं, तदा चिन्त्यते—किं लौकिकानां स्मार्तानां कर्मणामष्टकादीनां नामधेयं दर्विहोमशब्दः, उत सर्वेषामेव लौकिकानां वैदिकानां चेति ? किं प्राप्तम् ?

स लौकिकानां स्यात् कर्तुस्तदाख्यत्वात् ॥२॥ (पू०)

स लौकिकानां स्यात् । स खलु दर्विहोमशब्दो लौकिकानां कर्मणां नामधेयं स्यात् । कुतः ? कर्तुस्तदाख्यत्वात् । तेषां कर्ता, तेन दर्विहोमशब्देन समाख्यायते ।

है । अधिकरण यहां स्थित हो गया=रुक गया । अनन्तर अर्थान्तर आरम्भ करते हैं ॥१॥

विवरण—तत्प्रधानश्चायं समासः—दर्विहोम का विग्रह है—दर्व्या होमः=कड़छी से आहुति । यह तृतीया तत्पुरुष समास है । तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होता है—उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः । होम के प्रधान होने से साधनभूत दर्वि उपसर्जन=अप्रधान है । अथवा जुहुयादिति कर्मोच्यते—पूर्व दर्विहोम शब्द के उत्तरपद होम से कर्म का विधान मानकर व्याख्या की है । यहां यदेकया जुहुयात् में 'जुहुयात्' से होमरूपी जो कर्म कहा गया है, उस होमरूपी कर्म का दर्विहोम नामधेय है क्योंकि यदेकया जुहुयात् और दर्विहोमं कुर्यात् दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं ॥१॥

व्याख्या—जब [दर्विहोम शब्द] कर्म का नाम है, तब विचार किया जाता है—क्या लौकिक स्मार्त कर्म अष्टका आदि का नाम दर्विहोम है अथवा लौकिक और वैदिक दोनों का ? क्या प्राप्त होता है ?

स लौकिकानां स्यात् कर्तुस्तदाख्यत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(सः) वह दर्विहोम शब्द (लौकिकानाम्) लौकिक कर्मों का (स्यात्) होवे, (कर्तुः) [उन लौकिक कर्मों के] कर्त्ता की (तदाख्यत्वात्) उस (=दार्विहोमिक) नामवाला होने से ।

व्याख्या—वह (=दर्विहोम नाम) लौकिक कर्मों का होवे । वह दर्विहोम शब्द निश्चित रूप से लौकिक कर्मों का नामधेय होवे । किस हेतु से ? कर्त्ता के उस आख्या (=नाम) वाला होने से । उनका कर्त्ता दर्विहोम शब्द से कहा जाता है—शिनियों का दार्विहोमिक

शिनीनां दार्विहोमिको ब्राह्मण:, अम्बष्ठानां दार्विहोमिको ब्राह्मण इति । यश्च यत्करोति स तेनाऽऽख्यायते । यथा—लावक: पावक इति । यदि चाष्टकादीनां नामधेयमेतत्, ततस्तेषां कर्मणां कर्ता दार्विहोमिकसमाख्यामर्हतीति । तस्माल्लौकिकानां नामधेयम् ॥२॥

सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ॥३॥ (उ०)

सर्वेषां लौकिकानां वैदिकानां च नामधेयमेतत्,न लौकिकानामेव । कस्मात्? दर्शनाद् वास्तुहोमे । वास्तुहोमे हि वैदिके दर्विहोमत्वं दर्शयति—**यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात् । पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवतत्वाय**[1] इति ।

ननु विपरीतमेतद् दर्शनम्—**यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात्** । अदर्विहोमं

ब्राह्मण है, अम्बष्ठों का दार्विहोमिक ब्राह्मण है । जो जिस कर्म को करता है, उस [कर्म] से वह कहा जाता है । जैसे—लावक पाचक । यदि अष्टकादि [लौकिक कर्मों] का यह नामधेय है, तो उन कर्मों के करनेवाला दार्विहोमिक नाम के योग्य है । इससे लौकिक कर्मों का नामधेय है ॥२॥

सर्वेषां वा दर्शनाद् वास्तुहोमे ॥३॥

सूत्रार्थ:—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष के निराकरण के लिये है । (सर्वेषाम्) सब लौकिक और वैदिक कर्मों का दर्विहोम नाम है । (वास्तुहोमे) वास्तोष्पति होम में (दर्शनात्) दिखाई पड़ने से ।

विवरण—वास्तुहोमे—यहां 'वास्तोष्पति होम' के लिये पदैकदेश न्याय से वास्तुहोम शब्द प्रयुक्त है । **पदेषु पदैकदेशान्** (महाभाष्य १।१।४५) यह पदैकदेश न्याय कहाता है ।

व्याख्या—सब लौकिक और वैदिक कर्मों का यह नामधेय है, केवल लौकिकों का ही नहीं । किस हेतु से ? वास्तुहोम में दिखाई पड़ने से । वैदिक वास्तुहोम (=वास्तोष्पति होम) में दर्विहोमत्व को श्रुति दर्शाती है - यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात् । पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवतत्वाय (=जो एक ऋचा से होम करे वह दर्विहोम करे पुरोनुवाक्या को पढ़कर याज्या से होम करता है वह सदेवतत्व=देवसम्मतत्व=देवयोग्यत्व के लिये होता है) ।

विवरण—पुरोऽनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति—'वास्तोष्पते प्रतिजागृहि' इस पुरोनुवाक्या को पढ़कर 'वास्तोष्पते शग्मया' याज्या से होम करता है । **सदेवतत्वाय**—भट्टभास्कर तै० सं० ३।४।१० में व्याख्या करता है—सदेवतत्वाय देवसंमितत्वाय देवयोग्यत्वायेत्यर्थ: ।

व्याख्या—(आक्षेप) यह दर्शन विपरीत है । जो एक से होम करे वह दर्विहोम

---

१. तै० सं० ३।४।१०।४॥

सन्तमित्यापद्यते। यदि दर्विहोम एवासौ, तत एकया द्वाभ्यां च हूयमानो दर्विहोम एव भवति। तत्रैतद् दर्शनं नोपपद्यते-**यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्याद्** इति। अत्रो-च्यते। यदि लौकिकानामेव नामधेयं न वैदिकानाम्। तत एकयाऽपि हूयमानोऽसौ नैव दर्विहोमो भवति, अलौकिकत्वात्, तत्रैतद् वचनं नोपपद्यते–**यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्याद्** इति। तस्माज्ज्ञापकमेवेदं वैदिकानां दर्विहोमत्वे। एवमपि ज्ञापक-मुक्तम्। कुतः प्राप्तिः? उच्यते—होमशब्दस्य सामान्याभिधायित्वात् प्राप्तिः। तस्माल्लौकिकवैदिकानां नामधेयमेतत् ॥३॥

[दर्विहोमशब्दस्य होमनामधेयत्वाधिकरणम् ॥३॥]

लौकिकानां वैदिकानां च नामधेयं दर्विहोमशब्द इति स्थितम्। इदानीं चिन्त्यते। किं यजतिचोदनानां जुहोतिचोदनानां च सर्वेषां नामधेयमुत जुहोति-चोदनानामेवेति। अविशेषात् सर्वेषामिति प्राप्ते, उच्यते—

जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ॥४॥ (उ०)

करे। अदर्विहोम होते हुए को, यह प्राप्त होता है। यदि दर्विहोम ही है यह, इससे एक या दो ऋचा हूयमान दर्विहोम ही होता है। वहां यह दर्शन उपपन्न नहीं होता—यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात्। (समाधान) यदि [दर्विहोम] लौकिक कर्मों का ही नामधेय है वैदिकों का नहीं है, तो वह एक ऋचा से हूयमान भी दर्विहोम नहीं होता है अलौकिक होने से। उस स्थिति में यह वचन उपपन्न नहीं होता—यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात्। इससे यह ज्ञापक ही है वैदिक कर्मों के दर्विहोमत्व में। (आक्षेप) इस प्रकार भी ज्ञापक कहा है, प्राप्ति कहां से होगी? (समाधान) होमशब्द के सामान्य के अभिधायित्व होने से प्राप्ति है। इससे लौकिक वैदिक उभयविध कर्मों का दर्विहोम नाम है ॥३॥

व्याख्या—लौकिक और वैदिक कर्मों का दर्विहोम नामधेय है, [यहां प्रथम अधिकरण] स्थित हो गया (=रुक गया)। अब यह विचार किया जाता है कि क्या 'यजति' से कही गई विधियों में और 'जुहोति' से कही गई सबका दर्विहोम नामधेय है अथवा 'जुहोति' से कही गई विधियों का ही। विशेष न जाना जाने से सब चोदनाओं का दर्विहोम नाम है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष को निवृत्त करता है। (जुहोतिचोदनानाम्)

जुहोतीनां नामधेयं न यजतीनाम् । कुतः ? तत्संयोगात् । होमशब्दसंयोगात् । अयं होमशब्दो जुहोतेर्वाचको न यजतेः । यजतौ लक्षणया स्यात् । तस्माज्जुहोतिनामधेयम् ॥४॥

———

[दर्विहोमशब्दस्य गुणविधित्वनिराकरणाधिकरणम् ॥४॥]

स्थितादुत्तरमुच्यते—

द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ॥५॥ (पू०)

यदुक्तं कर्मनामधेयं दर्विहोम इति । तन्न । किं तर्हि ? गुणाभिधानं स्यात् । गुणविधिरित्यर्थः । कुतः ? द्रव्योपदेशात् । द्रव्योपदेशोऽवगम्यते—दर्व्या होमो दर्वि-

---

दर्विहोम शब्द 'जुहोति' से कही गई विधियों का ही नाम है (तत्संयोगात्) उस= होम शब्द के साथ संयोग होने से ।

व्याख्या—जुहोतियों का ही नाम है यजतियों का नहीं । किस हेतु से ? उसके साथ संयोग होने से । होम शब्द के संयोग से । यह होम शब्द 'जुहोति' का ही वाचक है, न कि 'यजति' का । 'यजति' का वाचक मानने में लक्षणा से प्रयुक्त होगा । इस कारण 'जुहोति' चोदना का [दर्विहोम शब्द] नाम है ॥४॥

विवरण—जुहोतीनां नामधेयम्, न यजतीनाम्—इसका तात्पर्य यह है कि दर्विहोम शब्द जुहोति' से कही गई विधियों का ही नाम है, 'यजति' से कही गई विधियों का नाम नहीं है ॥४॥

———

व्याख्या—स्थित (=रुके) हुए अधिकरण से आगे कहते हैं—

द्रव्योपदेशाद् वा गुणाभिधानं स्यात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'दर्विहोम शब्द कर्म का नाम है' की निवृत्ति करता है । (द्रव्योपदेशात्) दर्विरूप द्रव्य के उपदेश से (गुणाभिधानम्) 'दर्वि' रूप गुण का कथन (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—जो यह कहा कि दर्विहोम कर्म का नामधेय है, वह नहीं है । तो क्या है ? गुण का कथन होवे । अर्थात् यह गुणविधि है । किस हेतु से ? द्रव्य के उपदेश से । द्रव्य का उपदेश (=विधान) जाना जाता है— दर्वि से होम=दर्विहोम । इस प्रकार ये दर्वि और होम

होम इति । एवमेतौ दर्विहोमशब्दौ यथाप्रसिद्धिकल्पितौ भविष्यतः । तदस्माद् गुणविधिः ।।५।।

न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ।।६।। (उ०)

नायं गुणविधिर्युज्यते । किं कारणम् ? लौकिकानां तावदाचारगृहीता दर्विः —न्यग्बिलया मूलदण्डया दर्व्या जुहोति' इति । सा न विधातव्या । श्रौतानामप्यन्यानि होमार्थानि पात्राण्याम्नातानि । स्रुवेण जुहोति,' चमसेन जुहोति' इति । तैः सह दर्वेविकल्पः स्यात् । स चान्याय्यः । यत्कारणं, स्रुवादीनां' विधायकः शब्दोऽस्ति, स्रुवेण जुहोतीति । न तु दर्वेः । तत्र ह्यानुमानिको विधिशब्दः ।।६।।

शब्द प्रसिद्धि के अनुसार स्वीकृत होंगे । इससे यह गुणविधि है ।।५।।

न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ।।६।।

सूत्रार्थः—(न) यह गुणविधि नहीं है । (लौकिकानाम्) लौकिक अर्थात् स्मार्त कर्म करने हारों के (आचारग्रहणत्वात्) आचार=व्यवहार से दर्वि का ग्रहण होने से (च) और (शब्दवताम्) शब्द से विहित कर्मों के (अन्यार्थविधानात्)स्रुवादि अन्य पात्रों के विधान से ।

विवरण—लौकिक=स्मार्त कर्मों का प्रामाण्य कर्तृसामान्य=वैदिक और स्मार्त दोनों कर्मों का समानरूप से करने से स्मृत्युक्त आचार=व्यवहार आदि का प्रामाण्य होता है अर्थात् उनके कर्मों का प्रामाण्य 'कर्तृसामान्य' अनुमान से होता है, यह पूर्व (मी० १।३।२)में कह चुके हैं । आचार=व्यवहार गृहीत कर्मों की अपेक्षा श्रौत कर्म शब्दवान्=साक्षात् शब्द से विहित होने के कारण स्वतः प्रमाण माने जाते हैं ।

व्याख्या— यह गुणविधि है ऐसा कथन युक्त नहीं है । क्या कारण है ? लौकिक (=स्मार्त) कर्मों के करने हारों के आचार से (=व्यवहार) से गृहीत है दर्वि । नीचे बिलवाली मूल में दण्डवाली दर्वि से होम करता है । उसका [स्मार्त कर्म में] विधान करना उचित नहीं है । श्रौत कर्मों के अन्य होम के लिये पात्र कहे गये हैं—स्रुवेण जुहोति (स्रुव से होम करता है) चमसेन जुहोति (=चमस से होम करता है) । उन [श्रुतिविहित] पात्रों के साथ दर्वि का विकल्प होवे, यह भी अन्याय्य है । उसमें यह कारण है—स्रुवादि का विधान करनेवाला शब्द है– स्रुवेण जुहोति । दर्वि का विधान करनेवाला शब्द नहीं है । वहां विधायक शब्द आनुमानिक है ।।६।।

विवरण—स चान्याय्यः—स्रुवादियों का श्रुति से प्रत्यक्ष विधान है और दर्वि का स्मार्त कर्मों के करने हारों के आचार से आनुमानिक विधान है । अतः प्रत्यक्ष विहित स्रुवादि

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—'स्रुवेण चतस्रो जुहोति दीक्षितत्वाय ।' तै० सं० ६।१।२।१।

३. आप० श्रौत ८।३।८।। ४. 'स्रुचादीनाम्' इत्यपपाठः क्वचित्, पूर्वत्राश्रवणात् ।

दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥७॥

अन्यच्च पात्रं दर्विहोमे दृश्यते—भूतेभ्यस्त्वेत्यपूर्वां स्रुवमुद्गृह्णाति[1] इति। तस्मान्न गुणविधिः ॥७॥

अथोच्यते—अग्निहविषोः कार्ये दर्विर्भविष्यति। दर्वौ होमो दर्विहोमो, दर्व्या होमो दर्विहोम इति। तत्र ब्रूमः—

तथाऽग्निहविषोः ॥८॥

के साथ आनुमानिक दर्विविधान का विकल्प अन्याय्य है। तत्र ह्यानुमानिको विधिः—स्मार्त कर्मों और श्रौत कर्मों के समान कर्त्ता होने से, स्मार्त विधियां जो प्रत्यक्ष विहित नहीं हैं, का अनुमान किया जाता है (द्र०—मी० १।३।२)। इससे दर्वि की विधि आनुमानिक है। ६॥

दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥७॥

सूत्रार्थः—(अन्यपात्रस्य) दर्वि के स्थान पर अन्य पात्र के (दर्शनात्) दर्शन से (च) भी दर्विहोम गुणविधि नहीं है।

व्याख्या—दर्विहोम में अन्य पात्र भी देखा जाता है—भूतेभ्यस्त्वेत्यपूर्वां स्रुवमुद्गृह्णाति (='भूतेभ्यस्त्वा' इस मन्त्र से स्रुव को ऊपर उठाता है)। इससे गुणविधि नहीं है ॥७॥

विवरण—स्रुवमुद्गृह्णाति—इसके स्थान में तै० सं० ६।२।८।२ में 'स्रुचमुद्गृह्णाति' पाठ है। कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—भूतेभ्यस्त्वा से उत्तरवेदि के व्याघारण रूप दर्विहोम में अन्य (स्रुच्) पात्र के दर्शन से दर्विरूप गुणविधि नहीं है। इस व्याख्या के अनुसार तथा तै० सं० ६।२।८।२ में 'स्रुवं' के स्थान में 'स्रुचं' पाठ होने से भाष्य में भी स्रुचमुद्गृह्णाति पाठ ही युक्त प्रतीत होता है ॥७॥

व्याख्या—यदि यह कहते हो कि अग्नि और हवि के कार्य में दर्वि होगी अर्थात् दर्वि की विधि होगी। दर्वि में होम दर्विहोम [इस अर्थ के द्वारा अग्नि के स्थान में दर्विपात्र में होम प्राप्त होता है], अथवा दर्वि का होम दर्विहोम [इस अर्थ में होम साधनीभूत आज्यादि हवि के स्थान में दर्वि का ही अग्नि में प्रक्षेप होगा]। इस विषय में कहते हैं—

तथाऽग्निहविषोः ॥८॥

सूत्रार्थः—(तथा) जैसे स्रुव आदि के विशेष विधान में दर्विरूप गुणविधि नहीं होती उसी प्रकार (अग्निहविषोः) अग्नि और हवि के स्थान में भी दर्विरूप गुणविधि नहीं होती है।

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने यहां पूर्व सूत्र से 'न' पद की अनुवृत्ति मानी है।

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्गृह्णाति। तै० सं० ६।२।८।२॥

तथाऽग्निहविषोरपि। यथा, पात्रकार्ये दर्विर्न युज्यते, तथाऽग्निहविषोः कार्येऽपि। तत्राप्याहवनीय आधारत्वेन विहितः—यदाहवनीये जुहोति[1] इति। अन्यच्च प्रदेयत्वेन पुरोडाशादि। तस्मादग्निहविषोरपि कार्ये न दर्वेर्निवेशः ॥८॥

उक्तश्चार्थसम्बन्धः ॥९॥

उक्तं चास्माभिरग्नेः कार्येऽन्यद्द्रव्यसमर्थम्। दहनपचनप्रकाशनकर्म, अग्नेः। न चैतत् कार्यमन्यद्द्रव्यं शक्नोति कर्तुमिति। तस्मान्नाग्निकार्ये दर्वेरुपदेशः। अतो न गुणविधिः। कर्मनामधेयमेव दर्विहोमशब्द इति ॥९॥

व्याख्या—उसी प्रकार अग्नि और हवि के कार्य में भी दर्वि नहीं होगी। जैसे पात्र के कार्य में दर्वि का योग नहीं होता है उसी प्रकार अग्नि और हवि के कार्य में भी दर्वि का योग नहीं होगा। वहां (=दर्विहोम में) भी आहवनीय अग्नि आधाररूप से विहित है—यदाहवनीये जुहोति (=जो आहवनीय में होम करता है)। और अन्य प्रदेय रूप से पुरोडाशादि विहित है। इससे अग्नि और हवि के कार्य में भी दर्वि का प्रवेश नहीं होगा ॥८॥

उक्तश्चार्थसम्बन्धः ॥९॥

सूत्रार्थः—(अर्थसम्बन्धः) अग्नि के प्रयोजन का सम्बन्ध (च) भी (उक्तः) श्रुति ने कह दिया है।

विवरण—अग्नि कार्य सम्बन्ध, यथा—गार्हपत्ये हवींषि श्रपयति (=गार्हपत्य में हवियों को पकाता है) दक्षिणाग्नावन्वाहार्यं पचति (=दक्षिणाग्नि में अन्वाहार्य को पकाता है)। अन्वाहार्य=चार ऋत्विजों के भोजन में पर्याप्त दक्षिणाग्नि में पकाया गया चावल अन्वाहार्य कहाता है। अनु=यज्ञ के अनन्तर भोजन के लिये हार्य=दिया जानेवाला ओदन।

व्याख्या—हमने कह दिया है अग्नि के कार्य में अन्य द्रव्य असमर्थ है। जलाना पकाना प्रकाश कर्म अग्नि के हैं। इन कार्यों को अन्य द्रव्य नहीं कर सकता। इससे भी अग्नि के कार्य में दर्वि का उपदेश (=गुणरूप विधान) नहीं हो सकता। इसलिये गुणविधि नहीं है। दर्विहोम कर्म का नाम ही है ॥९॥

---

१. द्र०—यदाहवनीये जुह्वति। तै० ब्रा० १।१।१०।५॥

[दर्विहोमानामपूर्वताधिकरणम् ॥५॥]

दर्विहोमशब्दः कर्मनामधेयमित्युक्तम्। तत्र चिन्त्यते—किमपूर्वा दर्विहोमा उत कुतश्चिद् धर्मग्राहिण इति? किं प्राप्तम्? नापूर्वा इति। कुतः? इतिकर्तव्यताविधेः। अविहितेतिकर्तव्यताकं कर्म विहितेतिकर्तव्यताकाद्धर्मान् गृह्णातीत्युक्तम्। अविहितेतिकर्तव्यताकाश्चामी। तस्मात् पूर्ववन्त इति। यदेतदेवं, तदैतदापतति किंपूर्वा इति? अत्रोच्यते—

तस्मिन् सोमः प्रवर्तेताव्यक्तत्वात् ॥१०॥ (पू०)

तस्मिन् खलु दर्विहोमे सोमः प्रवर्तेत। सौमिको विध्यन्तः स्यात्। कुतः? अव्यक्तत्वात्। अव्यक्तचोदनः[1] सोमः। अमी अपि चाव्यक्तचोदनाः—भिन्ने जुहोति[2] इति। अतश्चोदनासामान्यात् सौमिको विध्यन्त इति ॥१०॥

व्याख्या—दर्विहोम शब्द कर्म का नाम है, यह कह चुके। उस [नामधेय पक्ष] में विचार किया जाता है—क्या दर्विहोम अपूर्व हैं अथवा कहीं से धर्म को ग्रहण करनेवाले हैं? क्या प्राप्त होता है? अपूर्व नहीं हैं। किस हेतु से? इतिकर्तव्यता की विधि होने से। जिसके इतिकर्तव्यता रूप कर्म विहित नहीं है वह जिसकी कर्तव्यता रूप धर्म विहित हैं उनसे धर्मों को ग्रहण करता है, यह कह चुके हैं। ये दर्विहोम अविहित इतिकर्तव्यतावाले हैं। इससे ये पूर्ववान् हैं अर्थात् जिनकी इतिकर्तव्यता कही है उन पूर्व कर्तव्यतावाले हैं। जब यह इस प्रकार है, तब यह विचार उत्पन्न होता है—पूर्ववाले हैं अर्थात् किससे धर्मों को ग्रहण करनेवाले हैं। इस विषय में कहते हैं—

तस्मिन् सोमः प्रवर्तेताव्यक्तत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(तस्मिन्) उस=दर्विहोम में (सोमः) सौमिक विध्यन्त (प्रवर्तेत) प्रवृत्त होवे (अव्यक्तत्वात्) अव्यक्त चोदनावाला होने से अर्थात् स्व अङ्गत्वरूप से अविहित देवतावाला होने से [दर्विहोम और सोम दोनों का स्वाङ्गरूप से देवता का विधान नहीं है]।

व्याख्या—उस दर्विहोम में सोम प्रवृत्त होवे सौमिक विध्यन्त होवे। किस हेतु से? अव्यक्त होने से। अव्यक्त चोदनावाला सोम है। ये दर्विहोम भी अव्यक्त चोदनावाले हैं—भिन्ने जुहोति (=कपाल आदि के भेदन होने=टूटने पर होम करता है)। अतः चोदना सामान्य से [दर्विहोम में] सौमिक विध्यन्त होता है ॥१०॥

---

१. अव्यक्तचोदन इति अव्यक्तत्व च स्वाङ्गत्वेनाविहितदेवतात्वम्। सोमयागाङ्गत्वेन विहितदेवताया अभावात् सोमयागोऽव्यक्त इति कथ्यते।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत ९।१३।८॥

न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात् तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात् ॥११॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नात्र सौमिको विध्यन्तो न्याय्यः। किं कारणम्? स्वाहाकारेण संयोगात्। स्वाहाकारेण संयुक्ता दर्विहोमाः। पृथिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा'[1] इति। किमतः ? वषट्कारस्य निर्देशात् तन्त्रे तेन च विप्रतिषेधः।

विवरण—सोमः प्रवर्तेत—यहां भवार्थक तद्धित के न होने पर भी ताद्धित अर्थ 'सौमिक' गृहीत होता है। निरुक्तकार यास्क ने २।५ में 'गो' शब्द के निर्वचन प्रसङ्ग में 'अथाप्यस्या ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति (=इस 'गो' शब्द में तद्धित प्रत्यय बोधित ताद्धित अर्थ से कृत्स्नवत् जैसे तद्धित प्रत्ययान्त से अर्थ हो उसके समान विना तद्धित प्रत्यय के भी कहा जाता है) लिखकर 'गो' का गव्य=पयः अर्थ में, चर्म, श्लेष्मा, स्नायु और श्लेष्मा अर्थों में प्रयुक्त 'गो' शब्दवाले मन्त्र उद्धृत हैं। अव्यक्तचोदनः सोमः—याग का स्वरूप देवता द्रव्य और त्याग तीन से सम्बद्ध होता है—द्रव्यं देवता त्यागः (कात्या० श्रौत १।२।२)। जिस चोदना=विधि में द्रव्य वा देवता का निर्देश न होवे वह अव्यक्त चोदना कहाती है। सोमेन यजेत में द्रव्य का निर्देश है परन्तु देवता का निर्देश न होने से सोम अव्यक्त चोदनावाला कहाता है। इसी प्रकार कपाल के टूटने पर उसी का गार्हपत्य में होम होता है (द्र०—आप० ९।१३।८ रुद्रदत्त वृत्ति)। यहां भी देवता का निर्देश नहीं है ॥१०॥

न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात् तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (स्वाहाकारेण संयोगात्) दर्विहोम का स्वाहाकार के साथ संयोग होने से (च) और (तन्त्रे) सौमिक तन्त्र में (वषट्कारस्य) वषट्कार का (निर्देशात्) निर्देश होने से (तेन) वषट्कार के साथ (विप्रतिषेधात्) विप्रतिषेध=विरोध होने से (न) सौमिक विध्यन्त नहीं है।

विशेष—विप्रतिषेध=विरोध समान विषय में होता है। स्वाहाकार और वषट्कार दोनों ही हवि के प्रदान के लिये प्रयुक्त होते हैं।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष का व्यावर्तन (=निवर्तन) करता है। यहां सौमिक विध्यन्त न्याय्य नहीं है। क्या कारण है ? स्वाहाकार के साथ संयोग होने से। दर्विहोम स्वाहाकार से संयुक्त हैं—पृथिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा। इससे क्या होता है ? वषट्कार का निर्देश होने से तन्त्र में उसके साथ विप्रतिषेध (=विरोध) होता है। सौमिक तन्त्र में वषट्-

---

१. तै० सं० १।८।१३।३; ७।१।१५।१॥

तन्त्रे च सौमिके वषट्कारो निर्दिष्टः। तेनास्य विप्रतिषेधः। उभयोः प्रदानार्थत्वात्[1]। यदि सौमिको विध्यन्तः, ततो वषट्कारेण भवितव्यम्। तत्रैतत् स्वाहाकाराम्नानमनर्थकं स्यात्। अथ विकल्पः क्रियते, तथाऽप्युभयोः पक्षे बाधः। अथ त्वपूर्वा दर्विहोमाः, नैष विरोधो भविष्यति। तस्मादपूर्वाः ॥११॥

शब्दान्तरत्वात् ॥१२॥

शब्दान्तरं च यजतिशब्दाज्जुहोतिशब्दः। यजतिचोदनश्च सोमः। दर्विहोमाः पुनर्जुहोतिचोदनाः। चोदनासामान्येन च धर्मप्राप्तिरिष्यते। तस्मादप्ययुक्ता सौमिकी धर्मप्राप्तिः। नन्वव्यक्तत्वाच्चोदनासामान्यमुक्तम्। अत्रोच्यते। सामान्येऽव्यक्तत्वे, यजतिशब्दो विशेषलिङ्गम्। तेन यजिमतीष्वव्यक्तासु धर्मनियमः। यथा,

---

कार का निर्देश है। दोनों (=स्वाहाकार और वषट्कार) के प्रदान अर्थवाला होने से [अथवा - प्रदान के लिये प्रयोग होने से]। यदि सौमिक विध्यन्त होवे तो उससे [प्रदान के लिये] वषट्कार होना चाहिये। वहां (=दर्विहोम के मन्त्रों में) स्वाहाकार का पाठ अनर्थक होवे। यदि विकल्प किया जाये तो भी दोनों की पक्ष में बाधा होवे। अर्थात् स्वाहाकार का प्रयोग होने पर वषट्कार का प्रयोग न होवे और वषट्कार का प्रयोग होने पर स्वाहाकार का प्रयोग न होवे। और यदि दर्विहोम अपूर्व (=पूर्व विहित किसी विध्यन्त की अपेक्षा न करने वाले) होवें तो विरोध नहीं होगा। इससे दर्विहोम अपूर्व है ॥११॥

शब्दान्तरत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(शब्दान्तरत्वात्) यजति और जुहोति शब्द के भिन्न भिन्न होने से दर्विहोम में सौमिक विध्यन्त नहीं होगा।

व्याख्या—'यजति' शब्द से जुहोति' शब्द भिन्न है। सोम 'यजति' चोदनावाला है और दर्विहोम 'जुहोति' चोदनावाले हैं। चोदना-सामान्य से धर्म प्राप्ति इष्ट होती है। इससे भी सौमिकी धर्मप्राप्ति अयुक्त है। (आक्षेप) अव्यक्तत्वरूप चोदना सामान्य कहा है [उसका समाधान क्या होगा ?]। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—सामान्य अव्यक्तत्व होने पर 'यजति' शब्द विशेष लिङ्ग है। इससे यजिमती (='यजति' चोदनावाली, अव्यक्त चोदनाओं में धर्म का नियम होता है। जैसे औषधरूप समान गुणत्व होने पर देवता के एकत्वरूप विशेष

---

१. द्र०—स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते। मी० ८।४।१६ सूत्रभाष्ये; वषट्कारेण वा स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते। मी० १०।८।२० सूत्रभाष्य उद्धृतः।

समान औषधगुणत्वे देवतैकत्वेन विशेषलिङ्गेन सौर्यकर्मण्याग्नेयविध्यन्त' इति ।१२।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

लिङ्गदर्शनाच्चैतद् विज्ञायते, नात्र सौमिको विध्यन्त इति । औदुम्बरीहोमे हि स्वाहाकारं विधायाऽऽज्यविधिपरे वाक्ये दर्शयति—घृतेन द्यावापृथिवी आपृणेथामित्यन्तरा कर्णौ[2] जुहोति[3] । आ मूलादवस्रावयति । भूमिगते स्वाहा करोति[4] इति । यद्यत्र सौमिको विध्यन्तः स्याद् वषट्कारस्ततो भवेत्, न स्वाहाकारः ॥१३॥

लिङ्ग से सौर्य कर्म में आग्नेय याग का विध्यन्त होता है [द्रष्टव्य—मी० ८।१। अधि० १६, ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत सूत्र २८] ॥१२॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्गदर्शन से (च) भी यह विदित होता है कि दर्विहोमों में सौमिक विध्यन्त नहीं होता है । [लिङ्गदर्शनश्रुति भाष्य में देखें ।]

व्याख्या—लिङ्गदर्शन से यह जाना जाता है कि यहां सौमिक विध्यन्त नहीं होता है । औदुम्बरी के होम में स्वाहाकार का विधान करके अन्य विधिपरक वाक्य में दर्शाता है—घृतेन द्यावापृथिवी आपृणेथामित्यन्तरा कर्णौ जुहोति आमूलादवस्रावयति । भूमिगते स्वाहा करोति (='घृत से द्यावापृथिवी को तृप्त करता हूं' इस मन्त्र से औदुम्बरी के कानों के मध्य होम करता है । मूलपर्यन्त घृत का अवस्रावण करता है=चुआता है । घृत के भूमि को प्राप्त होने पर स्वाहा कहता है) । यदि यहां सौमिक विध्यन्त होवे तो स्वाहाकार न होवे ॥१३॥

विवरण—सोमयाग के सदोमण्डप में उदुम्बर=गूलर की शाखा गाड़ी जाती है । सामगान के समय औदुम्बरी पीठ से स्पर्श करते हुए सामगान किया जाता है—औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत (मी० १।३।२ के भाष्य में उद्धृत) । इस औदुम्बरी शाखा को गाड़ने के पश्चात् घृतेन द्यावापृथिवी मन्त्र से कानों और शाखा के मध्य भाग में घृताहुति दी जाती है । घृत धारारूप में छोड़ना होता है जिससे मूल तक घृत पहुंच जावे । अन्तरा कर्णौ—वस्तुतः यहां भाष्य में

---

१. द्र०—ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत । मी० ८।१।२८॥

२. 'कणा' इति काशिमुद्रितेऽपपाठः ।

३. मीमांसाभाष्ये १०।८।२१ 'आपृणेथामिति औदुम्बर्या विशाखे जुहोति' इति पाठान्तरेणोद्धृतः ।

४. द्र०—आप० श्रौत ११।१०।४॥ सत्या० श्रौत ७।७।१८=११, लाट्या० श्रौत १।७।७-९॥

उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्गदर्शनात् पशुवत् ॥१४॥ (पू०)

उद्धृत पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। आपस्तम्ब श्रौत ११।१०।४ में इस विधि का निर्देश है। वहां तस्या विशाखे हिरण्यं निधाय का अर्थ रुद्रदत्त ने तस्याः कर्णे हिरण्यं निधाय किया है। 'विशाखा' शब्द का अर्थ है—विगता शाखा अस्मात् स्थानात् अर्थात् औदुम्बरी शाखा के ऊपर के भाग में जहां से छोटी सी शाखा निकली हो उस स्थान पर सुवर्ण रखकर ऊपर घृत से होम करना होता है। जो ऊपर के भाग में छोटी शाखा निकली हुई होती है वह मानुष कर्ण के समान होने से कर्ण कही जाती है। कान भी ऊर्ध्व शरीर भाग से बाहर शाखा के समान ही निकले हुए हैं। सत्याषाढ श्रौत ७।७।१० में पाठ है—तस्याः कर्णे विशाखे वा हिरण्यं निधाय—यहां कर्ण और विशाख का भेद से निर्देश किया है। इसकी व्याख्या में गोपीनाथ भट्ट ने लिखा है—कर्णः क्षुद्रशाखामूलम्। विशिष्टा शाखा यस्मादवयवात् महती शाखा यस्मात् तादृशेऽवयवे। अर्थात्—कर्ण क्षुद्रशाखा के मूल में। विशाखा महती शाखा के मूल में। लाटचायन श्रौत १।७।७-९ में विशाखा में दो आहुतियों का विधान है। इस स्थिति में मीमांसा भाष्य में 'कर्णो' द्विवचन पाठ युक्त होता है। अन्यथा 'कर्णं' पाठ होना चाहिये। भूमिगते स्वाहा करोति—इसका तात्पर्य यह है कि घृतेन द्यावापृथिवी आपृणेथाम् मन्त्र का पाठ आरम्भ करते ही घृत का आस्रावण आरम्भ करे और जब घृत भूमि को प्राप्त हो जाये तब स्वाहा बोले। अर्थात् मन्त्र का पाठ विलम्बित वृत्ति से (धीरे से) करे जिससे घृत के भूमि तक पहुंचने तक मन्त्रपाठ होता रहे, अन्त में स्वाहाकार बोले। द्र०—सत्याषाढ श्रौत ७।७।१० की गोपीनाथ भट्ट की व्याख्या ॥१३॥

उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्गदर्शनात् पशुवत् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त सिद्धान्त पक्ष 'दर्विहोम सोम से धर्म प्राप्त नहीं करते' की निवृत्ति के लिये है। (पुनः) 'पुनः' शब्द वाक्यालङ्कार में प्रयुक्त है। (स्वाहाकारः) 'स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविर्दीयते' वाक्यस्थ अनारभ्याधीत स्वाहाकार विधि पर्णमयी न्याय (मी० ३।६। अधि० १)से प्रकृति याग में वषट्कार का विधान होने से प्रवेश न पाकर (उत्तरार्थः) प्रकृति से भिन्न सोमयागस्थ औदुम्बरी होम के लिये है। (यथा) जैसे (साप्तदश्यम्) अनारभ्याधीत सामिधेनियों का सप्तदशत्व प्रकृति में पञ्चदशत्व के विधान से प्रवेश न पाकर विकृतियाग पश्वादि में समन्वित होता है (द्र०—मी० ३।६। अधि० २) उसी प्रकार स्वाहाकार विधि भी उत्तरार्थ है। इस प्रकार (प्रवृत्तिलिङ्गदर्शनात्) स्वाहाकार प्रवृत्ति लिङ्ग के दर्शन से (तत्र) स्वाहाकार में (अप्रतिषिद्धा) सौमिक धर्म की प्रवृत्ति अप्रतिषिद्ध है अर्थात्

लिङ्गदर्शनस्य परिहार उच्यते । तदुक्तम्, औदुम्बरीहोमे सिद्धवत् स्वाहाकारस्य दर्शनान्न सौमिको विध्यन्त इति । अत्र ब्रूमः—उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यम् । तद्यथा, साप्तदश्यमनारभ्याधीतम्—सप्तदश सामिधेनीरन्वाह[1] इति । अनारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वाद् दर्शपूर्णमासावागतम् । ततः प्राकरणिकेन पाञ्चदश्येन बाधितं सद्विकृत्यर्थं जातम् । एवमयं स्वाहाकारोऽनारभ्याधीतः, स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते[2] इति । तेनैव न्यायेन प्रकृतिं निविविक्षुः सोमं दर्शपूर्णमासौ च । ततस्तथैव वषट्कारेणोपरुद्धस्तद्वर्जमन्यानि प्रदानान्युपसंक्रामति । तत्राविप्रतिषिद्धा सोमधर्मप्रवृत्तिः,पशुवत् । तद्यथा—पशौ साप्तदश्ये श्रूयमाणे न दार्शपौर्णमासिकी तत्र प्रवृत्तिर्विप्रतिषिध्यते । वाचनिकत्वात् साप्तदश्यस्य । एवमिहापि वाचनिकत्वात् स्वाहाकारं प्रति लिङ्गदर्शनान्न सौमिकधर्मप्रवृत्तिर्विप्रतिषिध्यते । पुनःशब्दश्चानर्थकः । यथा किं पुनरिदमिति ॥१४॥

सौमिक धर्म का प्रतिषेध नहीं होता । (पशुवत्) जैसे पशु में सप्तदश सामिधेनियों की प्रवृत्ति से प्रकृति के प्रयाज अनुयाज धर्मों में प्रवृत्ति का विरोध नहीं होता उसी प्रकार स्वाहाकार के विधान होने पर भी दर्विहोम में सोम धर्म की प्रवृत्ति का विरोध नहीं होगा ।

व्याख्या—लिङ्गदर्शन का परिहार कहते हैं । जो कहा—औदुम्बरी होम में सिद्धवत् स्वाहाकार के दर्शन से सौमिक विध्यन्त नहीं है । इसमें कहते हैं—उत्तरार्थ स्वाहाकार है जैसे साप्तदश्य । यथा—अनारभ्य अधीत साप्तदश्य—सामधेनीरन्वाह (= सत्रह सामिधेनियां पढ़ता है) । अनारभ्यवादों के प्रकृत्यर्थक होने से दर्शपूर्णमास को [साप्तदश्य] प्राप्त हुआ । तदनन्तर प्राकरणिक पञ्चदशत्व से बाधित होकर विकृत्यर्थ के लिये हुआ [द्र०- मी० ३।६। अधि० २] । इसी प्रकार यह स्वाहाकार अनारभ्याधीत है—स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते । उसी न्याय से प्रकृति में निवेश की इच्छा से सोम और दर्शपूर्णमास को [प्राप्त हुआ] तदनन्तर उसी प्रकार वषट्कार से रोका गया उसको छोड़कर अन्य प्रदानों को संक्रमण करता है (= प्राप्त होता है) । वहां सोम धर्म प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध नहीं है, पशु के समान । जैसे पशुयाग में साप्तदश्य श्रूयमाण होने पर वहां दार्शपौर्णमासिकी प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध नहीं होती है साप्तदश्य के वाचनिक होने से । इसी प्रकार यहां भी वाचनिक होने से स्वाहाकार के प्रति लिङ्गदर्शन से सौमिक धर्मों की प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध नहीं होती है । पुनः शब्द अनर्थक है । जैसे—किं पुनरिदम् में ॥१४॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् । किञ्चिद् भेदेन मी० १०।८।२० सूत्रभाष्येऽप्युद्धृतः ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारः स्तनाः—स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः । तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च । हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरः । शत० ब्रा० १४।८।९।१॥

अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राकृतस्योपरोधः स्यात् ॥१५॥ (उ०)

यदुक्तम्, उत्तरार्थः स्वाहाकार इति। तन्न। कुतः? अनुत्तरार्थः। अर्थवत्त्वात्। प्रकृतावेवास्यार्थवत्त्वं, नारिष्ठहोमेषु[1]। पार्वणहोमयोश्च, **पूर्णमासाय सुराधसे स्वाहा,**[2] इति। अनर्थकत्वाद्धि प्राकृतस्योपरोधः स्यात्। यदि प्रकृतावनर्थकः स्यात् स्वाहाकारः, ततः प्राकृतस्य वषट्कारस्य विकृतौ प्राप्तस्यानारभ्यवादेन स्यादुपरोधः, वषट्कारबाध इत्यर्थः। न त्वस्याऽऽनर्थक्यम्। तस्मान्नोत्तरार्थः। न चेदुत्तरार्थः, लिङ्गमेवैतद्भवत्यसोमपूर्वत्वे दर्विहोमानां, भूमिगते स्वाहा करोतीति ॥१५॥

विवरण—कुतूहलवृत्तिकार ने सूत्रस्थ पुनः शब्द को वाक्यालङ्कार में माना है ॥१४॥

अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राकृतस्योपरोधः स्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द स्वाहाकार के उत्तरार्थत्व की निवृत्ति करता है। (अनुत्तरार्थः) स्वाहाकार उत्तरार्थ नहीं है (अर्थवत्वात्) अर्थवान् होने से। (आनर्थक्यात्) अनर्थक होने से (हि) ही (प्राकृतस्य) प्राकृत वषट्कार का (उपरोधः) उपरोध=रुकावट (स्यात्) होवे। अनारभ्याधीत स्वाहाकार के प्रकृतिगत नारिष्ठ होम में अर्थवान् होने से अनारभ्याधीत स्वाहाकार उत्तरार्थ नहीं है।

व्याख्या—जो यह कहा कि स्वाहाकार उत्तरार्थ है। वह [उत्तरार्थ] नहीं है। किस हेतु से? अर्थवान् होने से। प्रकृति में ही इस (=स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवताभ्यो हविः प्रदीयते) की अर्थवत्ता है नारिष्ठ होमों में और दोनों पार्वण होमों में—पूर्णमासाय सुराधसे स्वाहा (=उत्तम धन के लिये पूर्णमास देवता के लिये स्वाहा) इसमें अनर्थक होने से ही प्राकृत वषट्कार का उपरोध होवे। यदि प्रकृति में स्वाहाकार अनर्थक होवे तो विकृति में प्राप्त प्राकृत वषट्कार का अनारभ्यवाद [न्याय] से उपरोध अर्थात् वषट्कार की बाधा होवे। इसका आनर्थक्य नहीं है। इससे उत्तरार्थ नहीं है। यदि उत्तरार्थ [स्वाहाकार] नहीं है तो यह लिङ्ग ही होता है दर्विहोम के असोमपूर्वत्व में, भूमिगते स्वाहा करोति [औदुम्बरी होम में घृतधारा जब भूमि को प्राप्त हो जाये तब स्वाहा कहता है] ॥१५॥

विवरण—नारिष्ठहोमेषु—नारिष्ठ होमों के लिये आप० श्रौत २।२०।६ देखें।

---

१. नारिष्ठान् होमाञ्जुहोति—दश ते तनुवो यज्ञ………। आप० श्रौत २।२०।६; तै० ब्रा० ३।७।५।११-१३॥

२. पार्वणहोमौ तै० ब्रा० ३।७।५।१३ स्थाने विहितौ। तत्र मन्त्रपाठे भेद उपलभ्यते। अनयोर्विधानम् आप० श्रौत २।२१।५ सूत्रे कृतम्। अत्रापि मन्त्रपाठस्तैत्तिरियब्राह्मणवदेव।

न प्रकृतावपीति चेत् ॥१६॥ (पू०)

एवं चेत् पश्यसि, नारिष्ठहोमेषु पार्वणहोमयोश्च स्वाहाकारस्य निवेश इति । प्रकृतावपि नारिष्ठहोमादौ नास्य निवेशो घटते। तत्रापि वषट्कार एव प्राप्नोति । स ह्यविशेषेण दर्शपूर्णमासयोर्विहितः । **द्वयक्षरो वषट्कार एष वै प्रजापतिः सप्तदशो यज्ञेऽन्वायत्तः**[1] इति । ननु स्वाहाकारोऽपि प्रत्यक्षं पठितः । सत्यं पठितः । वषट्कारस्तु विहितः । अतश्चोदनेति—**नास्य यज्ञो व्यथते प्रजापतौ यज्ञेन प्रतितिष्ठति**[2] इति स्वाहाकारं पाठेन प्राप्तं बाधते । पाठे ह्यानुमानिको विधिः प्रत्यक्षेण विधिना बाध्यते । न[3] चेत्तत्रापि निवेशः, उत्तरार्थं एव स्वाहाकारो भवति

पार्वणहोमयोश्च—पार्वण होमों का विधान आप० श्रौत २।२।५ में किया है । मन्त्र तै० ब्रा० ३।७।५।१३ के अनुसार है । वहां क्रमशः'·········प्राणाय सुराधसे पूर्णमासाय स्वाहा' तथा '··· अपानाय सुराधसेऽमावस्यै स्वाहा' पाठ है ॥१५॥

न प्रकृताविति चेत् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(प्रकृतौ) प्रकृति=दर्शपूर्णमास में विहित नारिष्ठहोम में (अपि) भी स्वाहाकार का निवेश (न) नहीं होगा, ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यदि आप ऐसा समझते हैं कि नारिष्ठहोमों में तथा [गृह्यविहित] पार्वण होमों में स्वाहाकार का निवेश (=प्रवृत्ति) है तो प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) में भी नारिष्ठहोम आदि में इसका निवेश नहीं घटता है । वहां भी वषट्कार ही प्राप्त होता है । वह अविशेष (=सामान्य) रूप से दर्शपूर्णमास में विहित है । द्वयक्षरो वषट्कारः, एष वै प्रजापतिः, सप्तदशो यज्ञेऽन्वायत्तः (=दो अक्षरोंवाला वषटकार=वौषड् है, यह निश्चय ही सप्तदश अक्षरवाला प्रजापति है, यज्ञ में अन्वायत्त=मन्त्र के पीछे जुड़ा हुआ है) । (आक्षेप) स्वाहाकार भी प्रत्यक्ष पठित है । (समाधान) सत्य है स्वाहाकार भी प्रत्यक्ष पठित है, परन्तु वषट्कार विहित है । इस कारण यह चोदना (प्रेरक वाक्य) है—नास्य यज्ञो व्यथते प्रजापतौ यज्ञेन प्रतितिष्ठति (=जो यजमान सप्तदश प्रजापति को जानता है, उसका यज्ञ व्यथा को प्राप्त नहीं होता, यज्ञ द्वारा यजमान प्रजापति में प्रतिष्ठित होता है) इस वचन से पाठ से प्राप्त स्वाहाकार को बाधता (=रोकता) है। [स्वाहाकार के] पाठ में आनुमानिक विधि प्रत्यक्ष विधि से बाधी जाती है । यदि वहां (=प्रकृति में) भी [स्वाहाकार का] निवेश

---

१. मै० सं० १।४।११; तै० सं० १।६।११।१। प्रजापतेः सप्तदशत्वबोधकः समग्रः पाठस्त्वेवम्—'आश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्वयक्षरम्, ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्, द्वयक्षरो वषट्कारः। एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः ।' तथा च मै० सं० १।४।११॥ २. मै० सं० १।४।११॥ ३. 'न चेदत्रापि'—पाठान्तरम् ।

विकृत्यर्थः ॥१६॥

उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥१७॥ (उ०)

नहीं होता है तो उत्तरार्थ ही स्वाहाकार होता है विकृतियों के लिये ॥१६॥

विवरण—द्व्यक्षरो वषट्कारः—इसका पूरा पाठ मूल भाष्य की टिप्पणी में दिया है। तदनुसार 'आश्रावय' चार अक्षर, 'अस्तु श्रौषट्' चार अक्षर, 'यज' दो अक्षर, 'ये यजामहे' पांच अक्षर, वषट्=वौषट् दो अक्षर इस प्रकार ४+४+२+५+२=१७ अक्षरात्मक प्रजापति यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञेऽन्वायत्तः—यज्ञ शब्द से लोक में साधारणतया होम और यज्ञ दोनों का ग्रहण होता है, परन्तु कर्मकाण्ड में होम और यज्ञ पृथक् पृथक् हैं। जिनमें बैठकर 'स्वाहा' शब्द से आहुतियां दी जाएं वे होम कहाते हैं। इनका निर्देश 'जुहोतिः' 'हु दानादानयोः' धातु से किया जाता है। यथा—जुहोति, जुहुयात्। जिनमें खड़े होकर पुरोनुवाक्या और याज्या बोलकर 'वौषट्' शब्द से आहुति दी जाती है वह यज्ञ-याग कहाता है। इसका निर्देश 'यजतिः' 'यज देवपूजासगतिकरणदानेषु' धातु के 'यजति' 'यजते' 'यजेत' आदि द्वारा किया जाता है। द्र०—उपविष्टहोमा स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः। तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः (कात्या० श्रौत १।२।८,७) सप्तदश अक्षरात्मक प्रजापति यज्ञ में इस प्रकार प्रतिष्ठित होता है—आश्रावय='ओ३श्रावय' से अध्वर्यु अग्नीत् को याग आरम्भ करने के लिये प्रैष=आज्ञा देता है। अग्नीत् के अस्तु श्रौ३षट् (=यज्ञ आरम्भ होवे) कहने पर अध्वर्यु जिस देवता के लिये याग करना हो उसका निर्देश करके यज (यथा—अग्नि यज) से होता को याग करने के लिये कहे। अनन्तर होता ये यजामहे (=यजन करते हैं) अंश बोलकर 'याज्या' (जिससे आहुति दी जावे उस मन्त्र) को पढ़ता है। यथा—'अग्नि भुवो········चकृणे हव्यवाहां ३' मन्त्र बोलकर अन्त में वौ३षट् का उच्चारण करता है। वौषट् के उच्चारण के साथ ही अध्वर्यु आहुति देता है। 'ओ३श्रावय' से पूर्व अनुब्रू३हि (अग्नयेऽनुब्रू३हि) से अध्वर्यु होता का पुरोनुवाक्या (याज्या से पूर्व पठनीय) मन्त्र पढ़ने का प्रैष देता है। होता जिस देवता के लिये याग करना होता है उस देवतावाले मन्त्र को पढ़ता है। यथा—अग्निर्मूर्धा ··अपां रेतांसि जिन्वतो३म्। इस प्रकार याज्या और पुरोनुवाक्यायुक्त जो याग होता है उसमें उक्त सप्तदशाक्षर प्रजापति विद्यमान होता है। यजमान भी ऐसे यज्ञ के द्वारा प्रजापति में प्रतिष्ठित होता है ॥१६॥

उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥१७॥

सूत्रार्थः—जहां वाक्य और प्रकरण के (समवाये) एकत्र प्राप्ति होने पर (पारदौर्बल्यम्) पर=प्रकरण का दौर्बल्य (उक्तम्) कह चुके हैं। द्र०—मी० ३।३।१४॥

अत्राऽऽह । नैतद्युक्तं, वषट्कारेण स्वाहाकारो बाध्यत इति । कुतः ? यत उक्तं, श्रुत्यादीनां समवाये परस्य दुर्बलत्वम् । इह च वाक्यप्रकरणयोः सन्निपातः । प्रकरणेन वषट्कारः प्राप्नोति नारिष्ठहोमेषु, तन्मन्त्रपदैरेकवाक्यत्वात् स्वाहाकारः। वाक्यं च प्रकरणाद् बलीयः । ननु स्वाहाकारस्योपरिष्टात् प्रदानार्थो वषट्कारः प्रयोक्ष्यते । न खलु स्वाहाकारेणैव प्रदानं निर्वर्तितम् । कथमविहितः प्रदानार्थे स्वाहाकारः प्रदानार्थं निर्वर्तयिष्यति । विहितश्च । कथम् ? **स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते**[1] इति । ननूभयोः स्वाहाकारवषट्कारयोः प्रकृतावाम्नानादनारभ्यवादस्याऽऽनर्थक्यम् । अत उच्यते, प्रदानार्थतामनयोर्विधास्यति । तस्मान्न सोमप्रकृतयो दर्विहोमः ॥१७॥

व्याख्या—उक्त विषय में कहते हैं—यह कहना युक्त नहीं है कि वषट्कार से स्वाहाकार बाधित होता है । किस हेतु से ? हम कह चुके हैं कि श्रुति आदि (विनियोजक प्रमाणों) के समवाय (एकत्र प्राप्ति) में पर का दुर्बलत्व होता है । यहां वाक्य और प्रकरण की एक साथ प्राप्ति होती है । नारिष्ठहोमों में [दर्शपूर्णमास के] प्रकरण से वषट्कार प्राप्त होता है और उनके मन्त्र पदों से एकवाक्यत्व होने (=मन्त्रों में स्वाहा पठित होने) से स्वाहाकार प्राप्त होता है । वाक्य प्रकरण से बलवान् होता है । (आक्षेप) [मन्त्रगत पद] स्वाहा से आगे आहुति प्रदान के लिये वषट्कार का प्रयोग करेंगे । आहुति प्रदान में अविहित स्वाहाकार प्रदान अर्थवाले [वषट्कार] को कैसे निवृत्त करेगा ? (समाधान) [स्वाहाकार प्रदान के लिये] विहित है । कैसे ? स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते (=स्वाहाकार और वषट्कार से देवों के लिये हवि दी जाती है) । (आक्षेप) स्वाहाकार और वषट्कार दोनों में प्रकृत में पठित [वषट्कार] से अनारभ्याधीत [स्वाहाकार] का आनर्थक्य होवे । (समाधान) इस विषय में कहते हैं—दोनों (=स्वाहाकार और वषट्कार] की प्रदानार्थता का विधान किया जायेगा । इसलिये दर्विहोम सोम प्रकृतिवाले नहीं हैं । अर्थात् सोम के विकार=विकृति-रूप नहीं हैं ॥१७॥

विवरण—उक्तं श्रुत्यादीनां समवाये—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात् (मी० ३।३।१४) । इन छः विनियोजक प्रमाणों (हेतुओं) के दो दो के समवाय में पर के दौर्बल्य पर विचार किया है । दो दो का समवाय इस प्रकार जानना चाहिये—श्रुति-लिङ्ग, लिङ्ग-वाक्य, वाक्य-प्रकरण, प्रकरण-स्थान (स्थान=क्रम), स्थान-समाख्या (=संज्ञा, यथा पौरोडाशिक प्रकरण) । जहां केवल समाख्या ही प्रमाण होवे वहां वह निर्विरोध प्रमाण होता

---

1. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २२९३ टि० २ ।

यच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वात् तद्विधिः स्यात् ॥१८॥ (पू०)

वाशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । तच्चोदना वा । तदित्यनेन दर्विहोमाः प्रतिनिर्दिश्यन्ते । जुहोतिचोदना ये दर्शपूर्णमासयोरङ्गकर्मविशेषास्ते दर्विहोमेषु प्रवर्तेरन्। के पुनस्ते ? नारिष्ठहोमाः । कस्मात् कारणात् ? ते हि प्रवृत्तधर्माणः, सर्वेष्टिषु सर्वपशुबन्धेषु प्रवर्तमाना दृष्टाः। यस्य च यो धर्मः प्रायेण दृष्टः, स तस्यादृश्यमानोऽप्यनुमीयते । यथा यः परार्थान् प्रायेण करोति, अन्यस्मिन्नपि परार्थकरणे स एव सम्भाव्यते । तस्मात् तेषां प्रवृत्तिः ॥१८॥

शब्दसामर्थ्याच्च ॥१९॥

शब्दसामर्थ्यं च। चोदनासामान्यं दर्विहोमानाम् । नारिष्ठहोमेऽपि हि

यच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वात् तद्विधिः स्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पक्षान्तर परिग्रहार्थ है, दर्विहोम चाहे सोमप्रकृतिवाले न होवें किन्तु (इष्टेः) इष्टि=दर्शपूर्णमास के (यच्चोदनाः) जो अङ्गभूत दर्विहोम सदृश विधियां हैं अर्थात् 'जुहोति' शब्द घटित विधियां हैं, उन नारिष्ठहोमों का विध्यन्त दर्विहोमों में (स्यात्) होवे। (तत्प्रवृत्तत्वात्) उनके इष्टियों और पशुयागादि में प्रवृत्त होने से।

तात्पर्य यह है कि दर्शपूर्णमास में नारिष्ठहोम का जो विध्यन्त है उसकी जैसे इष्टियों और पश्वादि यागों में प्रवृत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार नारिष्ठहोमों का विध्यन्त में दर्विहोम तथा अग्निहोत्रहोम भी प्रवृत्त होवे।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्षान्तर के परिग्रह (=स्वीकारो) के लिये है—तच्चोदना वा। तत् शब्द से दर्विहोम निर्दिष्ट किये जाते हैं। 'जुहोति' शब्द विहित जो विधियां दर्शपूर्णमास में अङ्गकर्म विशेष हैं वे दर्विहोमों में प्रवृत्त होवें। वे कौनसी विधियां हैं ? नारिष्ठहोम। किस कारण से ? वे प्रवृत्त धर्मवाली हैं, सब इष्टियों सब पशुबन्धों में प्रवृत्त हुई देखी जाती हैं। जिसका जो धर्म प्रायः करके देखा गया है वह उसका दृष्टिगत न होता हुआ भी अनुमानित किया जाता है। यथा—जो व्यक्ति प्रायः करके अन्य के लिये कार्य करता है। अन्य परार्थकरण में वह ही सम्भावित होता है (=वही व्यक्ति इस परार्थकर्म को करनेवाला हो सकता है, ऐसा समझा जाता है)। इसलिये उन (=नारिष्ठहोमों के विध्यन्त) की [दर्विहोमों में] प्रवृत्ति होती है ॥१८॥

शब्दसामर्थ्याच्च ॥१९॥

सूत्रार्थः—(शब्दसामर्थ्यात्) शब्द के सामर्थ्य से अर्थात् शब्द के समान होने से (च) भी नारिष्ठहोमों का विध्यन्त दर्विहोमों में प्रवृत्त होवे।

व्याख्या—शब्द का सामर्थ्य भी—चोदना की समानता है दर्विहोमों की। नारिष्ठहोमें

जुहोतिचोदना । नारिष्ठाञ्जुहोति¹, भिन्ने जुहोति² इति । चोदनासामान्याद् धर्म-प्राप्तिः ॥१९॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२०॥

लिङ्गं चैतमर्थं दर्शयति यथा नारिष्ठहोमपूर्वत्वं दर्विहोमानामिति । किं लिङ्गं भवति ? अग्निहोत्रे श्रूयते—यदि कीटोऽवपद्येतान्तःपरिधि निनयेद्³ इति । तथाऽग्नौ श्रूयते—अन्तर्वेदि तिष्ठन् सावित्राणि जुहोति⁴ इति । परिधयो वेदिश्चाङ्गप्रधानार्थत्वान्नारिष्ठहोमाङ्गम् । यदि तेषां धर्माः प्रवर्तेरंस्तत एतद् दर्शन-मुपपद्यते । तस्मात् तेषां प्रवृत्तिः ॥२०॥

में भी 'जुहोति' चोदना है । नारिष्ठान् जुहोति (=नारिष्ठसंज्ञक होमों को करता है), भिन्ने जुहोति (=कपालादि के टूटने पर होम करता है) । चोदना ('जुहोति' घटित विधि वाक्य) की समानता से [नारिष्ठ होमों के] धर्मों की [दर्विहोमों में] प्राप्ति होती है । [भिन्ने जुहोति दर्विहोम की चोदना है] ॥१९॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२०॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी नारिष्ठहोमों का विध्यन्त दर्विहोमों में प्रवृत्त होवे ।

व्याख्या—लिङ्ग भी इसी अर्थ को दर्शाता है जैसे नारिष्ठहोमपूर्वता दर्विहोमों की है । क्या लिङ्ग होता है ? अग्निहोत्र में सुना जाता है—यदि कीटोऽवपद्येतान्तःपरिधि निनयेत् (=यदि अग्निहोत्र की [दुग्धरूप] हवि में कोई कीट=कीड़ा गिर जाये तो प्रायश्चित्तरूप उस हवि को परिधि के मध्य छोड़े) । तथा अग्नि [चयन] में सुना जाता है—अन्तर्वेदि तिष्ठन् सावित्राणि जुहोति (=वेदि के मध्य खड़े होकर सवितादेवताक होम करता है) । परिधियां और वेदि अङ्ग और प्रधान दोनों कर्मों के लिये होने से नारिष्ठहोमों का अङ्ग हैं । यदि उनके धर्म प्रवृत्त होवें तो यह दर्शन उपपन्न होता है । इसलिये उनकी प्रवृत्ति होती है ॥२०॥

---

१. आप० श्रौत २।२०।६॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—आप० श्रौत ९।१३।८; बौ० श्रौत २०।२३॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तै० ब्रा० ३।७।२।२; आप० श्रौत० ९।२।५॥

४. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अन्तर्वेदि ऊर्ध्वस्तिष्ठन् सावित्राणि जुहोति । सत्या० श्रौत ११।१।७॥

तत्राभावस्य हेतुत्वाद् गुणार्थे स्याददर्शनम् ॥२१॥

यदेतद् गुणार्थे नारिष्ठहोमार्थे दर्शनमुपदिष्टं, नारिष्ठहोमानां प्रवृत्तावित्यर्थः। अदर्शनं तत्, असाधकमित्यर्थः। कुतः? तत्राभावस्य हेतुत्वात्। त्र्यम्बकेषु—अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बका इत्याहुः। नेध्माबर्हिः संनह्यते, न प्रयाजा इज्यन्ते, नानुयाजा इज्यन्ते, न सामिधेनीरन्वाह[1] इति, अप्रतिष्ठितत्वं त्र्यम्बकाणां प्रतिज्ञाय तदुपपादनार्थमिध्मादीनामभावो हेतुत्वेनोपदिश्यते। यदि च नारिष्ठहोमाः प्रवर्तरंस्ततोऽङ्गप्रधानार्थत्वादिध्माबर्हिषोः सामिधेनीनां च त्र्यम्बकेषु भाव एव स्यात्। तत्रायं तदभावोऽसत्त्वाद्धेतुत्वेन न युज्यते। तस्मान्नारिष्ठहोमानामप्रवृत्तिः ॥२१॥

विधिरिति चेत् ॥२२॥ (आ०)

तत्राभावस्य हेतुत्वाद् गुणार्थे स्याददर्शनम् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तत्र) वहां=त्र्यम्बक होमों में (अभावस्य) इध्म बर्हि आदि के अभाव के (हेतुत्वात्) हेतु होने से (गुणार्थे) गुण के लिये=नारिष्ठहोमों के लिये (अदर्शनम्) तुम्हारे द्वारा युक्त दर्शन अदर्शन=असाधक (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जो यह गुण के लिये=नारिष्ठहोम के लिये दर्शन कहा है [अर्थात्] नारिष्ठहोमों की प्रवृत्ति में कहा दर्शन अदर्शन है [अर्थात्] असाधक है। किस हेतु से? वहां अभाव के हेतु होने से। त्र्यम्बक होमों में कहा है—अप्रतिष्ठिता व त्र्यम्बका इत्याहुः। नेध्माबर्हिः सन्नह्यते, न प्रयाजा इज्यन्ते, नानुयाजा इज्यन्ते, न सामिधेनीरन्वाह (=त्र्यम्बक होम अप्रतिष्ठित हैं ऐसा कहते हैं। इध्म और बर्हि का सन्नहन=बांधना नहीं होता है, प्रयाज याग नहीं होते हैं, अनुयाज भी नहीं होते, सामिधेनियों का अन्वाह=उच्चारण भी नहीं होता है) इस प्रकार त्र्यम्बकों के अप्रतिष्ठितत्व की प्रतिज्ञा करके उसके (=अप्रतिष्ठितत्व के) उपपादन के लिये इध्म आदि अभाव को हेतुरूप से कहा जाता है और यदि त्र्यम्बक होमों में नारिष्ठहोम प्रवृत्त होवें तो इध्म बर्हि और सामिधेनियों का त्र्यम्बक होम में भाव (=स्थिति) ही होवे। वहां (=उस अवस्था में) इनका अभाव [अप्रतिष्ठितत्व में] हेतुरूप से युक्त नहीं होता है। इसलिये नारिष्ठहोमों की प्रवृत्ति नहीं होती है ॥२१॥

विधिरिति चेत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—यदि त्र्यम्बक होमों में इध्म बर्हि आदि की (विधिः) प्रतिषेधक विधि (इति चेत्) होवे तो।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तु०—नेध्माबर्हिर्भवति। न सामिधेनीरन्वाह। न प्रयाजा इज्यन्ते नानुयाजाः। तै० ब्रा० १।६।६।५-६॥

इति चेत् पश्यसि, दर्शनमेतदिति। अथ कस्माद् विधिर्न भवति? नारिष्ठहोमप्रकृतित्वात् प्राप्तानामिध्मादीनां प्रतिषेधको विधिः सन्नपूर्वमर्थं विधास्यति। अनुवादोऽप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः स्यात् ॥२२॥

स्थितायां प्रतिज्ञायां सूत्रेण परिचोदयति—

न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ॥२३॥ (आ० नि०)

नायं विधिर्युज्यते। किं कारणम्? अन्योऽत्र विधिराम्नातः—'आदित्यं घृते चरुं निर्वपेत् पुनरेत्य गृहेषु'[1] इति। तस्य वाक्यशेषोऽयम्। कथं ज्ञायते? तेना-

---

व्याख्या—यदि यह समझते हो [कि इध्म बर्हि आदि का अभाव] दर्शन है तो यह किस हेतु से विधि नहीं होती है? नारिष्ठहोमों में प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) से प्राप्त इध्म बर्हि आदि की प्रतिषेध विधि होती हुई अपूर्व (=पूर्वतः अज्ञात) अर्थ का विधान करेगी [अर्थात् त्र्यम्बक होमों में इध्म बर्हि आदि की प्रकृति से प्राप्ति होने पर प्रतिषेधरूप विधि होगी]। अनुवाद विशेष प्रवृत्तिकारक न होने से अनर्थक होवे [अर्थात् त्र्यम्बक होमों में प्रकृतिविध्यन्त न होने से इध्म बर्हि आदि की स्वतः प्राप्ति न होने पर नेध्मार्बर्हिः सन्नह्यते आदि अनुवाद रूप होवें। अनुवाद किसी प्रवृत्ति के हेतु न होने से अनर्थक होते हैं] ॥२२॥

व्याख्या—[प्रतिषेधकरूप विधि है इस] प्रतिज्ञा के स्थित होने पर सूत्र से उत्तर देते हैं—

न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ॥२३॥

सूत्रार्थः—(वाक्यशेषत्वात्) 'अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बकाः' के [आदित्यं घृते चरुं निर्वपेत्] विधि वाक्य के शेषभूत होने से (गुणार्थे) प्रतिषेध रूप गुण के लिये (च) भी (समाधानम्) समाधान (नानात्वात्) नाना वाक्य होने से (न) नहीं उपपन्न होता है। अर्थात् 'नेध्मार्बर्हिः सन्नह्यते' इत्यादि वाक्य प्रतिषेध विधियां मानने पर नाना वाक्य मानने होंगे। उस स्थिति में वाक्यभेद दोष होगा। 'अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बकाः' के 'आदित्यं घृते चरुं निर्वपेत्' का वाक्यशेष होने से उसके मध्य में पठित 'नेध्मार्बर्हिः सन्नह्यते' आदि वाक्य भी अनुवादरूप होने से एकवाक्यता को प्राप्त होंगे। वाक्यभेद दोष नहीं होगा।

व्याख्या—यह (='नेध्मार्बर्हिः सन्नह्यते' आदि) विधि उपपन्न नहीं होती है। क्या कारण है? यहां अन्य विधि आम्नात है—आदित्यं घृते चरुं निर्वपेत् पुनरेत्य गृहेषु (=गृह में अदिति देवतावाले=चरु का निर्वाप करे, वापस घरों में लौटकर)। उस (=विधि वाक्य) का यह (=अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बकाः) वाक्यशेष है। कैसे जाना जाता है? उस

---

१. मै० सं० १।१०।२०॥

ऽऽकाङ्क्षितत्वात् । **अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बका**' इति दोषमनुकीर्त्येदं श्रूयते—**आदित्यं घृते चरुं निर्वपेत्,पुनरेत्य गृहेषु**' इति । **इयं वा अदितिरियं प्रतिष्ठा,यदादित्योऽस्यामेव प्रतितिष्ठति**' इति । तदेतत्तस्य दोषस्य परिहारार्थमिति विज्ञायते । अतस्तेन सहैकवाक्यतां याति । तन्मध्ये च य इध्माद्यभाववचनास्तेऽपि तच्छेषा एव समुच्चारणान्याय्याः । ते यदि विधयः कल्पेरन् पृथग्वाक्यानि भवेयुः । तत्रैकवाक्यरूपं बाध्येत । व्यवहितकल्पना च स्यात् । न चैषां विधायकत्वम् । अनुवादरूपत्वात्' । तस्मान्न विधयः । अथ कोऽत्र विशेषः—यत्समाने लिङ्गत्वेऽन्तःपरिधिदर्शनमसाधकमितरत् साधकमिति ? विशेषमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः ॥२३॥

येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्याद्विरोधात् ॥२४॥ (आ०)

विधिवाक्य से आकाङ्क्षित होने से। अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बकाः इस दोष का कथन करके यह सुना जाता है—आदित्यं घृते चरुं निर्वपेत्, पुनरेत्य गृहेषु इति। इयं वा अदितिरियं प्रतिष्ठा, यदादित्योऽस्यामेव प्रतितिष्ठति (=घृत में अदिति देवतावाले चरु का निर्वाप करे। यह ही अदिति है, यह प्रतिष्ठा है, जो आदित्य इसी में ही प्रतिष्ठित रहता है)। इसलिये यह (=अदितिदेवताक चरु का निर्वाप) इस (=अप्रतिष्ठा) दोष के परिहार के लिये है, ऐसा जाना जाता है। इसलिये उस [विधि वाक्य] के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होता है। और उसके मध्य में जो इध्म आदि के अभाव को कहनेवाले वचन हैं वे भी उसी के शेष ही समुच्चारण (=सहोच्चारण) से न्याय्य हैं। यदि इन्हें [प्रतिषेध] विधियां स्वीकार किया जाये तो पृथक् वाक्य होवें। उस अवस्था में एकवाक्यता बाधित होवे और व्यवहित की कल्पना होवे। इनका विधायकत्व नहीं है अनुवादरूपत्व होने से। इसलिये ये [प्रतिषेध] विधियां नहीं हैं। (आक्षेप) इसमें क्या विशेष है कि समानलिङ्गत्व होने पर अन्तःपरिधिदर्शन असाधक होवे और अन्य साधक ? (समाधान) [दोनों में जो] विशेष (=भेद) है उसका आगे कथन करेंगे ॥२३॥

विवरण—चातुर्मास्य के साकमेध नामक तृतीय पर्व में महापितृयज्ञ के अनन्तर 'त्र्यम्बकेष्टिं चतुष्पथे जुहोति' वचन से चतुष्पथ में त्र्यम्बकेष्टि का दर्विहोम के रूप में विधान किया है। अतः त्र्यम्बकहोम के अनन्तर पुनरेत्य गृहेषु कहकर अदिति देवतावाले घृत में चरु का निर्वाप करे, ऐसा कहा है ॥२३॥

येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्याद्विरोधात् ॥२४॥

---

१. द्र०—अप्रतिष्ठिता अस्य त्र्यम्बका। (मै० सं० १।१०।२०)।

२. मै० सं० १।१०।२०॥

३. 'अनुवादस्वरूपत्वात्' इति पाठान्तरम्।

येषां वा यागानामपरयोरग्न्योर्होमः, तेषां प्रवृत्तिः स्यात्। पत्नीसंयाजानामित्यर्थः। कुतः? अविरोधात्। तत्र विरोधो नास्ति, यो नारिष्ठहोमानां प्रवृत्तावुक्तः। तत्राभावस्य हेतुत्वादिति। तेषां हीध्माबर्हिः सामिधेन्यश्च नैवाङ्गम्। तदभावदर्शनं तत्र न विरुध्यते। प्रवृत्तिधर्माणस्तेऽपि जुहोतिचोदनाश्च। सह पत्न्या जुहोति' इति। तस्मात् तेषां प्रवृत्तिः ॥२४॥

तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन् ॥२५॥ (आ० नि०)

नैतद्युक्तम्। किं कारणम्? यतस्तत्रौषधानि चोद्यन्ते दर्विहोमे। यथा, त्र्यम्बकेषु पुरोडाशः करम्भपात्राणि तण्डुला इत्येवमादीनि। तानि स्थानेन गम्ये-

---

सूत्रार्थः—(येषाम्) जिन यागों का (अपरयोः) अपर अग्नियों=आहवनीय से भिन्न गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि में (होमः) होम होता है (तेषाम्) उन पत्नी संयाज, पिष्टलेप और फलीकरण होमों का गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि सम्बन्ध से इध्म और बर्हि आदि अङ्ग (स्यात्) होवे, (अविरोधात्) विरोध न होने से।

विशेष—पत्नीसंयाज गार्हपत्याग्नि में होते हैं और पिष्टलेप फलीकरण होम दक्षिणाग्नि में। पिष्टलेप और फलीकरण होमों के विषय में अगले २६वें सूत्र की व्याख्या के विवरण में देखें।

व्याख्या—जिन यागों का अपर अग्नियों (=गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि) में होम होवे उनकी प्रवृत्ति होवे अर्थात् पत्नीसंयाजों की। किस हेतु से? विरोध न होने से। उनके विषय में विरोध नहीं है, जो नारिष्ठहोमों की प्रवृत्ति में कहा है। उनमें [इध्मबर्हि आदि के] अभाव के हेतु होने से। उन [नारिष्ठहोमों] के इध्मबर्हि और सामिधेनियां अङ्ग नहीं हैं। इसलिये उनका अभावदर्शन उनमें विरुद्ध नहीं होता। वे पत्नीसंयाज और पिष्टलेप फलीकरण होम भी प्रवृत्ति धर्मवाले हैं और 'जुहोति' चोदनावाले हैं। सह पत्न्या जुहोति (=पत्नी के साथ होम करता है)। इसलिये उनके प्रति [इध्म आदि की अङ्गरूप से] प्रवृत्ति होवे ॥२४॥

विवरण—पत्नीसंयाज गार्हपत्याग्नि में होते हैं। दक्षिणाग्नि में पिष्टलेप और फलीकरण होम होते हैं ॥२४॥

तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(तत्र) दर्विहोम में (औषधानि) औषधियां (चोद्यन्ते) कही जाती हैं (तानि) वे (स्थानेन) आज्य के स्थान से (गम्येरन्) जानी जावें।

व्याख्या—यह युक्त नहीं है। क्या कारण है? यतः वहां औषधियां कही गई हैं दर्विहोम में। जैसे त्र्यम्बकहोम में पुरोडाश करम्भपात्र तण्डुल इत्यादि। वे स्थान से जाने जायें।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्त्रीपुंसौ जुहुतः (मै० सं० ३।६।६)।

रन्। आज्यस्थानापत्त्याऽऽज्यधर्माः प्राप्येरन्। ते न शक्यास्तत्रानुष्ठातुम्। अनुष्ठीयमाना वाऽप्राकृतकार्याः स्युः। तत्र चोदको बाध्येत। तस्मान्न तेषां प्रवृत्तौ किंचित् प्रयोजनमस्ति। याज्यानुवाक्ये अपि मन्त्रान्तरेण निवर्त्येते, वषट्कारः स्वाहाकारेण ॥२५॥

लिङ्गाद् वा शेषहोमयोः ॥२६॥ (आ०)

पिष्टलेपफलीकरणहोमयोर्वा प्रवृत्तिः स्यात्। कुतः? लिङ्गात्। औषधसामान्यात्। यश्च पत्नीसंयाजानां प्रवृत्तौ दोष उक्तो धर्माणामानर्थक्यं, तदत्र नास्ति। तत्रौषधधर्मा निर्वपणादयः शक्याः कर्तुम्। तस्मात्तयोः प्रवृत्तिरिति ॥२६॥

आज्य स्थान पर होने से आज्यधर्म प्रवृत्त होवें। वे [आज्यधर्म] वहां (=औषधियों में) अनुष्ठान नहीं किये जा सकते। अथवा अनुष्ठीयमान [आज्यधर्म] प्रकृत कार्यवाले न होवें। उस अवस्था में [औषधियों का] चोदक वचन बाधित होवे। इसलिये उनके (=इध्मबर्हि आदि के) प्रवृत्ति में कोई प्रयोजन नहीं है। याज्या और अनुवाक्या भी मन्त्रान्तर (=साक्षात् निर्दिष्ट मन्त्र से) निवर्तित होती हैं, वषट्कार स्वाहाकार से निवृत्त होता है ॥२५॥

विवरण—करम्भपात्राणि शमीपत्र मिश्रित करीर (=केर) करम्भ कहाते हैं। उनके धारण के लिये पिसे हुए यव के पात्र करम्भ पात्र कहाते हैं (द्र०—आप० श्रौत ८।५।३७ रुद्रदत्त)। करम्भो दध्नासंयुक्ताः सक्तवः, तन्मयानि पात्राणि (द्र०—कात्या० श्रौत ५।३।२ व्याख्या) ॥२५॥

लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ॥२६॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (लिङ्गात्) औषध सामान्य लिङ्ग से (शेषहोमयोः) शेष=अवशिष्ट पिष्टलेप फलीकरण के होमों की प्रवृत्ति होवे।

व्याख्या—पिष्टलेप फलीकरण के होमों में [प्रकृति विध्यन्त की] प्रवृत्ति होवे। किस हेतु से? लिङ्ग से। औषध सामान्य होने से। और जो पत्नीसंयाजों के प्रवृत्ति में धर्मानर्थक्य दोष कहा है वह यहां नहीं है। वहां (=जहां दर्विहोम में औषध का विध्यन्त है) औषधधर्म निर्वापादि किये जा सकते हैं। इसलिये उनमें [प्रकृति विध्यन्त की] प्रवृत्ति होवे ॥२६॥

विवरण—पिष्टलेपफलीकरणहोमयोः—पुरोडाश बनाने के लिये चावल शिला पर पीसे जाते हैं। इन पिसे चावलों का कुछ भाग शिला और लोढ़ी में लगा रह जाता है। इसी पिष्टलेप को दक्षिणाग्नि में होम किया जाता है। होम के मन्त्र में उलूखल मूसल शूर्प दृषद् कपाल आदि पदार्थों में संलग्न भागों का निर्देश है (कात्या० श्रौत ३।८।१; आप० श्रौत ३।१०।१)। फलीकरण—व्रीहि का ऊखल मूसल से कूटने पर शूर्प के द्वारा तुषों को पृथक् किया

प्रतिपत्ती तु ते भवतस्तस्मादतद्विकारत्वम् ॥२७॥ (आ० नि०)

न त्वेतदेवम् । कुतः ? यतः प्रतिपत्तिकर्मणी एतौ होमौ । दर्विहोमाश्च प्रधानकर्माणि । तेषां दूरतो भेदः । सामान्यतश्च[1] धर्मप्राप्तिरिष्यते । यच्चोक्तम्—औषधधर्माः शक्यास्तत्र कर्तुमिति । प्रतिपत्तित्वादप्रयोजकावेव निर्वपणादीनां धर्माणाम् । अतस्तत्प्रकृतित्वं तेनैव न्यायेन नोपपन्नम् । नापि प्रयोजनवत् । तस्मादेतदप्ययुक्तम् । एवं न कुतश्चिदपि दर्विहोमानां धर्मप्राप्तिर्युज्यते । तस्मादपूर्वः ॥२७॥

जाता है वह फलीकरण कहाता है । यह क्रिया तीन बार की जाती है । इन तुषों का दक्षिणाग्नि में होम फलीकरणहोम कहाता है । आप० श्रौत ३।६।१२—'दक्षिणाग्ना इध्मप्रवचनान्यभ्याधाय पिष्टलेपफलीकरणहोमौ जुहोति' । कात्यायन श्रौत में फलीकरणहोम का निर्देश नहीं है । उसमें फलीकरण किये गये तुषों को उत्कर स्थान में प्रक्षेप का विधान है (२।४।१६) ॥२६॥

प्रतिपत्ती तु ते भवतस्तस्माद् अतद्विकारत्वम् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (ते) पिष्टलेप और फलीकरणहोम (प्रतिपत्ती) प्रतिपत्ति कर्म (भवतः) हैं (अतः) इसलिये (अतद्विकारत्वम्) तद्विकारत्व नहीं है ।

व्याख्या—यह इस प्रकार (=जैसा ऊपर कहा है) नहीं है । किस हेतु से ? जिस कारण ये होम प्रतिपत्ति कर्मरूप हैं । दर्विहोम प्रधान कर्म हैं । अतः इन (=प्रतिपत्ति कर्म और प्रधान कर्मों) का दूरतः भेद है अर्थात् अत्यन्त भेद है । सामान्यतः (=सादृश्यत्व से) धर्मप्राप्ति इष्ट होती है । और जो कहा—औषध धर्म वहां किये जा सकते हैं । प्रतिपत्ति कर्म होने से निर्वापण आदि धर्मों के अप्रयोजक ही हैं (=प्रयोजक=प्रेरक नहीं हैं) । अतः उनका प्रकृतित्व उसी न्याय से उपपन्न नहीं होता । और वे प्रयोजनवाले भी नहीं हैं । इसलिये यह भी अयुक्त है । इस प्रकार कहीं से भी दर्विहोमों की धर्म प्राप्ति युक्त नहीं है । इससे ये अपूर्व हैं ॥२७॥

विवरण—प्रतिपत्तिकर्मणी—कस्यचिद् वस्तुनो जाते कार्ये विधिप्राप्तविनियोगकरणं प्रतिपत्तिकर्म (श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृष्ठ १६) । किसी वस्तु के कार्य सम्पन्न होने पर अवशिष्ट वस्तु का अन्यत्र प्रक्षेप प्रतिपत्ति कर्म कहाता है । तस्मादपूर्वः–दर्विहोम की प्रकृति तथा अपूर्वता के विषय में जो मतभेद है, वह निम्न श्लोक में इस प्रकार मिलता है—

आज्यभागौ प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः ।
अग्निहोत्रं तथाऽऽत्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम् ॥ बौधायन गृह्यसूत्र १।४।४४॥

अर्थात् बादरि आचार्य दर्विहोम की प्रकृति आज्य भाग को मानते हैं, आत्रेय अग्निहोत्र

---

१. सामान्यतश्चेति—तादृश्येन चेत्यर्थः ।

अथ कस्मादुभयपक्षसाधनानामपि लिङ्गानां भावेऽप्रवृत्तिरेव प्रतीयते, न पुनः प्रवृत्तिरिति ? उच्यते—

सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्तिव्यवस्थानादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ॥२८॥

सन्निपाते विरोधिनामेतेषां लिङ्गानां,[1] प्रवृत्तिः प्रत्येतुं न न्याय्या। कुतः ? विध्युत्पत्तिव्यवस्थानात्। विधीनामुत्पत्तिः पाठः। स च व्यवस्थितः केचिद् दर्शपूर्णमासयोः पठ्यन्ते, केचित् सोमे। तेषामर्थस्यापरिणेयत्वम्। यत्र पठितास्ततोऽन्यत्र परिणीयमाने प्रकरणं बाध्यते। तस्मादप्रवृत्तिः प्रतीयेत।

तत्राऽऽह—किमेष एवोत्सर्गः सर्वत्राप्राप्तिरिति। एवं खलु प्राप्ते, उच्यते—

को दर्विहोम की प्रकृति कहते हैं और काशकृत्स्न आचार्य दर्विहोम की अपूर्वता स्वीकार करते हैं। विशेष द्रष्टव्य 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' पृष्ठ १२७ (संस्कृत) ॥२७॥

व्याख्या – उभयपक्ष के साधन लिङ्गों के होने पर भी किस कारण अप्रवृत्ति ही जानी जाती है, प्रवृत्ति नहीं जानी जाती है ? इस विषय में कहते हैं—

सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्तिव्यवस्थानाद् अर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ॥२८॥

सूत्रार्थः (विरोधिनाम्) विरोधी लिङ्गों के (सन्निपाते) एक साथ उपस्थित होने पर (विध्युत्पत्तिव्यवस्थानात्) विधियों का उत्पत्ति पाठ के व्यवस्थित होने से उनके (अर्थस्य) अर्थ के (अपरिणेयत्वात्) दूसरे स्थान पर न ले जाये जा सकने के कारण (अप्रवृत्तिः) प्रवृत्ति का अभाव (प्रतीयेत) जाना जाये। (वचनात्) वचन सामर्थ्य से कहीं कहीं (अतिदेशः) प्रवृत्ति का अतिदेश होता है।

व्याख्या—इन विरोधी लिङ्ग के सन्निपात में प्रवृत्ति जानना न्याय्य नहीं है। किस हेतु से ? विधियों की उत्पत्ति व्यवस्था होने से। विधियों का उत्पत्ति पाठ, और वह व्यवस्थित है। कुछ दर्शपूर्णमास में पढ़े जाते हैं, कुछ सोम में। उनके अर्थ का परिणेयत्व (= अन्यत्र नयन) नहीं होता है। जहां पठित हैं वहां से अन्यत्र ले जाने पर प्रकरण बाधित होवे। इस कारण प्रवृत्ति नहीं जानी जाती है।

(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं—क्या सर्वत्र अप्राप्ति यही उत्सर्ग (=सामान्य) है ? (समाधान) निश्चय से ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—वचन से अतिदेश होवे। जैसे—

---

१. लिङ्गानामप्रवृत्तिः प्रत्येतुं न न्याय्येति पाठान्तरं दृश्यते। तत्र च—लिङ्गानामप्रवृत्तिः प्रत्येतुं न्याय्या, इति पाठः साधीयान्।

वचनादतिदेशः स्यात् । यथा, राष्ट्रभृतामुद्वाहकर्मसु। अ त्येवंविधे वचनेऽपूर्वा इति । अथ ये लिङ्गे अपदिष्टे, यदि कीटोऽवपद्येत, अन्तःपरिधि निनयेत्', अन्तर्वेदि तिष्ठन् सावित्राणि जुहोति' इति । तयोः कः समाधिः? उच्यते । अन्याय-पूर्वत्वाल्लक्षणया वादः स विज्ञायते–अन्तःपरिधिदेशे, अन्तर्वेदिदेशे, इति । परिधीनां वेदेश्च तत्राभावात् । यथा, रजनी मे कण्डूयति, तिलको मे स्पन्दत इति । रागा-भावे तिलकाभावे च तद्देशलक्षणया भवन्ति वक्तार इति ॥२८॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्येऽष्टमस्याध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥

समाप्तश्चाष्टमोऽध्यायः ॥

उद्वाह (=विवाह) कर्म में राष्ट्रभृत् होमों का [अतिदेश होता है] । इस प्रकार के वचन न होने पर [दर्विहोम] अपूर्व होते हैं । (आक्षेप) और जो लिङ्ग कहे हैं—यदि कीटोऽवपद्येत अन्तःपरिधि निनयेत्, अन्तर्वेदि तिष्ठन् सावित्राणि जुहोति । इनका क्या समाधान है । (समाधान) अन्यायपूर्वक होने से (=न्यायपूर्वक परिधि आदि की प्राप्ति न होने से) लक्षणा से यह कथन जाना जाता है—परिधिदेश के मध्य में, वेदिदेश के मध्य में । परिधियों और वेदि के उन कर्म में अभाव होने से । जैसे—रजनी मेरे खुजलाती है, तिलक मेरा फड़कता है । राग के अभाव में और तिलक के अभाव में उस देश की लक्षणा से (उक्त प्रकार) वक्ता होते हैं॥२८॥

इति अजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा)-
भिजनेन सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः श्री सूर्यरामस्य प्रपौत्रेण
श्री रघुनाथस्य पौत्रेण श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुदभाजाम्
श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्य-शास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन

विरचितायां

मीमांसा-शाबरभाष्यस्य वैदिकतत्त्व-प्रकाशिन्यां 'यशोदा'ख्यायां हिन्दी-व्याख्यायां

अष्टमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

२०४७ वैक्रमाब्दे मार्गशीर्षे शुक्लपक्षे एकादशम्यां
बुद्धवासरे (नवम्बरमासस्याऽष्टाविंशतितारिकायां) १९९० खैस्ताब्दे
अष्टमाध्यायस्य शाबरभाष्य-व्याख्या पूर्तिमगात् ॥

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २२९९, टि० ३ । २. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २२९९ टि० ४ ।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य**(संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रति भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ४०-००, द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-०० ।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्तजिज्ञासुकृत विवरण। प्रथम भाग ११०-००, द्वितीय भाग ५०-०० ।

३ **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्रसूचीसहिता। ५०-००

४. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः**—५०वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द। १००-००

५. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत। ६ काण्ड ४०-००, ७-८ काण्ड ४०-००, ९-१० काण्ड ४०-००, ११-१३ काण्ड ३५-००, १४-१७ काण्ड ३०-००, १८-१९काण्ड २५-००, बीसवां काण्ड २५-०० ।

६. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। साधारण जिल्द ३०-००, पूरे कपड़े की ३५-०० ।

७. **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर। ४०-००

८. **माध्यन्दिन(यजुर्वेद)पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। ४०-००

९. **गोपथ-ब्राह्मण** (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। ५०-००

१०. **वैदिक-सिद्धांत-मीमांसा**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। यन्त्रस्थ

११. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी**—(ऋग्वेदीया)—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृतटीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। १००-००

१२. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कटमाधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार श्री डा० विजय-

पाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३५-००, साधारण २५-००।

१३ वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। बढ़िया जिल्द ५०-००।

१४. ऋग्वेद की ऋक्संख्या - युधिष्ठिर मीमांसक। ५-००

१५. वेद-श्रुति-आम्नाय सञ्ज्ञा-मीमांसा संस्कृत-हिन्दी)—यु० मी० २-५०

१६. वंदिक-छन्दोमीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१७. वैदिक-स्वर-मीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण ३०-००

१८. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन-प्रकार—यु० मी०। ६-००

१९. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय, वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी)—यु० मी०। ८-००

२०. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२१. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२२. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२३. त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० धर्मदेवजी निरुक्ताचार्य। २-५०

२४. वैदिक-जीवन—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याययोग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२५. वैदिक-गृहस्थाश्रम—श्री पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द २६-००, सजिल्द ३०-००।

२६. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—ले०—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण जिल्द २०-००।

२७. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा—लेखक—पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय। ४५-००

२८. ऋग्वेद-परिचय—श्री पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड। ऋग्वेद का परिचयात्मक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२९. वैदिक-पीयूष-धारा—लेखक—श्री देवेन्द्र कुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००, साधारण १०-००।

३०. क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है? – लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। १२-००

३१. उरु-ज्योति—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याययोग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द। १८-००

३२. वेदों की प्रामाणिकता—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

३३. Anthology of Vedic Hymns – स्वा० भूमानन्द सरस्वती ६०-००

३४. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायणकृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ४०-००

३५. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(आधान-प्रकरण)—सुबोधिनी वृत्ति सहित (संस्कृत)। ४०-००

३६. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। २५-००

३७. कात्यायन-गृह्यसूत्रम् (मूलमात्र)—अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम वार छापा है। २५-००

३८. श्रौतयज्ञमीमांसा (संस्कृत और हिन्दी)—श्रौतयज्ञों की कल्पना का आधार, उनका विकास, परिवर्तन, पशुयज्ञ आदि अनेक विषयों की सप्रमाण मीमांसा। ३०-००

३९. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम् (संस्कृत)—अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

४०. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र २०-००, राजसंस्करण २५-००, सस्ता सस्करण ६-००, अच्छा कागज सजिल्द १२-००।

४१. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

४२. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) १२-००

४३. संस्कार-विधि-मण्डनम्—सस्कारविधि की व्याख्या। लेखक— वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

४४. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों को पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। यु० मी०। ६-००, सजिल्द ८-००।

४५. वैदिक-नित्यकर्म-विधि (मूलमात्र)—सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचन आदि विधि-बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। १-५०

४६. पञ्चमहायज्ञ-विधि—ऋषिदयानन्द कृत। ३-००

४७. पञ्चमहायज्ञप्रदीप—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर। ५-००

४८. हवनमन्त्र—स्वस्तिवाचनादि सहित। ०-६०

४९. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। ०-७५

५०. शिक्षासूत्राणि—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र। ७-००

५१. शिक्षा-शास्त्रम् (संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १०-००

५२. शिक्षा-महाभाष्यम् (संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १२-००, सजिल्द १५-००

५३. वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्— ,, ,, ,, । २५-००, सजिल्द ३०-००

५४. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एकमात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घातरूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत)। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १२५-००

५५. निरुक्त-समुच्चय—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। २०-००

५६. अष्टाध्यायीसूत्रपाठ (मूल)—शुद्ध संस्करण। ६-००

५७. अष्टाध्यायी भाष्य (संस्कृत तथा हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ५०-००, भाग—II ३२-००, भाग—III ३८-००।

५८. धातुपाठ—धात्वादिसूची सहित, शुद्ध संस्करण। ५-००

५९. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामी कृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ६०-००

६०. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ४०-००

६१. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्। १०-००

६२. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतमविधि—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। पहला भाग १५-००। दूसरा भाग—युधिष्ठिर मीमांसक २५-००।

६३. The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री प० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत 'विना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये

यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर। सजिल्द २५-००

६४. **महाभाष्य (हिन्दी व्याख्या)**–(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० भाग —I ६०-००, भाग—II ५०-००, भाग—III ३०-००।

६५. **उणादिकोष**—ऋषिदयानन्द कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द १५-००, सजिल्द २०-००।

६६. **दशपाद्युणादि-वृत्ति-संग्रहः**—(प्रथम भाग में अतिप्राचीन वृत्ति विस्तृत उपोद्घात एवं सूत्रसूची शब्दसूची आदि के सहित)। ५०-००

द्वितीय भाग – (तीन प्राचीन वृत्तियां)। सं०–चन्द्रदत्तशर्मा। ४०-००

६७. **दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्**—लीलाशुकमुनि कृत। १२-००

६८. **भागवृत्तिसंकलनम्** – अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ८-००

६९. **काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्** – संस्कृत रूपान्तर। यु० मी० २०-००

७०. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्** —सम्पादक—यु० मी०। १०-००

७१. **शब्दरूपावली**—विना रटे शब्दरूपों का ज्ञान करानेवाली। ३-५०

७२. **गणरत्नावली**—यज्ञेश्वरभट्ट कृत। सं०—चन्द्रदत्तशर्मा। ६५-००

७३. **संस्कृत-धातु-कोष**—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थनिर्देश। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। १५-००

७४. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**-डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित। ५०-००

७५. **सूर्य-सिद्धान्त** – हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायणसिंह। इसके आरम्भ में १४६ पृष्ठ की अति विस्तृत एवं विविध विषय परिपूर्ण महत्त्वपूर्ण भूमिका छपी है। ५०-००

७६. **पिंगलनाग-छन्दोविचितिभाष्यम्**—यादवप्रकाशकृत। यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रथम बार मुद्रित हुआ है। ४०-००

७७. **ईश केन-कठ-उपनिषद्**—श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या सहित। ईशो० २-००, केनो० २-००, कठो० ४-००।

पुस्तक-प्राप्ति स्थान—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा) १३१०२१

रामलाल एण्ड संस, २५९६ नई सड़क, दिल्ली।